संकाय पत्रिका

श्रमणविद्या

रजत जयन्ती विशेषांक

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी

SAṄKĀYA PATRIKĀ

ŚRAMAṆAVIDYĀ

[Vol. 1]

Board of Editors

Prof. Jagannath Upadhyay, Śhri Ram Sankar Tripathi
Dr. Brahmadev Narayan Sharma, Dr. Phool Chandra Jain
Sri Buddhi Vallabh Pathak

Edited by
Dr. GOKUL CHANDRA JAIN

Supervisor : Dr. Bhāgiratha Prasāda Tripāthī 'Vāgīśa Śāstrī
Director, Research Institute

Publication Officer : Dr. Hariś Chandra Mani Tripāthī

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA, VARANASI
1983

Published by

Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi-221002

Available at

Sales Department
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi-221002

First Edition : 1000 capies
Price : Rs. 32.00

Printed at

Tara Printing Work:
Varanasi

संकाय पत्रिका

श्रमणविद्या

[भाग १]

सम्पादक मण्डल

प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय, श्री रामशङ्कर त्रिपाठी

डॉ. ब्रह्मदेवनारायण शर्मा, डॉ. फूलचन्द्र जैन

श्री बुद्धिवल्लभ पाठक

सम्पादक

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

पर्यवेक्षक : डॉ. भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
निदेशक, अनुसन्धान संस्थान

प्रकाशनाधिकारी : डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९८३

प्रकाशक :

निदेशक,
अनुसन्धान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००२

प्राप्तिस्थान :

विक्रयविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००२

प्रथम संस्करण : १००० प्रतियाँ

मूल्य : ३२.००

मुद्रक :

तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
वाराणसी

शुभाशंसा

संकाय पत्रिका का प्रकाशन विश्वविद्यालय का एक और नया उपक्रम है। रजत जयन्ती वर्ष में इसका प्रकाशन आरम्भ हो रहा है। यह विशेष प्रसन्नता का विषय है।

यह विश्वविद्यालय प्राच्य विद्या का एक ऐतिहासिक विद्यातीर्थ है। इसकी स्थापना के दो सौ वर्ष पूरे होने वाले हैं। विश्वविद्यालय के रूप में इसके विकसित होने का यह रजत जयन्ती वर्ष है। ऐसे अवसर पर संकाय पत्रिका का प्रवेशांक विद्वज्जगत् के लिए एक प्रशस्त उपहार है।

रजत जयन्ती वर्ष में विश्वविद्यालय में अनेक विशिष्ट आयोजन हुए। उनमें विश्वविद्यालय परिवार का मैंने अद्भुत पारस्परिक सहयोग देखा। इसी वर्ष में श्रमणविद्या संकाय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से एक संगोष्ठी का आयोजन हुआ। इसमें देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने भाग लिया। मैं स्वयं अनेक सत्रों में उपस्थित रहा। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ और संतोष भी हुआ कि विश्वविद्यालय के विद्वानों के साथ-साथ विद्यार्थियों ने भी संगोष्ठी में उच्च स्तर के निबन्ध प्रस्तुत किये। परिसंवाद में भी उन्होंने भाग लिया। संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी जिस भाषा में निबन्ध पढ़े गये, उसी भाषा में परिसंवाद हुआ। जापान के विद्वानों का एक पूरा दल इसमें

सम्मिलित हुआ। इसमें मेरे पुराने मित्र बन्धु भी थे। इस प्रकार के आयोजन विश्वविद्यालय के लिए गौरव की बात हैं। मैंने अपने वक्तव्य में इन बातों का उल्लेख भी किया था। यह भी कहा था कि आयोजक विद्वान् इसे अखिल भारतीय संगोष्ठी कहते हैं, मैं तो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि यह "अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी" है। विश्वविद्यालय में इस प्रकार की संगोष्ठी श्रृंखलाबद्ध आयोजित होती हैं। उनमें पठित महत्त्वपूर्ण शोध निबन्धों को और उन पर हुए परिसंवाद को विश्वविद्यालय "परिसंवाद" माला के रूप में प्रकाशित कर रहा है। "संकाय पत्रिका" इस दिशा में एक और अगला चरण है। इसमें विश्वविद्यालय द्वारा विगत २५ वर्षों से हो रहे और आगे होने वाले विशिष्ट अनुसंधान कार्यों की उपलब्धियों का प्रकाशन किया जायेगा।

संकाय पत्रिका के इस अंक में संस्कृत, पालि और प्राकृत के छह लघु ग्रन्थ प्रथम बार भारत की देवनागरी लिपि में प्रस्तुत किये गये हैं। हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में तीन शोध निबन्धों और एक विश्वविद्यालयीय अनुसंधान कार्यों का सर्वेक्षण भी सम्मिलित किया गया है। उत्तर में हिमालय के नेपाल तथा तिब्बत से लेकर दक्षिण में श्रीलंका तक इसका व्यापक क्षेत्र है। यूरोप में हुए अनुसंधान और प्रकाशन कार्यों का इसमें उपयोग किया गया है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में हो रहे अनुसंधान कार्यों की जानकारी इसमें दी गयी है। इससे स्पष्ट है कि अनुसंधान के क्षेत्र में भाषाओं और लिपियों की विविधता अध्ययनशील विद्वान् और विद्यार्थी के लिए समस्या नहीं है। देश और काल की सीमा से ऊपर उठकर वह व्यापक क्षेत्र में मुक्त भाव से कार्य करता है। भारतीय मनीषा का यही उद्घोष "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" में किया गया है।

भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है। अनुसंधान के क्षेत्र में इस प्रकार का उदार और व्यापक दृष्टिकोण अनवरत स्मरणीय है। भारतीय मनीषियों की इसी व्यापक और उदार दृष्टि के फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं की अक्षय निधि प्राच्य विद्याओं के रूप में हमें प्राप्त है। यूरोप के

विद्वानों ने हमारी इस ज्ञान सम्पदा को देखा तो वे आश्चर्य चकित रह गये। अनेक विद्वान् इसके अध्ययन और अनुसंधान में प्रवृत हुए। लगभग दो शताब्दियों से यह कार्य निरन्तर चलता आ रहा है। बहुत सी सामग्री प्रकाश में आयी है। उसका भी उपयोग हमारे यहाँ होना चाहिए। देश-विदेश के अनेक प्राच्यविदों से मेरा व्यक्तिगत सम्पर्क रहा है। भारतीय संस्कृति और विद्याओं के प्रति उनकी निष्ठा और व्यापक दृष्टिकोण को मैंने देखा है। हमारे लिए यह स्पृहणीय है। भारतीय विद्वानों का दायित्व उनसे अधिक है। मुझे प्रसन्नता है कि इस विश्वविद्यालय के विद्वानों में इस प्रकार की जागरूकता है।

यह विशेष हर्ष का विषय है कि संकाय पत्रिका के इस अंक की अधिकांश सामग्री विश्वविद्यालय के श्रमणविद्या संकाय के विद्वानों ने स्वयं परिश्रम पूर्वक तैयार की है। इसका सम्पादन भी पूर्ण निष्ठा के साथ सावधानी पूर्वक किया गया है। अनुसन्धान के क्षेत्र में विद्वानों का यह सामूहिक प्रयत्न प्रशंसनीय माना जायेगा। विश्वविद्यालय के लिए यह एक गौरव की बात है। अन्य विश्वविद्यालयों के विद्वानों का सहयोग भी इस अंक में लिया गया है। यह पत्रिका के क्षेत्र को और अधिक व्यापकता प्रदान करेगा।

मैं विद्वानों के इस अध्यवसाय की सराहना करता हूँ। मुझे आशा है कि विद्वज्जगत् में विश्वविद्यालय के इस नये उपहार का स्वागत होगा।

श्री गौरीनाथ शास्त्री

कुलपति

EDITORIAL

The Saṅkāya-Patrikā, the Faculty Journal Vol. 1. is appearing in the silver jubilee year of the University. It is a further step in the persuit of advance research.

Publication of the Faculty Journal is not an accidental happening. It is an humble attempt to present an overall reflection of the extensive and intensive research programmes, the Faculty members have been shouldering since the inception of the University. Instituted as a Sanskrit Pāṭhaśālā in 1791 A. D., this centre of traditional learning, was developed as an University in 1958 A. D. under University Act. Along with normal responsibilities, some research programmes were undertaken by the university teachers, to wit, 1) survey of manuscripts and Himalayan Culture, 2) restoration and editing of Sanskrit, Pali, Prākrit and Apabhraṃśa Texts, 3) concordence of Pali Tripiṭaka and 4) to develop inter-university co-operation.

It will not be out of place to say a few words about the research programmes and the results achieved. Each project was undertaken on inter-Departmental basis. Co-operation of scholars from other universities and academies was sought. Every step was an experiment resulting in inspiration. The areas, the programmes covered were from the peaks of Himalayas—Nepal, Tibet and border areas of the Indian Territory in the North—to Ceylon on the sea coast in South. Relations with scholars working in the related fields of learning in the Universities of India, South-East Asia and Europe, were considered essential for exchange of ideas and to keep in touch with the latest development in advanced learning.

The projects progressed slowly and quietly, but steadily. The results proved not only fruitful and inspiring, but sometimes beyond expectations. Many new manuscripts from Nepal, Tibet, Ceylon and Indian collections have been discovered. Some of them have been edited and published by the University. Besides other publication series, some new ones were introduced, *viz.* 1) Pali-Granthamālā, 2) Bhoṭacainikā-Granthamālā, 3) Prākrit-Jaina-vidyā Granthamālā, 4) Parisaṃvāda-mālā and the present, 5) Saṅkāya-Patrikā, Concordence of Pali Tripiṭaka has been prepared, and first volume comprising 952 pages has been published. The *Abhidhamm-*

atthasamgaho in two parts, *Visuddhimaggo* in three parts, *Vimśatikā-Vijñaptimātratāsiddhih, Prākṛta-prākāśa of* Vararuci, *Parmāgama-sāro* of Srutamuni and *Taccaviyāro* of Vasunandi have been published. Six Pali and Sanskrit Buddhist works are under print.

A close tie with border areas gradually developed. Institutions of traditional learning have been established which are affiliated with or recognised by this University. Mention may be made to the following :

1. Kendriya Bauddha-Vidyā Sansthāna, Leh, Laddakh (J & K).
2. Bauddha Darśana Sanskrit Mahāvidyālaya, Kelang, Lahul-Sphiti (Himachal Pradesh),
3. Shri Ratnabhadra Śikshā Sansthāna, Chango-Chubing, Kinnur (Himachal Pradesh),
4. Viśeṣa Kendriya Vidyālaya, Janakpuri, New Delhi,
5. Central Tibetian Institute of Higher Studies, Sarnath, Varanasi (Uttar Pradesh).

The Sarnath Institute is developing speedily. Students from border areas and neighbouring countries are coming up to this University for higher education. Research scholars and students from South-East Asian countries and some from Europe started coming up. Constant Inter-Institution relations by organising regular Seminars, Symposia, Conferences etc. at the University, and through participation in the same in other Institutions resulted in complimenting and shortening the limitations, widening the scope and outlook, and keeping in close touch with latest development in the related areas of research. The achievements are appearing gradually in Parisaṃvāda series.

It was in the fitness of the academic development of the University that the Academic Council approved unanimously the proposal for publishing the Faculty Journal 'Saṅkāya-Patrikā'. The present volume consists of six ancient texts—three Pali, one Prakrit and two Sanskrit, brought to light in Devanāgarī characters for the first time, two research papers—one in Hindi, another in English, one small monograph in Hindi and one survey report including bibliography relating to researches in Prakrit and Jainology. The entire material is the outcome of the research programmes mentioned above, or directly or indirectly related to it, and maximum of it is prepared by the Faculty members. Three contributions are the outcome of Inter-University relations.

The texts, presented here, are one way or the other restoration in Devanāgarī. The manuscripts utilised cover six different scripts Bhoṭa, Bhuñjimola, Newārī, Sinhali, Roman and Devanāgarī. The area explored is from Himalayan region to Srilanka. For Roman, the works published in Europe have been utilised. The survey covers central and states universities of India including Academies of Letters for Advanced Studies.

The research paper appearing in the beginning in Hindi, is by Prof. Jagannath Upadhyaya. He has drawn the attention of earnest researchers on some new areas of researches in Ahiṁsā. He has suggested experimental approach of research, which seems a novel idea in the field of humanities and some social sciences. The writer says with determination that the 'Theory of *Ahiṁsā*' is an experiment gradually evaluating. It is neither a religious postulate nor a philosophical speculation. Primarily the experiments on *Ahiṁsā* were centred on individuals, which resulted in the practice of *Yoga*. At the second stage *Ahiṁsā* was very succesfully tested on Society. The Socio-cultural awakening in the sixth century B. C. demonstrated the results of experiments. At the third stage the experiments were made at a more difficult juncture, where at every step possibilities of failure were unusual. The confidence and enthusiasm demonstrated by Gandhi, the Mahātmā, in the adventurous experiments in the present century, brought the theory to a large lab where a team as big as a Nation can perform the experiments. These experiments were direct confrontation of *Ahiṁsā* with *Hiṁsā* or violence. The results are evident. But this is not the end of experiments on *Ahiṁsā*. Continued experiments on every sphere of humanity and culture as a whole should be performed, Gandhi said repeatedly, Prof. Upadhyaya concludes. He does not throw the ball in the air, but refers to abundant source material, which can be successfully utilised for research. Is there such zealous academician to enter into such adventrous experimental research ?

The paper appearing in the end and entitled 'Negative Particals in the *anuṣṭubh* feet of the Buddhavaṃsa—a study on their applications' by Devaprasad Guha, is a structural study, perhaps the first of its kind. The entire Pali text *Buddhavaṃsa* has been explored for the study, and the statistical data have been drawn in 15 tables. The learned scholar does not leave the details furnished for nothingness, but thoroughly analyses them for conclusion. Such a study from the pen of an earnest and experienced scholar like Prof. Guha stands as an inspiration to others working in the field.

This article has drawn my attention to another point of religio-philosophical importance, now better to say of socio-cultural importance. Buddhist and Jaina ethics begins with *veramaṇī*. Negative partical is an abbreviation of the word *veramaṇī*. Sk. *virati* and *vrata* its later form, occupy significant position in all the religious codes in India. Should not be there some analytical studies to locate the inner current whether the religio-philosophical concepts are based on negation, or that the positive pastulates give rise to negative ones ?

The monograph on 'Jaina Śramaṇa' by Dr. Phool Chandra Jain is a concise exposition of the external code prescribed for a Jaina śramaṇa. His spiritual development reflects in his external activity. Whatsoever it may be, spiritual development rather governs the external activities of a *śramaṇa*. The same have been codified in *Śramaṇācāra*. A *śramaṇa*, well progressing in spiritual development, becomes in a position to govern even the activities of his senses, mind and body as a whole. He may not allow his external eyes to see let they may remain open, the ears to hear, the nose to smell and so on. He can remain without food and water as long as he so desires. He can remain without sleep. Even his body remains unaffected by weather and environment. In the coldest day, his body needs no clothing, in hottest and in rains no shelter. It is what the Mahāśramaṇa Vardhamāna Mahāvīra experimented for more than thirty years in his life and propounded his successful results of experiments for the welfare of humanity. It is what *Ācārāṅga*, the first sacred book of the Jaina tradition records. Dr. Jain has drawn the sources from *Ardhamāgadhī* and *Śauraseni* Jainā-gamas and also from other Prakrit and Sanskrit works. A detailed monograph on the subject in continuation to the 'History of Jaina Monachism' by S.B. Deo (Deccan College Dissertation series 17) is an urgent need to meet the immediate demand for comparative study of Indian monachism.

A close look in the paper on '*Ahiṃsā*' and the monograph on 'Jaina śramaṇa' show some inner relations. While the article suggests some areas of experimental research on *Ahiṃsā*, the monograph furnishes some details of experiments on *Ahiṃsā* persued by the Jaina *śramaṇas*. Such source material provides the guidelines for further researches undertaken for intensive studies.

The *Saddhamopāyanaṃ*, a Pali Text containing 621 gāthās in 19 chapters, was edited by Rev. Richard Morris and was published in Roman script in the Journal of the Pali Text Society in 1887, Oxford University Press,

London. For his edition the editor had used a manuscript in Sinhalese character, preserved in the British Museum, Oriental No. 2248 and a very accurate edition in Sinhalese character with Sannaye by Batuwantudave Pandit, printed at the Śāstrādhāra Press, Morris writes that the differences between the Ms and the printed text are not very numerous or important. He had noted different readings at the end of the printed text. He had added Index of subjects and words and detailed 'notes and queries' covering 93 pages in print.

The *Saddhammopāyanaṃ* is presented here in Devanāgarī characters for the first time. Devanāgarī version from the Roman edition has been prepared by Dr. Brahmadeo Narayan Sharma. So for no new manuscript of the text has come down in Devanāgarī characters. Morris's edition too was out of print since long. Hence the importance of the text in including here is self evident and Dr. Sharma deserves thanks of scholars and students of Pali for making it accessible. As Dr. Sharma has expressed in his Hindi introduction, a critical edition of *Saddhammopāyanaṃ*, is yet to be prepared in which the notes of Richard Morris need to be utilised.

The *Pañcagati-dīpanaṃ*, a small Pali text of 114 gāthās, was edited for the first time by Leon Feer, and was published in Roman script in the Journal of the Pali Text Society (pp. 152-161) 1884 A. D. Present Devanāgarī version has been prepared by Dr. K. C. Jain. Dr. Jain deserves our thanks for bringing it in Devanāgarī character for the first time. Many such small Pali texts have been published in the aforesaid Journal and deserve to be brought out in Devanāgarī character.

The *Hatthavanagalla-vihāravaṃso* by unknown writer is another Pali text being published here for the first time in Devanāgarī characters. It was published with commentary in Sinhalese characters in 1934 A. D. by Vidyodaya Pariveṇa of Sri Lanka. The Devanāgarī version is prepared by Bhadanta D. Somaratana Thero, a Buddhist monk from Sri Lanka. The treatise eulogises the King Sri Sanghabodhi (307-307 A. D.) who was considered to be a Bodhisattva in Sri Lanka. The date is assigned to 1236-1271 A. D. It has been rightly illuminated in the Preface and *Viññāpanaṁ* in Pali that the work is important not only as an eulogy of a noble character but also as a poem of the category of Campu— a poetical work mixed with verse and prose. The prose style is a kin to that of *Kādambari* of Bāṇabhaṭṭa, a notable Sanskrit poet, and the author has been influenced

by the very same work and the *Jātakamālā* of Āryasūra. As the text was handled by a traditional monk, the importance of restoration becomes more authentic.

The *Taccaviyāro* of Vasunandi Suri, a Prakrit treatise dealing with the Jaina Philosophical concepts and code of conduct of a house-holder, has been edited from a single manuscript, and presented here for the first time. The text is divided into 11 chapters, each dealing with an independent topic of undisputable religio-philosophical importance. However the topics have inter-relation to each other while complete in itself. In the preface and in the Introduction good many details have been furnished. Attention has been drawn to some important points related to the restoration of ancient *āgpmas,* which are lost, cronology of Ācāryas and History of Jaina Church. Some areas for interdisciplinary research have been suggested. The Prakrit text is presented with the cross reference of other works in the foot notes, which are not only important for comparative study but also will help in due course the scholars undertaking the difficult task of accounting the traditional *gāhāsutta,* which seems scattered in several ancient works, but lost as a whole Āgama.

The *Lokottaradharmadane Buddhasya dvātriṃśanmahāpuruṣalakṣaṇāni aśītyanuyañjanāni ca* edited and presented by Dr. N. H. Samtani with his Introduction, is a portion of a Buddhist Sanskrit text *Lokottaradharmadānam.* The manuscript was located by the editor in the Darbar Library, Kathmandu (Nepal). Thirty two special characteristics which make the Buddha a superman, is a matter of significant importance. The list and explanation are found in many other Buddhist texts both in Pali and Sanskrit. The variations in order, terminology and explanation are but natural. The similar sixteen or twenty special characteristics, which make Mahavira the *Tīrthaṅkara,* and can make any one a *Tīrthaṅkara,* are elaborately depicted in Prakrit, Sanskrit and Apabhraṃśa texts of the Jaina Tradition. However they denote spiritual evolution and not the external signs. Gradual spiritual evolution in every previous birth till he becomes a *Tīrthaṅkara,* closely resembles with the concept of a *Bodhisattva.* Dr. Samtani has drawn the attention to the sources in early Pali texts as well as the Māhāyana literature. A comparative and analytical study of the subject can be an independent research project of high importance particularly in the light of the concept of total development of human personality which is one of the original contribution of the Śramaṇas.

The *Khasamaṭīkā*, a Sanskrit commentary by Ratnākaraśānti, on a Buddhist Tantra text entitled Khasama, is presented here for the first time. It is edited by Prof. Jagannath Upadhyaya from two manuscripts—one Palm leaf Ms. in old Nepali script Bhuñjimola and another paper Ms. in Devanāgarī—both discovered in Nepal. A translation of the commentary in Bhoṭa language of Tibet (Tanjore series) has also been utilised.

The *Kasamāṭīkā* is of manifold importance. The commentator not only explains the contents of the Tantra text but at the same time provides many other information about the text. He tells about the metrical composition of each verse of the text enumerating the *gaṇas* and the *mātrās* of each *pāda* of the verse. So much so he tells about the accent of the *svaras* used for linguistic expression (ह्रस्वत्वं पूरणार्थम्, ह्रस्वत्वमर्द्धक्षेप:) etc. the placement of the words in the verse (चकारो भिन्नक्रम:), grammar of the unfamiliar words in Sanskrit, (एदोतोर्युक्तवर्णयोश्च यथादर्शनम्) and not but least Sanskrit form of almost the full original Tantra text. Thus it is not difficult to restore the text from the commentary even if it is not discovered in original independently.

Ratnākaraśānti narrates these facts in brief in the beginning of his commentary with few more informations,

इह द्वित्रिचतु:पञ्चषड्मात्रा: पञ्चधा गणा: ।
प्रायेण द्विपदीवृत्तं पादस्त्रिचतुरैर्गणै: ।।
अपभ्रंशस्तु भाषात्र विकार: संस्कृतस्य च ।
पूरणं ह्रस्वदीर्घत्वबिन्दुद्रुतविलम्बितै: ।। (P. 232)

In the Bhoṭa translation of the commentary, these detaills are not found.

Ratnākaraśānti quotes some other Tantra texts viz 1) Srī-Guhyasamāja (pp. 233-246), 2) Srī-Paramādya (p. 234), 3) Sarvarahasyatantra (p-235), 4) Srīsamāja (p. 235), and 5) Vajraśikhara (P. 236). Further he says in clear words that this (Khasama-Tantra) is the uttaratantra of all the Tantras—*Sarvatantrāṇāmuttaratantramidam* (p. 235). He narrates the importance of the present Tantra in the following words,

asmintantre sulabhā siddhiritikhyāpayituṃ dvipadi ṣaṭkamāha (p. 253).

The commentator indicates more than once that he has before him more than one manuscripts of Khasamatantra with different readings. He says :—*jei iti kvacit pāṭhaḥ* (p. 242), *kvacit pustake mahatvasya stāne*

svabhāvaśabdaḥ paṭhyate (p. 236), *anye tu caturthapādam na paṭhanti tripādikametad-iti ca-āhu* (p. 252).

Ratnākaraśānti's contribution is of special significance because he analyses the Śunyavāda Treatises in Vijñānavāda. His commentry of *Abhisamayālaṅkāra* and *Pindārtha* are well known. His date is also almost decided. He florished during the regime of Caṇaka or Mahipāla of Pala dynasty at about 974 to 1026 or 978 to 1030 A.D.

In brief it can be said that the Kasama Tantra was composed in Apabhraṃśa and belong to the Tradition of Buddhist Siddhas. As the editor Prof. Jagannath Upadhyay is working on Tantras and promises in his brief preface to present a study, it is wise to await for critical edition of the original Kasamatantra and a masterpiece of study from the pen of a scholar well equipped with traditional learning and working with great enthusiasm.

At the end appears the 'Survey and bibliography of Higher Education and Research in Prakrits and Jainology in the Universities of India'. It elaborately furnishes the details in historical persceptive with latest developments. It can be fruitfully utilised by researchers in the field. Further it serves as guidelines for advancement of extensive and intensive research in Prakrits and Jainology. A supplement to it, and 'Research priority in Prakrits and Jainology' is also an urgent need.

The details furnished above introduce the Faculty Journal to a larger community of scholars all over the world particularly to whom our national language and Devanāgarī characters stands a bit difficult. It is hoped that this will also generate a spirit and create a good deal of interest in our national language and Devanāgarī characters for the study and clear understanding of the cultural heritage of this Nation from direct sources.

It is my duty to express on behalf of the Board of Editors and my own behalf, a sense of gratitude to our learned Vice-Chancellor Professor Gaurinath Shastri who stands as an inspiration to high academic pursuit. This *Vidyātīrtha* is fortunate enough as most of the Vice-Chancellors at present, and the Principals at the stage of college, had been great academicians. The Journal was planned under the guidence of the outgoing Vice-Chancellor Professor Badarinath Shukla who showed his special interest in it. It is facinating that it is released during the silver jubilee of the University, under the patronage of present Vice-Chancellor who himself is

a scholar of repute. His '*Śubhāsaṃsa*' (printed at the begining) expresses his extreme interest in intensive research and stands as an inspiration to every earnest researcher.

Saṅkāya-Patrikā is one of the achievements of the co-ordinated efforts of the Faculty members and colleagues in other Universities. The words of thanks cannot be better than to say that 'we wish this spirit to be continued'.

The co-operation of the publication Department of the University always makes our task easier because of the academic interest of the officers. Our sincere thanks are due to them. Suggestions, comments and criticism are the assets of a sincere researcher, and we will welcome it. Like our other adventurous experiments if the Faculty Journal results in success, it will generate some new spirit.

—Gokul Chandra Jain

अनुक्रम

अहिंसा : अध्ययन की एक दिशा ३-२४
—प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय

सद्धम्मोपायनं (पालि) २५-८८
—डॉ. ब्रह्मदेवनारायण शर्मा

हत्थवनगल्लविहारवंसो (पालि) ८९-१२४
—भदन्त सोमरतन थेरो

पञ्चगतिदीपनं (पालि) १२५-१४०
—डॉ. कोमलचन्द्र जैन

तच्चवियारो (प्राकृत) १४१-२०२
—डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

लोकत्तरधर्मदाने द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि (संस्कृत).... २०३-२२४
—डॉ. एन. एच. साम्ताणी

खसमानामटीका (संस्कृत) २२५-२५६
—प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय

जैन परम्परा में श्रमण और उसकी आचार संहिता २५७-२९२
—डॉ. फूलचन्द्र जैन

The negative particals in the Buddhavaṃśa २९३-३०८
—Devaprasad Guha

Higher Education and Research in Prākrits and Jainology ३०९-३७४
—Dr. Gokul Chandra Jain

संकाय पत्रिका : १

श्रमणविद्या

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥

—धम्मपद, गाथा १३०।

—सभी प्राणी दण्ड से आतंकित होते हैं। सभी को अपना जीवन प्रिय है। अतः सबको अपना-जैसा समझकर न किसी की हिंसा करे न आघात पहुँचाए।

जह ते न पिअं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो अत्तोवम्मेण कुणसु दयं॥

—समणसुत्तं, गाथा १५०।

—जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं हैं, वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं हैं। अतः सबको अपना-जैसा समझ पूर्ण आदर के साथ सब पर दया कर।

अहिंसा : अध्ययन की एक दिशा

जगन्नाथ उपाध्याय

अहिंसा भारतीय परम्परा में एक विकसनशील आध्यात्मिक प्रयोग है और विभिन्न प्रयोगों के द्वारा ही वह एक उच्चतम मानसिक गुण तथा नीति-धर्म के रूप में विकसित हुई है। अहिंसा का स्वरूप प्रयोगात्मक इस रूप में रहा है कि वह अन्य अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों की तरह पूर्व से विश्वास-प्राप्त धर्म नहीं, प्रत्युत उसके पीछे व्यावहारिक परिणतियाँ और साधकों के अनुभवों के साक्ष्य दीख पड़ते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक अनुभव और मानसिक साधना के द्वारा यह एक उपार्जित तथ्य के रूप में प्रस्तुत है, जो सदा विकसमान स्थिति में रहा है। इस विकासक्रम में अहिंसा जब तक अधिक व्यक्तिगत रही है, तब तक उसका व्यवहार क्षेत्र में सामान्य परीक्षण नहीं हो सकता था, किन्तु प्राचीन काल में ही जैसे-जैसे व्यक्तिगत अनुभवों की व्यावहारिक सिद्धि के रूप में सम्भावना की जाने लगी, वैसे-वैसे उसके वैज्ञानिक तथ्य के रूप में विकसित होने की धारणा पुष्ट होती गई। बीसवीं शताब्दी में महात्मा गाँधी ने इस आध्यात्मिक तत्त्व को व्यावहारिक तथ्य के रूप में लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने इस क्षेत्र में युगान्तकारी साहस का परिचय दिया और इसके लिए उन्होंने राजनीति का क्षेत्र चुना, जो व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही विषम और जटिल होता है, इसके लिये धर्म और इतिहास में कूटनीति या अनीति को भी ग्राह्य, न्याय्य और क्षम्य माना है। गाँधी जी के महान् प्रयोगों ने इस दिशा की अग्रिम सम्भावनाओं को बहुत ही मुखरित कर दिया। अब हम इस स्थिति में हैं कि अहिंसा के इतिहास का तर्कसम्मत वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें और इसकी नयी व्यावहारिक सम्भावनाओं पर अपना विचार व्यक्त कर सकें।

अहिंसा की प्राचीनता

प्राचीन भारतवर्ष में अहिंसा के विकास के दो क्षेत्र रहे हैं—एक व्यक्तिगत साधना का तथा दूसरा व्यावहारिक कल्पना का। व्यक्तिगत साधना के रूप में विकास का एकमात्र श्रेय योगशास्त्र को है और उसकी व्यावहारिक सम्भावनाओं का सुविस्तृत विवेचन बौद्ध जातकों, महाभारत, त्रिपिटक, जैन आगमों एवं कथाओं में तथा इनके वर्ण्य विषयों पर जो पश्चाद्वर्त्ती साहित्य काव्य, नाटक, पुराण आदि लिखे गये हैं, उनके ऊहापोह के साथ वर्णित है।

योग की प्रामाणिकता में चार्वाक और मीमांसकों को छोड़कर किसी भी भारतीय दार्शनिक परम्परा में विवाद नहीं रहा है। यह स्पष्ट है कि योग में भी विश्वासलब्ध तत्त्वों की भावना के लिए पर्याप्त अवकाश है। इसके आधार पर परस्पर मतभेद भी रहा है, किन्तु अहिंसा की स्थिति उनसे भिन्न है। मतभेद रखते हुए भी सभी एकमत से अहिंसा की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। परिभाषा और विश्लेषण में भी प्रायः सभी समान हैं। अहिंसा की गणना बौद्धों के अनुसार 'शील' में, वैदिकों के अनुसार 'यम' में जैनों के अनुसार 'अणुव्रतों' में की गई है, जो वास्तव में प्रधान रूप से योग नहीं, योगाङ्ग हैं। यह अन्य नैतिक एवं व्यावहारिक दुर्गुणों—चोरी, असत्य, सुरापान आदि की विरतियों के साथ पठित है। इस प्रकार अहिंसा को अतर्क्य तत्त्व नहीं माना गया है। यही कारण है कि बहुत प्राचीनकाल में ही प्रयोग की दृष्टि से अहिंसा के क्षेत्र को बहुत व्यापक समझा जाने लगा था। उसे बौद्धों ने 'अप्रमाण' जैनों ने 'महाव्रत' तथा पातञ्जलों ने 'सार्वभौम महाव्रत' की संज्ञा दी है। इस प्रकार प्राचीनकाल में ही अहिंसा के निरपवाद नियम होने की क्षमता आकलित कर ली गयी थी। पतञ्जलि यह स्वीकार करते हैं कि अहिंसा जाति, देश और काल की सीमाओं से बँधी हुई नहीं है—

"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।" २।३१

पुराने यज्ञवादियों ने तथा उनके पोषक मीमांसकों ने अहिंसा को सीमित करने का विपुल प्रयास किया है। उसमें उनको आंशिक सफलता भी मिली है। योगियों ने भी लोक व्यवहार में विविध विवशताओं के कारण अपने ढंग से अहिंसा की सीमा मानी है, किन्तु धार्मिक आधार पर नहीं। यहाँ तक कि वैदिक योगियों ने भी अहिंसा के समक्ष हिंसक यज्ञादि की श्रेष्ठता को कभी स्वीकार नहीं किया। योगियों के प्रभाव से मनु आदि धर्मशास्त्रकारों तक को यज्ञ के एक श्रेष्ठ विकल्प के रूप में अहिंसा को स्वीकार करना पड़ा। मनु किसी एकदेशी आचार्य का मत बताते हैं कि वे लोग यज्ञशास्त्रवेत्ता हैं, किन्तु उसका अनुष्ठान न करके सदा विषयों का होम इन्द्रियों में करते हैं—

"एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततं इन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥" (म. ४।२२)

मनु स्वयं भी कहते हैं कि सभी श्रेयस्कर एवं अनुशासन पूर्ण कार्य अहिंसा से ही सम्पन्न हो सकते हैं—

"अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।" (म. २।१५९)

उक्त तथ्यों के आधार पर अहिंसा की मान्यता के संबन्ध में सभी भारतीय विचारकों का जो ऐकमत्य मालूम होता है, वह इतिहास के अनेक घात-प्रतिघातों

का समन्वित परिणाम है, जिसे हम परवर्ती काल की भारतीय संस्कृति में प्रतिफलित पाते हैं। किन्तु अहिंसा की मूल समस्या का हम तब तक आवश्यक विश्लेषण और समाधान नहीं कर पाएँगे, जब तक प्राचीन भारत की उन स्पष्ट दो धाराओं को ध्यान में नहीं रखेंगे, जिन्हें प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा ब्राह्मण और श्रमण अथवा ऋषि एवं मुनि अथवा हिंसक एवं अहिंसक नाम से जाना जाता है। इन दोनों प्रकार की धाराओं में भारतवर्ष का सम्पूर्ण बाह्य और आन्तर जीवन विभक्त रहा है। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में इस विभाजन को हम कभी अस्पष्ट, कभी ईषत् स्पष्ट और कभी अन्तर्लीन पाते हैं। वर्तमान भारतीय जीवन भी इस विभाजन से अछूता नहीं है। इन सूक्ष्म तथा स्पष्ट प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बिना भारतीय जीवन के अन्तरंग को समझना सम्भव नहीं है, न तो इसके बिना भारतीय समाज को कोई निर्बाध दिशा ही दी जा सकती है। इन विकासधाराओं के समुचित ज्ञान पर ही अहिंसात्मक प्रयोगों का वर्तमान और भविष्य बहुत कुछ निर्भर है। भारतीय परिवेश में अहिंसा का अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग भी एक भिन्न प्रकार का ही होगा, इस तथ्य की ओर भी हमें ध्यान रखना होगा।

अहिंसा : श्रमण एवं वैदिक

अहिंसा का तत्त्व-ज्ञान और उसका प्रयोग श्रमणधारा की विशेषता है। इसका प्रारम्भ महावीर और बुद्ध से ही नहीं, प्रत्युत इसके प्रारम्भिक संकेत ऋग्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा विभिन्न प्रकार के प्राचीन सांख्य सम्प्रदायों में भी मिलते हैं। सम्भवतः इस प्रकार के सभी विचारक प्राचीन श्रमण-धारा के अनुयायी थे। महावीर और बुद्ध ने अपने सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों से इसे ऐसा महत्त्व प्रदान किया, जिससे इसके अनुरूप एक ओर तत्त्वज्ञान और आचार का विकास हुआ, दूसरी ओर हिंसासम्मत यज्ञयागादि विविध कर्मकाण्डों का विरोध भी खड़ा हुआ। श्रमण शम-प्रधान और निवृत्तिवादी थे। इनका प्रधान कर्त्तव्य था जीवनशोधन और उद्देश्य था—दुःखनिवृत्ति या निःश्रेयस। ब्राह्मणों का उद्देश्य ऐहिक एवं आमुष्मिक सुख-भोग था और उनका प्रधान प्रयास था समाज में एक ऐसे सुदृढ़ वर्ग की सुरक्षा एवं व्यवस्था, जिसे विद्या, रक्षा और धन की किसी प्रकार कमी न हो। निवृत्ति-वादियों में भी सर्वांश में समानता नहीं थी। बुद्ध में अपने सद्धर्म के विस्तार का अदम्य उत्साह था। वह विशेष प्रज्ञा के प्रकाश में ही सम्भव था, अतः उन्होंने प्रज्ञा पर विशेष जोर दिया। महावीर ने व्यक्ति की शुद्धि और उसके आचार को विशेष महत्त्व दिया। दोनों में सम और शम, समता और शान्ति ऐसी समान मान्यताएँ थीं, जिन पर चलकर अहिंसा का विकास सम्भव होता। ब्राह्मणों का झुकाव सुख और व्यवस्था की ओर होने के कारण उनका विरोध विषमता, युद्ध या अशान्ति के

प्रति नहीं था। अतः उनका आकर्षण अहिंसा की तरफ तब तक नहीं हुआ, जब तक यह संभावना खड़ी नहीं हो गई कि अहिंसा भी यथा सम्भव सुख और व्यवस्था का साधन बन सकती है। श्रमण जिस समाज में रहते थे वह बड़ा ही विषम और कोलाहलपूर्ण था। बुद्ध ने मानव प्रजा को थोड़े पानी में छटपटाती मछलियों के समान तड़फड़ाते देखकर, विश्व कितना भयाक्रान्त है, इसका अनुभव किया—

"फन्दमानं पजं दिस्वा मच्छे अप्पोदके यथा।"

इसमें समता और शान्तिमूलक व्यवस्था अवश्य थी, अतः इसके लिए यह आवश्यक हुआ कि वे व्यक्तिगत अहिंसा का समाजोन्मुख प्रयोग करें। इन दोनों धाराओं के कारण शताब्दियों-शताब्दियों तक हिंसा और अहिंसा के सामर्थ्य तथा धर्म्य-अधर्म्य के सम्बन्ध में ऊहापोह एवं शास्त्रार्थ होता रहा। यह कार्य विचार और साधना के क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्र में भी हुआ।

यद्यपि अहिंसा के विकास की दृष्टि से अब तक भारतीय इतिहास का परिशीलन नहीं किया गया है, तथापि इस प्रकार के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री विकीर्ण रूप में मिलती है। अति प्राचीन काल में जैनों में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा किये प्रयोगों का संग्रह होना चाहिए। कहा जाता है कि तीर्थंकर नेमिनाथ के विरोध से विवाह आदि उत्सवों में होने वाले पशुओं का वध और मत्स्य, मांस, सुरा आदि जैसी फिजूलखर्ची बन्द हुई थी। काशीराज अश्वपति के कुमार पार्श्वनाथ ने उस समय की प्रचलित तपस्याओं द्वारा होने वाली अनेकानेक प्रकार की हिंसाओं का विरोध किया था। महावीर स्वामी के कार्यों का साक्ष्य प्राचीन जैनागमों में सुरक्षित ही है।

भगवान् बुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रवर्तकों में महानायक हैं, जिन्होंने व्यक्ति, समाज और धर्म के क्षेत्र में प्रचलित हिंसा का एक साथ विरोध किया। उन्होंने अपनी आलोचनाओं से हिंसा के विरोध में केवल लोकमत ही तैयार नहीं किया, अपितु हिंस्र राजन्यों और ब्राह्मणों के बीच उपस्थित होकर हजारों-हजार यज्ञीय पशुओं को छोड़वाया और यज्ञयूपों को तोड़वाया। [देखें दी. नि. कूटदन्तसुत्त] उन्होंने अपने सैकड़ों-सैकड़ों अनुयायियों को स्वयं अहिंसक आचरण एवं व्यवहार का प्रशिक्षण दिया, जो हिंसक समाज में पहुँच सद्धर्म का प्रचार करें तथा विरोधी के प्रति मरणान्त अपनी अहिंसक वृत्ति को न छोड़ें। बुद्ध का कहना था कि दोनों तरफ से डंडे और भाले चलते हों, उनकी चोट से अंग-अंग छिद गया हो, उतने पर भी हमारे अनुयायी के मन में दोस (द्वेष) आ जाए तो वह धर्मशासन की रक्षा नहीं कर सकता। इस परिस्थिति में घिरा हुआ व्यक्ति हिंसक को यह दिशा दे—

"न चेव नो चित्तं विपरिणतं भविस्सति, न च पापिकं वाचं निच्छारेस्साम, हितानुकम्पी च विहरिस्साम, मेत्तचित्ता न दोसन्तरा ॥"

(मज्झि० ककचूपमसुत्त)

दो सीमाओं में स्थित नदी के पानी को लेकर लिच्छवी और बज्जियों के बीच होने वाले संघर्ष को बुद्ध द्वारा बचाने का प्रयास, उनके द्वारा अंगुलिमाल जैसे भयङ्कर डाकुओं को सुधारने का प्रयत्न अहिंसक प्रयोगों की सफलता का निदर्शन है। जैन एवं बौद्ध साहित्य में वर्णित ऐसी घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके अहिंसा की शक्ति की व्यापक सम्भावनाएँ समझी जानी चाहिए।

अहिंसा : अध्ययन सामग्री

यह जानने की बात है कि बौद्ध एवं जैन धर्मों के अनुयायियों उनके गणतन्त्रों और राजाओं द्वारा समाजसुधार और धर्मप्रचार का कौन सा अहिंसक मार्ग अपनाया गया था, जिससे कहीं भी विपक्षियों के खून का एक कतरा भी नहीं गिरा और शताब्दियों-शताब्दियों तक प्रजा पर श्रमण विचारों का प्रभाव छाया रहा। देश में ही नहीं, सुदूर विदेशों तक सैकड़ों और हजारों की संख्या में निहत्थे बौद्धभिक्षु पहुंच कर धर्म का अटूट प्रभाव स्थापित कर सके थे। उसके पीछे कुछ ऐसी अदम्य शक्तिओं का संकेत हैं, जिससे हजारों कुर्बानियों के बाद भी पीछे न हटकर उसकी प्रेरणा से धर्म आगे ही बढ़ता गया। हमें एशिया के विभिन्न देशों के ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर उस कार्यविधि का अध्ययन करना होगा। अवश्य ही उससे विभिन्न प्रकार के अहिंसात्मक प्रयोग सामने आयेंगे। अपने देश में ही अशोक और उनके पुत्र एवं पौत्र, कनिष्क, कलिंगराज खारवेल, गुर्जर प्रतिहार सिद्धराज, कुमारपाल, धर्मपाल, आदि ऐसे दर्जनों ऐतिहासिक राजाओं के नाम हैं, जिनकी शासन विधि के आधार पर हम ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जो अहिंसा के विकास में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

अहिंसा के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए श्रमण एवं ब्राह्मणों द्वारा अहिंसा या हिंसा की श्रेष्ठता और उपयोगिता सिद्ध करने के लिए काव्य, कथा, पुराणों और जातकों में लिखित ऐतिहासिक अर्ध-ऐतिहासिक या अनैतिहासिक घटनाओं के संयोजन करने का जो भावात्मक एवं कलात्मक प्रयास किया गया है, उससे भारतीय संस्कृति के हिंसा-अहिंसा प्रधान पक्षों पर महत्त्वपूर्ण आलोक पड़ता है। उससे दोनों पक्षों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का भी अध्ययन होता है। इसमें महाभारत के अनेकानेक स्थल जैसे श्रीमद्भगवद्गीता आदि, अश्वघोष, कालिदास के काव्य-नाटक, आर्यशूर, सुबन्धु, बाण के काव्य सहायक होंगे। इसी प्रकार प्राकृत काव्य और अन्य जैन ग्रन्थों में पउमचरिय, रयणचूडरायचरिय, निशीथ-चूर्णि,

उपदेशमाला, कथाकोश आदि इस प्रकार के अध्ययन में उपयोगी हैं। उदाहरणस्वरूप व्याघ्री जातक के आदर्श को लें—बोधिसत्त्व ने दूर से भूख से तड़फड़ाती व्याघ्री को, जो तत्काल प्रसव से पैदा हुए अपने ही बच्चों को खाने जा रही थी, देख, अपने अनुयायी शिष्य को कुछ ले आने के लिए भेज कर स्वयं अपने को ही समर्पित कर दिया और व्याघ्री के बच्चों को और अपने शिष्य को बचा लिया। ढूँढ़ते हुए शिष्य ने अन्त में गुरु की हड्डियाँ ही प्राप्त कीं। इस अहिंसक आदर्श के जबाब में कालिदास के रघुवंश में गुरु की गौ नन्दिनी को बचाने के लिए व्याघ्र के समक्ष अपने को समर्पित न करके क्षत्रिय धर्म के अनुसार दिलीप ने बाण खींचा, किन्तु तरकस से हाथ सट जाने के कारण स्वयं अपने को ही अर्पित कर देना चाहा। इस घटना की पूरी संरचना और वहाँ के कथोपकथन से क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता और हिंसा की कथंचित् उपयोगिता स्पष्ट की जाती है। अश्वघोष और कालिदास के सभी काव्य एवं नाटक इस दृष्टि से हिंसा-अहिंसा के बीच वाद-प्रतिवाद के रूप में मिलते हैं। महाभारत भी इस दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न है। गीता के अतिप्रसिद्ध प्रसंग को ही लें— अर्जुन द्वारा प्रारम्भ में यद्यपि उत्कृष्ट कोटि की त्यागपूर्ण अहिंसा-वृत्ति का उल्लेख कराया गया है, किन्तु उसके जबाब में पूरी गीता में अहिंसा के गुणों को मात्र अनासक्ति से ही समन्वित कर क्षात्र-धर्म और हिंसा को ही श्रेष्ठ रूप में खड़ा किया गया है। इस प्रकार के प्रसंगों के सूक्ष्म अध्ययन से हम केवल अपनी संस्कृति को ही नहीं पहचानेंगे, अपितु उससे हमें हिंसा और अहिंसा के मूलभूत प्रश्नों को लेकर आधुनिक सन्दर्भ में भी सोचने में सहायता मिलेगी।

भारतीय जीवन में अहिंसा के सम्बन्ध में हजारों वर्षों से अन्तःशोध तथा व्यावहारिक प्रयोग चल रहे हैं, किन्तु अभी तक वे अपनी प्रयोगावस्था में ही हैं। किसी प्रयोग को दर्शन की कोटि में आने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रयोगों और मान्यताओं के आधार पर विचार प्रतिफलित हों और वे परम्परागत विचार प्रयोगों से समर्थित एवं परीक्षित हों। भारतवर्ष ने इस विषय में ऐतिहासिक-अनैतिहासिक विस्तृतकाल में जो अनुभव प्राप्त किये हैं, किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए उनका पर्याप्त विश्लेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर और बुद्ध ने अहिंसा का दार्शनिक आधार भी प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद और मध्यममार्ग का अध्ययन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार परवर्ती वैष्णव आचार्यों द्वारा भी इस दिशा में कुछ कार्य किया गया है, जिसका मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण होगा। इन दृष्टियों से इस निबन्ध में कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। किन्तु यह सब अहिंसा का बहिरंग स्वरूप है। उसका जो अन्तरंग है, अर्थात् उसके अपने अन्दर का ही स्वगत विकास है, जो विशेष रूप से मानसिक और आध्या-

त्मिक साधना का क्षेत्र है, वह व्यक्तिगत किन्तु सफल प्रयोग की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अन्तरंग विवेचन में यह देखा जा सकता है कि प्राचीन भारत की मनीषा या उत्क्रान्ति अहिंसा के विकास की किस मंजिल तक पहुंची थी और बाद में महात्मा गांधी के युगान्तकारी प्रयासों से सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोगों से उसमें क्या प्रगति हुई। इसके आधार पर हम अहिंसा के भविष्य की संभावनाएँ भी आकलित कर सकते हैं।

अहिंसा का उद्गम

मानवीय विकास के किस स्तर पर किस क्रम में मानव-मन में अहिंसा का बीज अंकुरित हुआ होगा, इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यहाँ विकसित समाज के बीच ही उसके उद्गम को समझना अभीष्ट है। किसी स्थान-विशेष में कब और कैसे इसका विकास हुआ, इसका निश्चय करना भी कम कठिन नहीं है। यहाँ तक कि ऐतिहासिक तिथियों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि अहिंसा का उद्गम भारतवर्ष में कब और कहाँ हुआ, किन्तु इतना विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक घात-प्रतिघातों में से ही यह भावना उद्गत हुई होगी। उसका काल ऋग्वेद के बाद भगवान् बुद्ध तक, लगभग एक सहस्र वर्षों का होना चाहिए। यह काल ऐसी संस्कृति और धर्म-विशेष को प्रतिष्ठित करने का है, जो अपने को जाति, विद्या और शक्ति में बहुजन से श्रेष्ठ समझती थी और एकराट्, अधिराट् राज्यों के विस्तार के लिए तत्पर थी। तत्कालीन समाज में आध्यात्मिक दृष्टि से चेतन लोगों को प्रतिदिन की नोच-खसोट, युद्धों की खून-खराबी, यज्ञ-यागादि, धार्मिक कर्मकाण्डों के नाम पर पशुहिंसा, सुरामैरेय, हिरण्यादिदान से महीनों और वर्षों चलने वाले सत्रों के कोलाहल में अपने को मानसिक दृष्टि से सन्तुलित रखना तथा व्यावहारिक बाधाओं से बचाए रखना मुश्किल होने लगा होगा। इस विषम स्थिति में से ही कुछ मनीषियों को पहले समाज के प्रति उदासीनता की वृत्ति पैदा हुई होगी। किन्तु उदासीनता पुरुषकार को सीमित करने लगती है और वह व्यक्ति की दृष्टि से भी समस्याओं का पूरा हल नहीं देती, अतः उन्हें किसी ऐसी शक्ति की तलाश होगी, जिसके द्वारा वे विरुद्ध परिस्थितियों में भी अपने को अविचलित एवं निःसंग रख सकें और समाज पर भी अपने विशेष आचरण का अनुकूल प्रभाव डाल सकें। इस चिन्तन एवं शोध-प्रक्रिया में से ही अहिंसा-वृत्ति का भान होने लगा होगा। ऐसे उदासीन मुनियों का अपनी गुफाओं के इर्द-गिर्द आने जाने और रहने वाले पशुओं से सम्पर्क होता होगा। फलतः अपने प्यार और संग का प्रभाव उन विजातीय सहवासियों पर पड़ता देख उन्हें अपने मानसिक गुण और सौम्य व्यवहार पर भरोसा बढ़ता गया। इसी पर

से उन्हें यह सूझने लगा होगा कि मनुष्य और पशुओं के बीच यदि इस प्रकार के सौमनस्य की संभावना है, तो मनुष्य-मनुष्य के बीच वह सम्भव क्यों नहीं? समाज में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अशान्ति और वैषम्य का अन्त न देख कर परम्परा से प्रचलित और शास्त्रों में प्रतिपादित इन धार्मिक एवं सामाजिक कार्यकलापों के प्रति जनसाधारण में उनका महत्त्व घटने लगा और तत्त्वचिन्तकों के प्रयासों से कुछ नये निष्कर्ष निकलने लगे। द्वेषपूर्ण कार्यों से, हिंसापूर्ण अनुष्ठानों से, भोग-विलास से, लोक में फैले द्वेष, अशान्ति और दुःख को मिटाया नहीं जा सकता, यह तथ्य स्पष्ट होने लगा। इन मानसिक प्रतिघातों में से अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट होने लगा।

ऊपर वर्णित चित्र के पीछे केवल सम्भावनाएँ नहीं हैं, अपितु उसकी प्रामाणिकता के लिए अथर्ववेद, उपनिषद्, महावीर और बुद्ध के समसामयिक समाज में व्याप्त दुरवस्था तथा उसके विरोध में विविध विरक्त सम्प्रदायों तथा महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों द्वारा किये गये आन्दोलन एवं प्रवचन साक्षी हैं।

अहिंसा : चेतना और कर्म

अहिंसा के स्थूल संकेतों का उद्‌गम व्यावहारिक घात-प्रतिघातों के बीच संभव है, किन्तु उतने मात्र से उसे प्रतिष्ठा और मान्यता नहीं मिल सकती थी। प्रतिष्ठा के लिए कोई सूक्ष्म और गम्भीर आधार चाहिए जो मनुष्य में महत्त्वपूर्ण स्थान बना सके, ऐसा उसके मानसिक गुण ही हो सकते हैं। वास्तव में व्यवहार का केवल बाह्य-पक्ष किसी भी कर्म के अच्छा या बुरा होने का निर्णायक नहीं हो सकता। कर्म का मूल उसकी चेतना है। उस प्रेरक चेतना के विश्लेषण के आधार पर ही नैतिक दृष्टि से सदाचार और अनाचार का निर्णय लिया जा सकता है। इसी दृष्टि से बुद्ध ने चेतना को ही कर्म कहना उचित समझा—

"चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि। चेतयित्वा कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा।"

(अ० ३-४१५)

चेतना ही अपने साथ सभी प्रकार की वृत्तियों को लेकर कार्यविशेष में जुटती है और उसी का अनुसरण मनुष्य के काय, वाक् और मन भी करते हैं। जैनों का 'भाव-कर्म' अन्य द्रव्य कर्मों से श्रेष्ठ है, जो एक प्रकार की चेतना है, वह आत्मा में संस्कारविशेष के रूप में स्थित रहती है—

"स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।" (सर्वार्थसिद्धि, सू० ७।१३)।

प्राचीन वैदिकों में सत्कर्म, दुष्कर्म सभी देवताओं के या ईश्वर के हाथ था, किन्तु परवर्ती सांख्य से प्रभावित होकर त्रिगुणों के आधार पर उनका उद्‌गम और

निर्णय स्वीकार किया गया, जो बुद्धि का ही धर्म था। इसीलिए बाद में सांख्य के माध्यम से वैदिक परम्परा मे अहिंसा का महत्त्व बढ़ा हुआ पाया जाता है। परवर्ती काल में अहिंसा को सभी ने मानसिक गुण मान लिया, किन्तु उसमें भी प्रमुखता-अप्रमुखता की दृष्टि से और प्रयोग-भेद से बहुत बड़ा अन्तर है। जैन और वैदिक उसके बाह्य रूप पर अधिक जोर देते हैं, क्योंकि वे बौद्धों की तरह मन या चेतना को ही कर्म नहीं मान लेते। यह तब और स्पष्ट हो जाता है, जब पाप के प्रायश्चित्त के लिए जैन और वैदिक तप के द्वारा विविध प्रकार से देह को दण्डित करते हैं अथवा यज्ञ में पशुओं का वध और अधिकाधिक द्रव्य व्यय कर देते हैं। नालन्दा में बुद्ध के समक्ष दीर्घतपस्वी नाम के एक जैन निगंठ साधु ने अपने शास्ता महावीर का सिद्धान्त कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड बताया तो बुद्ध ने अपना सिद्धान्त कायकम्म, वचीकम्म तथा मनोकम्म कहा और उसमें भी बुद्ध ने काय और वाक् कर्मों को आनुषङ्गिक बताया और एकमात्र मनः कर्म को ही महत्त्व दिया। बुद्ध कहते हैं कि सभी मनुष्य चित्तगत क्लेशों से दुःखी हैं और उसके मिटाने से ही दुःख मिटेंगे। यदि चित्त सुरक्षित न रहा तो काय, वाक् तथा मनः कर्म सभी असुरक्षित हो जाएँगे। बुद्ध कर्म की सत्ता वहाँ मानते हैं, जहाँ से वह उठता है और वह मन है, काय और वाक् उसका विज्ञापन मात्र करते हैं—

"अहं तपस्सि, तिण्णं कम्मानं मनोकम्मं महासावज्जतरं पञ्ञपेमि।"
(म० नि० उपालि सु०)

इसीलिए उनकी अहिंसा जैनों से भिन्न हो जाती है। जैन किसी भी दशा में मांसाहार को नहीं स्वीकारते, जबकि बुद्ध चित्त से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने पर ही निषिद्ध मानते हैं। सिंह सेनापति के यहाँ बुद्ध और संघ के मांस-भोजन पर जैनों ने नगर में—**"अज्ज सीहेन थूलं पसुं बधित्वा समणस्य गोतमस्स भत्तं कतं"** ऐसा कहकर हाहाकार मचा दिया। उस समय बुद्ध ने बताया कि यदि उसी उद्देश्य से वध किया गया हो और वह ज्ञात हो तो उसे नहीं खाना चाहिये, इसलिए—

"अनुजानामि भिक्खवे, तिकोटिपरिसुद्धं मच्छमंसं अदिट्ठं असुतं अपरिसंकितं ति।"
(वि० पि० महाभेषज्जसुत्त)

एक ब्राह्मण बोधिसत्त्व बहुत दिनों तक हिमालय में रहने के बाद अपनी जीभ नमक-मिर्च आदि से चरपरी करने के लिए भिक्षा लेने शहर में आया। एक गृहस्थ ने उन्हें बदनाम करने के लिए समांस भोजन खिलाया और कहने लगा कि मैंने सोच-समझ कर वध किया और मांस पकाया था, उसे खाने वाला अवश्य ही

पापभागी होगा। उत्तर में बोधिसत्त्व ने कहा कोई असंयत व्यक्ति अपने पुत्रादि का बध करके भी भोजन दान देता है, यदि भोजन करने वाला प्रज्ञावान एवं सचेत है तो वह पापलिप्त नहीं होगा।

जैन लोग जिन चार प्रकार की हिंसा का निषेध करते हैं, उससे जीवन में किसी भी प्रकार की बाह्य हिंसा का अवसर नहीं रह जाता। जैन लोग **आलोयणा, पडिक्कमण** आदि दस प्रकार के प्रायश्चित मानते हैं। (ठाणांग १० ठा०)। उनमें अधिकांशतः तप की ही प्रधानता है। बौद्धसम्मत पाराजिक, संघादिसेसादि प्रायश्चितों में देहदण्ड या तप का स्थान ही नहीं है। सबमें आत्मालोचन, दोष-स्वीकार क्षमा-याचना आदि हैं। बौद्धों में सबसे बड़ा प्रायश्चित संघ से कुछ दिनों के लिए या सदा के लिए निष्कासन है, किन्तु जैनों के यहाँ कायोत्सर्ग तक आदिष्ट है। वैदिक परम्परा में प्रधान रूप से प्रायश्चित का विधान यज्ञीय विधियों में किसी अंग की कमी होने पर उसे पूरा करने के लिए दान करने के लिए अथवा पापमोचन के उद्देश्य से तप करने के लिए है। इसी दृष्टि से वैदिक लोग प्रायश्चित का अर्थ भी तप का निश्चय करते हैं। ऐसा नहीं कि जैन और वैदिक आलोचना या क्षमा-याचना को प्रायश्चित का साधन मानते ही नहीं, किन्तु उनके मत में अपराध निवारण का प्रमुख क्षेत्र तप और यज्ञ ही है।

इन सबका संग्रह **"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"** इस गीता-वचन में आ जाता है। याज्ञिकों से जैनों का इतना अन्तर अवश्य है कि जैन अपराध का क्षेत्र मनोभूमि मानते हैं, किन्तु दण्ड का क्षेत्र देह आदि बाह्य को। बौद्ध सभी स्थिति में चेतना और मन को प्रधानता देते हैं—**"चित्तजेट्ठकं, चित्तधुरं चित्तपुब्बङ्गमं होति।"** उनके मत में मन द्वारा की गई दुःशीलताओं से बचाव भी मानसिक ही होगा, क्योंकि मिथ्या दृष्टि और संकल्प आदि उसके सभी सहयोगी मानसिक ही होते हैं—**"चित्तसंकिलेसा भिक्खवे, सत्ता संकिलिस्सन्ति चित्तवोदाना विसुज्झन्ति।"** (सं० ३।१५१)।

यह कोई आवश्यक नहीं है कि शरीर आदि से वध कर दिया जाए तभी मन में हिंसा-चेतना उत्पन्न हो, बल्कि उसके बिना भी उच्छिन्न कर दूं, विनष्ट कर दूं—इस प्रकार की व्यापादवृत्ति उत्पन्न हो जाने पर मनःकर्म उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी यह भी होता है कि काय तथा वाक् कर्म मनोद्वार तक पहुँचते ही नहीं। ऐसी स्थिति में वह दुश्चरित की कोटि में भी नहीं आएगा। उस स्थिति को केवल काय-कर्म वाक्-कर्म कह सकते हैं। इसके विपरीत मनःकर्म काय-वाक् आदि सभी ज्ञापक माध्यमों में उपस्थित हो सकता है। यह अवश्य है कि अनुशासन की दृष्टि

से काय और वाक् का माध्यम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर अपराध होने पर प्रायश्चित्त का विधान हो सकता है। मनोद्वार ऐसा है कि तत्कृत अपराध उससे बाहर ज्ञापित नहीं हो सकते। बौद्ध जब अपराध का क्षेत्र बाह्य मानते हैं, तब भी उसके पीछे वर्तमान मानसिक स्थिति के आधार पर ही दण्ड व्यवस्था करते हैं और उसका प्रयोग-क्षेत्र भी, अधिकतर मानसिक ही मानते हैं। जैनों से बौद्धों की दृष्टि में जो मतभेद है, उसका मूल बौद्धों का "चेतना ही कर्म है"—यह सिद्धान्त है। जैनों का कर्म सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वे कर्म को जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार करते हैं और उसको आत्मा के अधीन कर देते हैं, जिससे मन और चेतना का स्वातन्त्र्य बहुत सीमित हो जाता है। वैदिकों की बौद्धों से दूरी तो और भी अधिक है। वास्तव में सांख्य प्रभाव को हटाकर वैदिकों के नीति-निर्णायकतत्त्व को देखना चाहें तो वेद के वचन और मीमांसा के निर्णयों को छोड़कर कोई आधार नहीं रह जाता, जिस पर पाप-पुण्य परिभाषित किए जा सकें। दूसरी ओर मीमांसकों की दृष्टि कभी भी यज्ञों से स्वतन्त्र होती नहीं है। इस स्थिति में धर्म एवं नीति के निर्णय के लिए स्वतन्त्र अवसर समाप्त हो जाता है।

अहिंसा : अनुकूल प्रतिकूल वृत्तियाँ

अहिंसा हिंसा के विरोध में समझी जाती है। इसलिए अहिंसा के स्पष्टीकरण के लिए देखना होगा कि हिंसा का उदय मन की किन परिस्थितियों में होता है और उस परिस्थिति में उसके विरोध में क्या-क्या लक्षण खड़े होते हैं। सामान्यतः हिंसा प्राणातिपात से जानी जाती है। प्राण का अर्थ जीवित या जीवन है, प्राण वह वायु है, जो एक प्रकार की ऊष्मा है, जो शरीर और चित्त के आश्रित है, उसके सातत्य को तोड़ देना उसका अतिपात या पतन करना है। क्षणिकवाद में मृत्यु का अर्थ प्रदीप-निरोध (वर्तमान शरीर के साथ नहीं रहना) अथवा जीवित रहने के संस्कार के निरोध से अधिक नहीं है। हाँ, कोई भी प्राणातिपात दोष के रूप में तब माना जायेगा, जब पहले से उसकी योजना (संज्ञा) हो और पूर्व निश्चित प्राणी ही मारा जाए, इसमें किसी प्रकार का सन्देह या विपर्यय न हो—**"प्राणातिपातः संचिन्त्य परस्याभ्रान्तिमारणम्।"** (अ० को० ४।७३)

मन में यह चेतना आने के लिए यह भी आवश्यक है कि शरीर और वाणी उसमें प्रवृत्त हों, जो मनका माध्यम बने—**"तस्मिं पन पाणे जीवितीन्द्रियुपच्छेदक-उपक्कम-समुट्ठापिका काय-वचीद्वारानं अञ्ञतरद्वारप्पवत्ता वधकचेतना पाणातिपातो"** (अट्ठसा० ८०) और उसकी स्थिति को विज्ञापित करें। बौद्ध लोग किसी मनोवृत्ति की अच्छाई या बुराई के निर्णय के लिए जितने प्रतिबन्ध मानते हैं, उन सबके तीन

विभाजन करते हैं। बुराई के लिए अज्ञान या मोह, स्नेहराहित्य या द्वेष, आसक्ति या लोभ—ये ही अकुशलमूल हैं। अच्छाई के लिए इसके विरोधी कुशलमूल होते हैं।

मोह और द्वेष सदैव किन्तु कभी-कभी लोभ भी वध-चेतना के कारण बनते हैं। इसके सहवर्तियों में अभिध्या के कारण दूसरे के महत्त्व और ऐश्वर्य को देखकर उसे निम्न बनाने की चेतना, जिससे दूसरे की सम्पन्नता अपनी हो जाए, उत्पन्न होती है। व्यापाद से दूसरे के हित-सुख को नष्ट कर देने की चेतना होती है। मिथ्या-दृष्टि विपरीत-बोध है। इससे अच्छा-बुरा समझने वाली प्रज्ञा के विरोध में चेतना उत्पन्न होती है (अट्ठसा० ८३)। अभिध्या, व्यापाद और मिथ्या-दृष्टि के कारण क्रमशः राग, द्वेष और मोह तीव्र हो जाते हैं (अ० को० ४।८४)। अभिध्या आदि तीनों के प्रवाह में जो चेतना तीव्रता से चलती है और काय-वाक् से समुत्थित रहती है, वह स्थिति हिंसा की कही जाएगी। तीनों हिंसा के लिए मानो मार्ग देते हैं—**"त्रयो ह्यत्र पन्थानः"** (अ० को० ४।७८)।

उपर्युक्त प्रकार की चेतना का विरोध या प्रहाण ही शील है। साधारण रूप में इसे शील इसलिए कहते हैं, क्योंकि द्वेषादि के अभाव में मनुष्य को दाह नहीं होता, प्रत्युत शीतलता आती है। यह एक विशेष प्रकार का चित्तकर्म है, जो अपनी क्रिया को विज्ञापित नहीं करता, किन्तु इसमें तीव्र क्रिया-शक्ति रहती है, क्योंकि शील के होने पर व्यक्ति काय-वाक् दुश्चरित से बचते रहते हैं और इसके न होने पर फिर घिर जाते हैं। जिस व्यक्ति में वधक-चित्त उत्पन्न होता है, उसके अन्दर और बाहर एक विशेष प्रकार का कम्पन होता है (वि० मा० म० टी० १२८)। उस कंपन को न होने देना (**कम्पनाभावकरणेन समाधानं**) इसकी सफलता है। (वि० मा० म० टी० १२८)। यह इसलिए हो पाता है कि व्यक्ति भोग-निरपेक्ष होकर ही शील ग्रहण करता है, इसलिए उसमें क्षमाशीलता और सहिष्णुता के साथ महत्त्वपूर्ण आदर्श कार्यों के लिए उत्साह एवं वीर्य बढ़ जाता है। (अ० आ० ३११)। महायान के अनुसार ऐसा शुद्ध व्यक्ति ही परार्थ के लिए प्रस्थान कर सकता है।

कर्म के अचेतन स्वरूप तथा आत्मा के कर्तृत्व की मान्यता के अंश को छोड़कर देखें तो जैन अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप बौद्धों की अहिंसा सम्बन्धी मान्यता से बहुत भिन्न नहीं है। जैनों का 'भावकर्म' चेतन है और वह राग-द्वेष का ही परिणाम है। बौद्धों की तरह जैन भी मानते हैं कि 'भावकर्म' की दृष्टि से यदि हिंसावृत्ति मनुष्य में न हो और बाह्य हिंसा हो भी जाए तो उससे आत्मा कर्मबन्धन का भागी नही होगा। **"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा"** (प्र० सा० ३।१७)। जैन मत में भी चारित्र्य की मान्यता है, जो मनुष्य को हिंसा आदि दुश्चरितों से रोकता

है, आत्मा का दोषों से संवरण करता है। जैन दृष्टि में हिंसा का मूल 'प्रमाद' है। प्रमादवश किया गया प्राणवध हिंसा है। बौद्ध 'प्रमाद' को सुरापान आदि का कारण मानते हैं, किन्तु इसमें दोनों समान है कि मोह, प्रमाद और हिंसा एक ही कोटि के चित्त-धर्म हैं।

सांख्य प्रभावित वैदिक परम्परा में पापों का उद्गम स्रोत चित्त वृत्तियाँ ही मानी गई हैं, जिसे गीताकार ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है **"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।"** (३।५) तथा **"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं ...... काम: क्रोधस्तथा लोभः"** इत्यादि। यद्यपि गीता में इस प्रकार के विरोधी भावों की भी कमी नहीं है कि ईश्वर ही जीव को घुमा रहा है, व्यक्ति अत्यन्त दुराचारी भी है, किन्तु ईश्वर भक्त है, तो परम साधु ही है; फिर भी वैदिक धारा के अन्दर योगियों द्वारा अहिंसा धर्म को समन्वित करने की अनेक चेष्टाएँ की गई हैं। इसका प्रारम्भ उपनिषदों में ही हो चुका था, जबकि छान्दोग्य (३।१७।४) में पुरुष के अन्तर्यज्ञ के रूपक में तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन को उस यज्ञ की दक्षिणा मान ली गई (**यत्तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति दक्षिणाः**) योगवासिष्ठ में वैदिक कर्म का दो विभाग कर दिया बाह्य और आन्तर। आन्तर कर्म की वहाँ श्रेष्ठता इसलिए स्वीकार की गई है कि उसमें हिंसा नहीं है। ईश्वरकृष्ण की तरह से योगवार्तिककार तथा भाष्यकार ने वैध हिंसा को भी पाप माना है **"भाष्यकारश्च वैधहिंसाया अपि पापहेतुत्वं प्रतिपादयिष्यति"**। यहाँ इस ओर विशेष ध्यान देना होगा कि यज्ञ, तप, ईश्वर और आत्मा के चक्रव्यूह में अहिंसा का प्रवेश पाना और उसका वहाँ प्रतिष्ठित होना अहिंसा की क्षमता को प्रकट करता है।

अहिंसा : विधिपक्ष

अब तक के विवेचन से अहिंसा का मानसिक क्षेत्र और विशेषकर उसका निषेधात्मक स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ, जिसे अहिंसा का 'तटस्थ लक्षण' माना जा सकता है। अहिंसा का निषेध पक्ष हिंसा की उपस्थिति पर ही प्रकट होता है। यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना कर लें, जिसकी स्वभावतः ऐसी उदात्त मनोदशा है और इतनी अनुकूल स्थिति है, जिसमें आजीवन उसके समक्ष हिंसा करने की स्थिति ही नहीं आई, तो ऐसी हालत में उससे विरति का प्रश्न ही कहाँ उठेगा? अतः अहिंसा का विधिपक्ष विचारणीय है, जो निषेध की तीव्रता के पीछे शान्त एवं गम्भीर बना रहता है। इस स्थिति को बौद्धशब्दावली में 'अविहिंसा' कहते हैं। अविहिंसा करुणा है। बौद्धों में करुणा का महान् विकास हुआ है। थेरवाद में 'करुणा' मैत्री, मुदिता, उपेक्षा के साथ एक ब्रह्म-विहार है, जिससे किसी के दुःख को देखकर साधु

पुरुष के हृदय में एक प्रकार का कम्पन होता है और जिससे उद्वेलित होकर व्यक्ति उसके दुःख के विनाश की चेष्टा करता है (अट्ठ० १५७ पृ०)। ऐसा व्यक्ति पर के दुःख को सहन नहीं कर सकता और उसके अपनयन में तदाकाराकारित हो जाता है। महायान में यह करुणा 'अप्रमाण' हो जाती है, क्योंकि उसकी साधना का प्रारम्भ दूसरों के दुःख और दुःख कारणों को मिटा देने के प्रणिधान से होता है। इस प्रकार वह सर्वप्रथम प्रणिधि लेता है और फिर उसी दिशा में प्रस्थान कर जाता है। महायान में यह करुणा अपरिमित इसलिए हो जाती है कि वह किसी व्यक्ति को नहीं देखती, अपितु दुःखी जीवप्रवाह को देखती है। अर्थात् कारुणिक के समक्ष दुःखी व्यक्ति नहीं रहता, अपितु दुःख और उसका प्रवाह रहता है, जिसे वह हिंसा का रूप समझता है और उसे दूर करना चाहता है। जब दयालु मनुष्य के सामने व्यक्ति की सीमा रहती है, तब तक उसकी दया का आकार सीमित रहता है, फलतः वह दया महाकरुणा की कोटि में नहीं आती। जब संसार में दुःखसन्तान के दर्शन से उसके विघात के लिए चेतना उत्पन्न हो, उसे ही 'अविहिंसा' या 'करुणा' कहते हैं। इसे वस्त्वालम्बना करुणा अथवा धर्मालम्बना करुणा कहते हैं। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है

"वस्तुधर्मो दयोत्पत्तिर्न सा सत्वानुरोधिनी।" (१।१९७)
"दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदयः।" (१।१९८)

इस अवस्था में मोह अथवा अज्ञान और द्वेष अथवा अमैत्री इसलिए उत्पन्न नहीं हो सकती कि उसके आलम्बन की सीमाएँ व्यक्ति आदि की दृष्टि से ही समाप्त हो गई हैं। इसीलिए एक सीमित दृष्टि से दया को अंगीकार करने वालों के प्रति महायानियों की यह शिकायत है कि ऐसे लोगों की दृष्टि में धर्म और मुक्ति स्वार्थ का साधन मात्र है। इनके द्वारा कोई लोकोपकार का महान् कार्य नहीं हो सकता। इसके विपरीत आदर्श व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और स्वार्थ का लोभ छोड़कर अपने को लोक के अधीन कर देता है। आचार्य धर्मकीर्ति यह स्पष्ट करते हैं कि मन्द करुणा से परार्थता का महान् उद्देश्यपूर्ण नहीं हो सकता—

"मन्दत्वात् करुणायाश्च न यत्नः स्थापने महान्।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा॥" (१।२००)

यह महापुरुष लोक का अकारण वत्सल है, उसने अपने को दूसरों का उपकरण बना दिया है। लोक अङ्गी है, वह अंग है; वह संसार से दुःख के विनाश के लिए निरन्तर महान् यत्न में निरत है। इस कार्य में उसे इतना आनन्द आता है कि वह निर्वाण को तुच्छ और नीरस समझने लगता है **"मोक्षेणारसिकेन किम्।"** अहिंसा

का यही विधि पक्ष है और यही अहिंसक की उच्च मनोभूमि है, जिस पर पहुँचने के लिए प्रारम्भ में ही व्यक्ति में श्रद्धा, अप्रमाद, चित्त में स्फूर्ति, बुरा काम करने पर लोकलज्जा और आत्मग्लानि; शुभ करने के लिए चित्त में उत्साह आदि चेतनागत गुण अपेक्षित होते हैं।

अहिंसा : साधन एवं साध्य

उपर्युक्त विवेचन से अहिंसा जिस गम्भीर और उदार भाव भूमि पर पहुँची है, उसके इस नवीन अर्थ को निषेधप्रधान अहिंसा शब्द बोध कराने में स्वयं असमर्थ प्रतीत होता है। इसलिए बाद में महायान ग्रन्थों में अहिंसा या अविहिंसा का प्रयोग विरल मिलता है, उसके स्थान पर कृपा, करुणा या महाकरुणा, ये शब्द बहुधा प्रचलित हुए। इस नये विराट् अर्थ में प्रयुक्त अहिंसा शब्द सभी प्रकार की उपकारक मनोवृत्तियों, घटनाओं और आचरणों का संग्राहक माना गया। **"धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः"** (चतु: १२।३३, बो० अ० ५।९७)। यहाँ अहिंसा साधन की दृष्टि से भी एक विशेष प्रकार के आचरण के रूप में विकसित हुई है जो आचरण की प्राचीन मर्यादाओं को तोड़ती है। इस विशेष स्थिति में प्रवृत्ति और निवृत्ति, भिक्षु और गृहस्थ का रूढ़ धर्मभेद शिथिल होने लगता है और जीवन में सहजता आने लगती है। किन्तु इस स्थिति में अहिंसा को मात्र साधन कहना कठिन है, क्योंकि इस रूप में यह महान साधन ही जीवन के लिए एक नये साध्य के रूप में प्रकट हो जाता है। यह महापुरुष अहिंसा में प्रतिष्ठित है, इसलिए इसकी मध्यस्थ दृष्टि है, संसार या निर्वाण, व्यवहार या आदर्श में किसी एक में आसक्त नहीं है। यह नीति और धर्म का स्वतन्त्र निर्णय ले सकता है। मान्यताओं के निर्णय लेने में अधिक सक्षम हो जाता है।

अहिंसा की इस भावभूमि का विवरण यद्यपि यहाँ बौद्ध स्रोतों से किया गया है, किन्तु इसकी व्यापकता से अन्य धाराएँ भी अपरिचित नहीं थीं। जैन अहिंसा के लिए 'सामायिक' धर्मों को आवश्यक समझते हैं। सामायिक या 'समता' वह धर्म है, जिसका कोई सीमा-बन्ध नही है। **"दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता"** (तत्त्वार्थसार ४।८०) **"पण्णसमत्ते सया जये समता"** (सू० ग० २।२)। उस समता का कारण आत्मज्ञान एवं आत्मौपम्य है। इस प्रकार की समता के लिए श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र का उत्तरोत्तर विकास आवश्यक है। रागद्वेषादि के अधीन न होकर सामायिक चरित्र का विकास करना जैन साधना के लिए प्रथम आवश्यक है। **णहि णूण पुरा अणुस्सुयं अदुवा तं तह णो समुट्ठियं** (सूयगडो २।२)। चरित्र से एक विशेष प्रकार की माध्यस्थ्य-दृष्टि का विकास होता है, जिससे रागद्वेषादि विनष्ट होते हैं

और मनुष्य में गुणों का उत्तरोत्तर उत्क्रमण होता है। इस क्रम से व्यक्ति असीमता की ओर बढ़ता जाता है। महाभारत में भी अहिंसा की विशालता को बताते हुए कहा गया है कि जैसे हाथी के पैर में सभी पैर समा जाते हैं, वैसे अहिंसा में सभी धर्म और अर्थ अन्तर्भुक्त रहते हैं। अहिंसा का लक्षण करते हुए योगभाष्यकार कहते हैं कि सभी प्राणियों के प्रति सब समय में और सब प्रकार की मैत्री ही अहिंसा है। (**"सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः"** यो० भा० २।३०)। जितने यमनियमादि हैं, उनका मूल कारण अहिंसा ही है, अहिंसा के बिना इनका पालन व्यर्थ है, अहिंसा की सिद्धि के लिए यमनियमादि का अनुष्ठान किया जाता है, और अहिंसा को ही विशुद्ध करने के लिए इनका पालन किया जाता है **"तदवदातरूपकरणायैवोदीयन्ते"** (२।३०)। अहिंसक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत कोई प्रयोजन नहीं है, एकमात्र लोकानुग्रह ही उसका महान प्रयोजन है। **"आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।"** (यो० सू० भा० १।२५)।

अहिंसा : तत्त्वदर्शन

प्राचीन भारत में जहाँ तक अहिंसा का विकास हुआ था और सामाजिक तथा धार्मिक साधना में उसकी प्रतिष्ठा हुई थी, उसके पीछे कौन सी प्रेरक दार्शनिक दृष्टि थी, उसका विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उससे भी विकास की दिशा तथा उसकी सीमा ज्ञात होती है। उसी के आधार पर पुनः विकास की अग्रिम संभावनाओं की भी समीक्षा की जा सकती है। जैन और वैदिक आत्मवादी हैं, अतः दोनों ही आत्मौपम्य के आधार पर ही अहिंसा और समत्वदृष्टि की स्थापना करते हैं। जैनों में ईश्वर का हस्तक्षेप न होने से तथा आत्मा का स्तर-भेद होने से एवं उसमें गुणोत्कर्ष का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने से कर्म-सिद्धान्त के विकास के लिए कुछ तार्किक स्वतन्त्रता मिल जाती है। कर्म के इस स्वतन्त्र क्षेत्र में और ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा के विकास के लिए पर्याप्त अवसर हैं। वैदिकों के आत्मवाद में सबसे अधिक उदार उपनिषदें और गीता समझी जाती हैं। किन्तु उसका सारा जोर इस पर है कि आत्मा अच्छेद्य, अभेद्य है, वह किसी भी विधि-निषेध से प्रभावित नहीं है। मन को अनासक्ति की भूमि पर रखकर शास्त्रानुमोदित हिंसा अथवा अहिंसा कर लेनी चाहिए। कौषीतकी उपनिषद् के मत में आत्मविद् का माप उसके कर्म से नहीं किया जा सकता। माता-पिता के वध से, चोरी या भ्रूणहत्या से भी उसे पाप नहीं लगता। वास्तव में कर्म ऐसे व्यक्ति का एक रोम भी टेढ़ा नहीं कर सकता—**"तस्य मे तत्र न लोम च नामीयते. . . .न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं"** कौषीतकी ३।१)। ऐसी आत्मवादी धारा के साथ सर्वकर्ता एवं सर्वज्ञ ईश्वर भी जुट

जाता है। वह जिसकी अधोगति चाहता है, उससे पाप कराता है और जिसका उन्नयन चाहता है, उससे पुण्य कराता है। **"एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते; एष उ एवैनं असाधुकर्मं कारयति तं यमधो निनीषते।"** [कौ० ब्रा० ३।९]। इस स्थिति में कर्माश्रिय आत्मा तथा कर्मप्रेरक ईश्वर के बीच अहिंसा को जो कुछ अवसर मिल सका, वही पर्याप्त है।

बौद्ध यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि आत्मवाद में अहिंसा के लिए अवसर है। आर्यदेव यह कहते हैं कि नित्य आत्मा के साथ अहिंसा की कौन सी कारणता मानी जाय, क्या वज्र को कीड़ा चट न कर जाय, इसके लिए भी उसकी रक्षा का उपाय ढूँढ़ा जाए ? [चतु: १०।६] इस निबन्ध के मुख्यांश से अहिंसा के सम्बन्ध में बौद्धों का यह विचार स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा का उद्गम आचरण तथा चेतना के क्षेत्र में ही सम्भव है उसका निषेधात्मक रूप शील है, जो विशेष प्रकार की चेतना है। उसके द्वारा व्यक्ति किसी भी प्रकार की हिंसा का विरोध करता है और अपने कुशल व्यक्तित्व को सुरक्षित रखता है। अहिंसा का विधिरूप करुणा है, जो प्रज्ञा या बुद्धि से अभिन्न है, या उससे समर्थित है। आत्मवादी अनन्त आत्माओं में आत्मौपम्य के द्वारा समता लाना चाहते हैं, किन्तु बौद्ध शून्यता के द्वारा आत्मा का महत्त्व तोड़कर 'सर्व' को अपने समक्ष रखते हैं। इसी दृष्टि से आचार्य आर्यदेव कहते हैं, तथागत के धर्मोपदेश का सारतत्त्व दो ही हैं—अहिंसा और शून्यता—**"धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागतः।"** (चतु:शतक १२।३३) शून्यता समता या प्रज्ञा है, करुणा अहिंसा की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार समता या प्रज्ञा के आधार पर ही अहिंसा द्वारा करुणा की प्रतिष्ठा हो सकती है। इस बौद्ध विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अहिंसा का एक पहलू प्रज्ञा है और दूसरा करुणा है। यह सब कुछ मनुष्य के चित्त और भावनाओं का ही स्वतन्त्र स्फुरण है। यह मनुष्य की ही साधना है; उसी का आध्यात्मिक शौर्य है। इसीलिए बौद्धों की दृष्टि आत्मा की अमरता और प्रभु की ईश्वरता की ओर नहीं घूमती। प्रश्न उठता है कि अहिंसा का नित्यवाद से यदि कोई सम्पर्क नहीं है, तो आत्मवादियों में इतना भी अहिंसा का विकास कैसे सम्भव हुआ ? उत्तर स्पष्ट है कि इन बाधाओं के बाद भी अहिंसा का आचरणगत स्वतन्त्र विकास जीवन और समाज की समस्याओं के बीच स्वाभाविक रूप में होता है, जिसमें शाश्वतवादी दृष्टि बाधा डालती है।

यहाँ एक दूसरा विचारणीय प्रश्न उठता है कि अहिंसा का विकास जब इस कोटि तक पहुँच गया था कि व्यक्ति का आदर्श और कर्त्तव्य केवल परार्थ जीवित रहना है और जीवनोपरान्त भी कोई अन्य आदर्श या स्थिति स्वीकार नहीं करना है; तो ऐसी स्थिति में मनुष्य ने समाज, राज्य एवं अन्य राज्यों में स्पर्धा, संघर्ष और

कब्जा करने के आधार पर अज्ञातकाल से प्रचलित व्यवहारों में परिवर्तन क्यों नहीं कर लिया ? इसी का उत्तर हम महात्मा गाँधी के प्रयासों से कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

अहिंसा का उपर्युक्त आदर्श-चित्र चाहे कितना भी गम्भीर और व्यापक क्यों न हो, किन्तु जब तक उसके सामूहिक प्रयोग की विधि नहीं निकलेगी, तब तक अहिंसा के आदर्श से सामाजिक और राजकीय प्रश्न प्रभावित नहीं हो सकेंगे। महात्मा गांधी को अहिंसा के एकांगी-पन का भान था, अतः उन्होंने भारतवर्ष में जीवन के अनेक क्षेत्रों में तथा राजनीति में सामुदायिक आधार पर उसका प्रयोग किया। इन प्रयोगों से अहिंसा की सामूहिकता के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ा और उसके प्रयोग-कौशल का प्रशिक्षण भी मिला। गांधीजी भी अहिंसा को विकास के क्रम में देखते हैं और आगे उसमें विकास का अनन्त अवकाश मानते हैं। वे इन सबके पीछे व्यक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उन्हें एकात्मवाद के आधार पर जीवन की अखण्डता पर विश्वास है। उनका अखण्डता का यह सिद्धान्त जगत् के मिथ्यात्व-सिद्धान्त पर निर्भर नहीं है, अपितु जीव-जगत् सबको सत्य मानते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त प्राणियों को भी वे महत्त्व देते हैं, किन्तु एक सीमा तक ही। जीवन की अखण्डता जगत् के मिथ्यात्व पर आधारित न होने के कारण गांधीजी की अखण्डता जगत् से अतीत और अनिर्वचनीय नहीं, प्रत्युत यथार्थ ही है। इस प्रकार की अखण्डता के अनुबन्ध में व्यक्ति को अनिवार्य रूप से वह खड़ा मानते हैं। इसलिए उनके मत में व्यक्तित्व का स्वरूप और उसका अधिकार एवं कर्तव्य पुराने धार्मिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक व्यक्तिवादियों से बहुत कुछ भिन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का जगत् के साथ स्वाभाविक तथा आदर्श सम्बन्ध वह अहिंसा में ही मानते हैं। इनकी अहिंसा कोई रूढ़ धर्म नहीं, प्रत्युत उनके अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में उसके नए-नए रूपों की संभावना बनी रहती है।

गांधीजी की अहिंसा के तीन प्रकट पक्ष या शर्त हैं—(१) स्वाभाविकता (२) सक्रियता और (३) विवेक। अहिंसा की स्वाभाविकता से उनका अभिप्राय है— जीवन में प्रवहमान व्यापक सत्य को प्रकट करने की क्षमता, जिससे जीवन की अखण्डता का साक्षात्कार हो सके। इस प्रकार अहिंसा की स्वाभाविकता इसमें है कि उससे प्राणियों की मूलभूत एकता प्रकट होती है। इसलिए गांधीजी के शब्दों में "सांसारिक बातों में अहिंसा का आचरण करना उसका सच्चा मूल जानना है।" इसी आधार पर गांधीजी अहिंसा का सत्य तथा धर्म के साथ अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं। वे कहते हैं "अहिंसा और सत्य को एक दूसरे से अलग करना असम्भव है" "जो धर्म व्यवहार की बातों की परवाह नहीं करता और उन्हें हल करने में सहायक नहीं होता, वह धर्म ही नहीं है।"

गांधीजी अहिंसा की अपरिमित शक्तियों के विकास के लिए श्रद्धा को एक मूलभूत तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार जिस श्रद्धा और प्रयास से वैज्ञानिक लोग प्रकृति की शक्तियों की खोज करते हैं, वैसी ही श्रद्धा से अहिंसा की शक्ति की खोज करने और उसके नियमों को काम में लाने की आवश्यकता है। गाँधीजी बुद्धि को सर्वज्ञ नहीं मानते, इसलिए वे जो बुद्धि से परे हो, उसे भी श्रद्धा के अन्तर्गत मानते हैं। उनकी दृष्टि में श्रद्धा आत्मविश्वास है, जो सभी विरोधी हिंसक परिस्थितियों में अहिंसक व्यक्ति को अटूट विश्वास प्रदान करता है। अनुकूल एवं प्रतिकूल फल होने पर श्रद्धा हर्ष और विषाद में उसे धैर्य प्रदान करती है। जिस श्रद्धा को धर्मों ने अज्ञात तत्वों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना, उसे गाँधीजी ने अहिंसा के साथ जोड़कर श्रद्धा को एक वैज्ञानिक खोज का सशक्त उपकरण बताया। इस प्रकार गाँधीजी ने एक ओर श्रद्धा को अन्ध श्रद्धा होने से बचाया, दूसरी ओर अहिंसा के साथ उसे जोड़कर अहिंसा को अधिक सक्रिय बनाया।

गांधीजी के समक्ष दो बातें स्पष्ट थी, (१) अहिंसा एक विकसनशील प्रक्रिया है और (२) उसका प्रयोग व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक भी हो सकता है। वे कहते हैं कि यह मानना गहरी भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही अच्छी है और जनसमूह के लिए नहीं (ह० ५-९-३६)। अहिंसा के विकास के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"मानवजाति ने अहिंसा की दिशा में बराबर प्रगति की है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि उसे उस तरफ और भी ज्यादा बढ़ना है। संसार में स्थिर कुछ भी नहीं है, सब कुछ गतिशील है—(हरि० ११-८-४०)"। अन्यत्र वे कहते हैं—"मेरी राय में अहिंसा केवल व्यक्तिगत सद्गुण नहीं है, वह एक सामाजिक सद्गुण भी है, जिसका विकास अन्य सद्गुणों की भाँति किया जाना चाहिए (यं० इ० ७-१-३८)"। उक्त दो मान्यताओं से सम्बन्धित दो बातें और भी हैं जिन पर गांधीजी जोर देते हैं—(१) व्यक्ति का महत्त्व और (२) जीवन की अखण्डता का सिद्धान्त। व्यक्ति की दृष्टि से वह संख्या का महत्त्व नहीं मानते। गुण का महत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं 'हर एक बड़े ध्येय के लिए जूझने वालों की संख्या का महत्त्व नहीं होता, जिन गुणों से वे बने होते हैं, वे ही गुण निर्णायक होते हैं। संसार के महान् से महान् पुरुष हमेशा अपने ध्येय पर अकेले डटे रहते हैं (यं० इ० १०-११-२९)। गांधीजी जब भक्ति पर इतना जोर देते हैं और साथ में यह भी कहते हैं कि अहिंसा सामुदायिक गुण है तो विरोधाभास मालूम होता है। इसे दूर करने के लिए वे जीवन की अखण्डता का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार परमाणुओं के बीच जैसे संयोजन शक्ति मौजूद है, वैसे ही चेतन प्राणियों में है। वे कहते हैं—जिस प्रकार जड़ प्रकृति में संयोजन-शक्ति है, उसी

प्रकार चेतन प्राणियों में होनी चाहिए। हमें समस्त प्राणियों के बीच उस शक्ति का उपयोग सीखना चाहिए। (यं० इ० ५-५-२०)।

गांधीजी ने अपने को अद्वैतवादी कहा है किन्तु उनके मत में जीवन की अखण्डता जगत् के मिथ्यात्व पर आधारित न होने के कारण गांधीजी की अखण्डता जगत् से अतीत और अनिर्वचनीय नहीं, प्रत्युत यथार्थ है। इस प्रकार की अखण्डता के अनुबन्ध में व्यक्ति को वह खड़ा करना चाहते हैं। इसलिए उनके मत में व्यक्तित्व का स्वरूप उसका अधिकार एवं कर्तव्य पुराने धार्मिक तथा राजनीतिक, दार्शनिक व्यक्तिवादियों से बहुत कुछ भिन्न हो जाता है। वे कहते हैं—"हमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा (ह० २७-५-३९)"। ऐसे व्यक्ति का जगत् के साथ स्वाभाविक तथा आदर्श सम्बन्ध गांधीजी अहिंसा को ही मानते हैं और कहते हैं—"अवश्य ही समाज का नियमन ज्यादातर आपस के व्यवहार में अहिंसा के प्रगट होने से होता है, मेरा अनुरोध इतना ही है कि उसका राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर अधिक विस्तार किया जाए (ह० ७-१-३९)। इसलिए गांधीजी की दृष्टि में अहिंसा कोई रूढ़ धर्म नहीं, प्रत्युत विभिन्न परिस्थितियों में उसके नये-नये रूपों की सम्भावना बनी रहती है।

अहिंसा की सक्रियता से गांधी जी का अभिप्राय उसकी गीतशीलता और तेजस्विता से है। उन्होंने कहा है—"मेरा अहिंसा धर्म अत्यन्त सक्रिय एवं तेजस्वी है—(य० इ० १७-६-२७)।" धर्म अपूर्ण है, इसलिए वह सदा विकसित होता रहेगा और बार-बार उसके नये नये अर्थ किये जाते रहेंगे। केवल ऐसे विकास के कारण ही सत्य और ईश्वर की ओर प्रतिदिन प्रगति करना हमारे लिए सम्भव है—(यरवडा मन्दिर पृ० ३८)। यहाँ ध्यान देने की बात है जिस गतिशीलता और व्यावहारिक अहिंसात्मक साधन से सत्य का साक्षात्कार गांधी जी मानते हैं, वह सत्य भी परिवर्तनशील और व्यावहारिक होगा। साधनरूप अहिंसा से साध्यरूप सत्य के अभिन्न होने का अभिप्राय है कि गांधीजी का सत्य परम्परागत अर्थ से अपरिवर्तनीय एवं नित्य नहीं है। यहाँ तक कि गांधी जी सत्य-शोध के बीच आई हुई भूलों को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—"सत्य ईश्वर का सही नाम है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करे तो उसमें कुछ भी बेजा नहीं है। बेशक वैसा करना उसका कर्तव्य है। फिर उस प्रकार सत्य-पालन में किसी से भूल हो जाती है, तो वह अपने आप ही ठीक हो जाएगी—(म० प्र० १९४५ पृ० २-३)।

अहिंसा की तीसरी शर्त विवेक है। गांधीजी के मत में विवेक शास्त्रवाद और बुद्धिवाद दोनों से भिन्न और व्यापक है। गांधीजी कहते हैं—सत्य किसी धर्म ग्रन्थ

की सम्पत्ति नहीं है। (य० इ० २५-९-३५)। अन्यत्र कहते हैं—"शास्त्रों की रचना करना मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है, मेरा क्षेत्र तो कार्य है, जिसे मैं अपनी बुद्धि से अपना कर्त्तव्य मानता हूँ उसे मैं करता हूँ (ह० ३-३-४६)। बुद्धि के सम्बन्ध में गांधीजी कहते हैं—"कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमें बुद्धि हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती (ह० ३।३७)। गांधीजी विवेक-बुद्धि को ईश्वर की मान्यता देते और कहते हैं—ईश्वर विवेक-बुद्धि है, वह नास्तिक की नास्तिकता भी है (य० इ० ५-३-२५)।" इसीलिए गांधीजी शास्त्रसम्मत ईश्वर को नहीं मानते, वे कहते हैं—संसार में अनेक असत्यों का प्रतिपादन करने वाले साधनों में एक प्रमुख साधन वह शास्त्र भी है, जो ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करता है (ह० २३-३-४०)।

गांधीजी के विभिन्न कालीन उद्धरणों के आधार पर उनकी दृष्टि से अहिंसा का जो स्वरूप प्रकट होता है, उससे निम्नलिखित बातें प्रतिफलित होती हैं—(१) प्राचीन भारतवर्ष में अहिंसा का जैसा स्वतन्त्र और स्वगत विकास हुआ, उस विकसमान स्वरूपता को गांधीजी भी स्वीकार करते हैं। (२) अहिंसा की उस धारा में गांधीजी ने सामूहिक प्रयोग का नवीन कौशल प्रस्तुत किया है। (३) गांधीजी ने अहिंसा के गतिशील सन्दर्भ में ही शाश्वतवादी परम्पराओं से प्राप्त सत्य, धर्म, ईश्वर, आत्मा आदि से सम्बन्धित सभी विश्वासों को जोड़ कर उन्हें भी गतिशील बनाने की चेष्टा की हैं। संक्षेप में गांधीजी का नयापन यह है कि अहिंसा का प्राचीन उपदेश, जिसकी दिशा मानसिक और व्यक्तिगत उन्नति थी, उसे गांधी जी ने सांसारिक बनाया। इससे यह फलित होता है कि अहिंसा की विकसमानता को स्वीकार करके गांधीजी ने उसकी परिवर्तनकारी शक्ति पर लोगों की आस्था पहले से अधिक जगाई है।

अहिंसा का सामूहिक प्रयोग मानवीय इतिहास को गांधीजी की नवीन देन है। किन्तु उनकी अहिंसा के साथ एक विरोधाभास भी लगा है, जिससे अहिंसा कुण्ठित होती है। वह विरोध है अहिंसा के साथ परम्परागत कुछ विश्वासों को जोड़ने का आग्रह करना, जिनमें ईश्वरवाद एवं आत्मवाद प्रमुख हैं। ईश्वर एवं आत्मा की नित्यता के साथ अहिंसा की तीव्र गतिशीलता को जोड़ने का प्रयास उसकी गतिशीलता को बहुत सीमित कर देता है।

गांधीजी विशुद्ध प्रयोगमार्गी थे, स्पष्ट है कि वे बुद्ध आदि की तरह तत्त्व-चिन्तक नहीं थे और न तो उनके विचारों में तत्त्व-मीमांसा बनने की क्षमता है। उनके विचारों के आधार पर योगदर्शन की तरह प्रयोग-दर्शन बनने की संभावना की जा सकती है। जो समाज-धर्मदर्शन होगा। इस प्रयोगदर्शन के पीछे यदि किसी प्रकार का तत्त्व-मीमांसा सम्बन्धी विचार आवश्यक होगा तो उसमें आत्मा, ईश्वर, धर्म

और नीति आदि से सम्बन्धित शाश्वतवादी एवं अपरिवर्तनशील मान्यताएँ सहायक नहीं होगी। फलतः इसके लिए दर्शन की परिवर्तनवादी धारा स्वीकार करनी होगी अथवा आत्मा, ईश्वर आदि को अत्यन्त गतिशील अनित्य तत्त्वों के रूप में प्रतिपादित करना होगा, जो प्रायः असम्भव है।

इस प्रकार प्रयोग-मार्ग की दिशा में गांधीदर्शन बनना अभी बाकी है। इसके दर्शन बनने के लिए गांधीजी की अनुभूतियाँ तथा प्रयोग-विधियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जिनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। गांधीजी को अपने जीवन के ५० वर्षों में समय-समय पर जैसा अनुभव हुआ तदनुसार आचरण किया और तत्काल सबके समक्ष उसे अभिव्यक्त कर दिया। फलतः आगे से पीछे तक उनके बहुत से अनुभवों में और विचारों में विसंगतियाँ मिलती हैं। इन विसंगतियों से बचने के लिए उन्होंने अपने अगले अनुभवों के आधार पर पीछे की बातों को सुसंगत कर लेने का अनेकों बार सुझाव दिया है। वास्तव में उनका यह सुझाव भी उन पर पूरी तरह से लागू नहीं होता। अतः आज के विचारकों पर ही यह भार है कि गांधीजी के सम्पूर्ण उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उनमें अनुस्यूत विचारों के बीच संवाद-सूत्र निकालें और उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि के सारतत्त्व की रक्षा करते हुए बौद्धिक और व्यावहारिक आधार पर उसे समन्वित करें, उसे शास्त्रीयता प्रदान करें। यह भी स्पष्ट है कि शास्त्रीयता लाना गांधीजी को कभी स्वीकार नहीं था, किन्तु विचारों को जीवित रखने का और उनमें स्थायित्व लाने का दूसरा कोई व्यावहारिक मार्ग नहीं है। गांधीजी से सम्बन्धित दिशामें यदि कुछ किसी को करना है, तो उसे यह ध्यान रखना होगा कि उन्हीं के अन्य वचनों से विरोध संभावित है। इसलिए यथा-सम्भव की स्थिति में रहकर ही बौद्धिक ईमानदारी बरती जा सकती है। इसलिए गांधीजी के अध्येताओं का यह कर्तव्य है कि तर्क और परीक्षण के बीच ही गांधी की अहिंसा का स्वतन्त्र विवेचन करें और इस प्रकार गांधी विचारों को नयी-नयी समस्याओं के बीच उज्जीवित रखें और विकसित करें।

०

भदन्त-आनन्द-थेर-कतं

सद्धम्मोपायनं

डॉ. ब्रह्मदेवनारायण शर्मा
प्राध्यापक, पालि एवं थेरवाद विभाग,
श्रमणविद्या संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

सप्ताशीत्यधिकाष्टादशख्रीष्टाब्दे (१८८७ ई०) रिचार्ड मॉरिशमहोदयेन "सद्धर्मोपायनम्" इति ग्रन्थस्य रोमन-लिप्यां सम्पादनं विहितम् । तेन एतत्सम्पादनाय सिंहलीलिप्यां लिखितस्य एकस्य हस्तलेखस्य उपयोगः कृतः । हस्तलेखोऽयं तेन ब्रिटिशसंग्रहालयाद् ओरियण्टलाख्यात् २२४८ संख्याकात् प्राप्तः । पुनस्तेन सिंहलीलिप्यां लिखितेन बतुवन्तुदेवपण्डितेन सानुवादं सम्पादितेन पुस्तकेन मेलनं कृतं, यत् पुस्तकं श्रीलङ्कायाः शास्त्राधारमुद्रणालये १८७४ ख्रीष्टाब्दे प्रकाशितमभूत् । एतस्मिन् सन्दर्भे तस्य कथनमेतत् यत् सिंहलीलिप्यां प्रकाशिते हस्तलिखितपुस्तके तथा सिंहलीलिप्यां मुद्रिते पुस्तके न किञ्चिदन्तरम् ।

रिचार्ड मॉरिशेन सम्पादितं 'सद्धर्मोपायनं' पालि-टेक्स्ट-सोसायटी पत्रिकायां रोमनलिप्यां प्रकाशितं जातम् । पुस्तकस्यास्य देवनागरी-लिप्यामितः पूर्वं प्रकाशनं नैवाऽभूत्, इति कृत्वा प्रथमबारमत्र प्रस्तूयते । ग्रन्थस्यास्य बौद्धजगत्यतिमहत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति । यतो हि अस्मिन् बुद्ध-प्रतिपादितनैतिकमार्गाणामुल्लेखो विद्यते । बौद्धधर्मस्य समेषां प्रधानविषयाणां अस्मिन् गाथामाध्यमेन अभिव्यक्तिरस्ति ।

'सद्धर्मोपायनं' बौद्धधर्मस्य नैतिकमार्गगुणानां नव विंशत्यधिकषट्शतसंख्याभिः (६२९) गाथाभिः वर्णनं प्रस्तौति । विषयवस्तु नैव नूतनं परं शैली तावत् ओजःपूर्णा मौलिकी च । भागाभ्यां द्वाभ्यां एतद्विभज्यते । (१) दुराचारदुष्परिणामः (२) सदाचार-सुपरिणामश्च । बौद्धधर्मस्य समेषां मौलिकसिद्धान्तानां समावेशोऽत्र विद्यते । सिद्धान्तानामेतेषां वर्णनं अतिप्रभावशालि तथा मनन-शीलपद्धत्या कविनोपन्यस्तम् । एकोनविंशतिशीर्षकैः पापदुष्परिणामः, पुण्यफलं, दानप्रशंसनं, शीलप्रशंसनं, अप्रमाद इत्यादिविषयाणां काव्यमयं वर्णनमतिहृदयग्राहि अस्ति ।

सद्धर्मोपायनस्य रचयिता श्रीलङ्कायाः स्थविरः आनन्द आसीत् । अस्यापरं नाम अभयगिरिः कविचक्रवर्ती आनन्द इत्यप्यासीत् । सद्धर्मोपायनस्य हस्तलिखितप्रतिग्रन्थे ६२१ गाथान्ते कथितं यत्—"इति भदन्त-आनन्दत्थेरेन कतं सद्धम्मोपायनस्य सञ्ञाहरणं समत्तं"। एतेन स्पष्टं यदियं रचना भदन्त आनन्दस्थविरस्यैव । डॉ० भरतसिंहोपाध्यायेनापि ऐतदेव स्वीकृतम् । रचनेयं तेन स्वप्रियब्रह्मचारि-बुद्धसोमायोपायनं कर्तुं भिक्षुत्वञ्च अपरिहातुं कृता । परं विमलाचरणलाहामहोदयेन ग्रन्थोऽयं ब्रह्मचारि बुद्ध-सोमेनैव रचितः, इति "हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर" ग्रन्थस्य द्वितीयभागे ६२६ पृष्ठे लिखितम्, किन्तु हस्तलिखितप्रतिप्रमाणेन नोचितं प्रतीयते । बुद्धसोमायोपायनं कर्तुमेव रचनेयं प्रवृत्तेति याथार्थ्यम् । सद्धर्मोपायनस्य रचना-कालमाश्रित्य विद्वत्सु नैकमत्यम् । प्रो० गायगरमहोदयस्य अनुसारेण रचनेयं चतुर्दशशताब्द्यां प्रादुर्भूता डॉ० भरतसिंहोपाध्यायस्य चानुसारेणेयं रचना द्वादश-त्रयोदशशताब्द्याः निकटे जातेति ।

परिचय

१८८७ ई० में रिचार्ड मॉरिश ने "सद्धम्मोपायन" ग्रन्थ का रोमन लिपि में सम्पादन किया था और पालि टेक्स्ट सोसायटी पत्रिका में उसका प्रकाशन हुआ था। श्री मॉरिश ने इसके सम्पादन के लिए सिंहली लिपि में लिखित एक हस्तलेख का उपयोग किया था। यह हस्तलेख ब्रिटिश म्युजियम ओरियन्टल नम्बर २२४८ से उन्होंने प्राप्त किया था। पुनः सिंहली लिपि में लिखित पुस्तक, जिसका सम्पादन अनुवाद के साथ बतुबन्तुदेव पण्डित ने किया था, जिसका मुद्रण एवं प्रकाशन सिलोन (श्रीलंका) के शास्त्राधार प्रेस द्वारा १८७४ ई० में हुआ था, उन्होंने उससे मिलाया था। इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि सिंहली लिपि में हस्तलिखित पुस्तक तथा सिंहली लिपि में छपी पुस्तक में कोई विशेष अन्तर नहीं था। इस सन्दर्भ में रिचार्ड मॉरिश ने जो सूचना दी है वह इस प्रकार है :—

"For the present text of the 'Saddhammopāyana' I have had the use of a Ms. (in Sinhalese writing) in the British Musium, oriental No. 2248, and the very accurate edition (in Sinhalese character) with sann by Batuwantudeva Pandita, Printed at the Sāstrādhāra Press, 1874. The diffrences between the Ms. and the Printed text are not very numerous or important. I have distinguished between va = eva and va = iva by printed va whenever it stands for eva.

रिचार्ड मॉरिश द्वारा सम्पादन के बाद भी 'सद्धम्मोपायन' का नागरी लिपि में प्रकाशन नहीं हो पाया। इसलिए यह यहाँ देवनागरी लिपि में प्रथम बार प्रस्तुत किया जा रहा है। इस ग्रन्थ का बौद्ध जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसमें बुद्ध प्रतिपादित नैतिक मार्गों का उल्लेख है। बौद्ध धर्म के सभी प्रधान विषय इसमें गाथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किये गये हैं।

सद्धर्मोपायन बौद्धधर्म के नैतिक मार्ग के गुणों का ६२९ गाथाओं में वर्णन प्रस्तुत करता हैं। विषय नवीन नहीं है, पर शैली ओजःपूर्ण एवं मौलिक है। इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है :—दुराचार के दुष्परिणाम (२) सदाचार की प्रशंसा या उसके सुपरिणाम। साथ ही बौद्ध धर्म के सभी मौलिक सिद्धान्तों का समावेश भी इसमें हो गया है। इन सिद्धान्तों का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली एवं मननशील ढंग से कवि ने उपन्यस्त किया है। १९ शीर्षकों के अन्दर पाप के दुष्परिणाम, पुण्य फल, दान प्रशंसा, शील प्रशंसा, अप्रमाद आदि का काव्यमय वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है।

सद्धम्मोपायन के रचयिता सिंहली स्थविर आनन्द थे, जो अभयगिरि कवि चक्रवर्ती आनन्द भी कहलाते थे। सद्धम्मोपायन की हस्तलिखित प्रति में ६२१ गाथा के अन्त में कहा गया है कि **"इति भदन्त-आनन्दत्थेरेन कतं सद्धम्मोपायनस्य सञ्ञाहरणं समत्तं"**, इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना भदन्त आनन्द महास्थविर की ही है। इसे डॉ० भरत सिंह उपाध्याय ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने यह रचना अपने प्रिय सब्रह्मचारी बुद्धसोम (बुद्धसोमस्स पियसब्रह्मचारिनो) को भेंट करने के लिए और उन्हें भिक्षुत्व न छोड़ने की सलाह देने के लिए लिखी थी। परन्तु विमलाचरण लाहा ने 'हिस्ट्री ऑफ पालि लिट्रेचर' (के भाग—२ पृ० ६२६) में ब्रह्मचारी बुद्धसोम को इस ग्रन्थ का रचयिता मान लिया है जो हस्तलिखित प्रति के प्रमाण पर उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः बुद्धसोम को तो भेंट करने के लिए यह रचना लिखी गई थी।

सद्धम्मोपायन के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतैक्य प्रतीत नहीं होता। प्रो० गायगर के अनुसार इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई। परन्तु डॉ० भरत सिंह उपाध्याय इसकी रचना बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आसपास मानते हैं, जो समीचीन जान पड़ता है।

कालान्तर में 'सद्धम्मोपायन' का स्वतन्त्ररूप से सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित होना अपेक्षित है, जिसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में भी विस्तार से विचार किया जाये।

—ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

विषयानुक्रम

१.	अक्खण-दीपनगाथा	...	४
२.	दस-अकुसलपथ-आदीनवगाथा	....	५३
३.	पेत-दुक्खवण्णनागाथा	....	९७
४.	तिरच्छानदुक्खवण्णनागाथा	...	१२९
५.	पापादीनवगाथा	....	१७६
६.	पुञ्ञफल-उद्देसगाथा	....	२११
७.	दानानिसंसगाथा	....	२६३
८.	सीलानिसंसगाथा	....	३३७
९.	भावनानिससगाथा	....	४५१
१०.	पत्तिदानानिसंसगाथा	...	४९७
११.	अनुमोदनानिसंसगाथा	....	५१०
१२.	देसनानिसंसगाथा	....	५१७
१३.	सवनानिसंसगाथा	....	५२८
१४.	पूजानिसंसगाथा	....	५३९
१५.	वेय्यावच्चानिसंसगाथा	...	५५५
१६.	सम्पहंसनानिसंसगाथा	....	५६३
१७.	सरणानिसंसगाथा	....	५६७
१८.	अनुस्सरणानिसंसगाथा	....	५८०
१९.	अप्पमादानिसंसगाथा	....	५८८

—

सद्धम्मोपायनं

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।

सब्बासवविनिम्मुत्तं सब्बसाधुगुणाकरं ।
सब्बलोकगरुं वीरं हितं अमतमग्गदं ॥१॥

सब्बादरेन वन्दित्वा सम्मासम्बुद्धमादितो ।
अथ धम्मञ्च सङ्घञ्च सद्धाय मुद्धना अहं ॥२॥

सद्धम्मोपायनं किञ्चि रचयिस्सामि पेसितुं ।
नामतो बुद्धसोमस्स पियसब्रह्मचारिनो ॥३॥

१. अक्खण-दीपन-गाथा

अट्ठक्खणविनिम्मुत्तं खणं परमदुल्लभं ।
उपलद्धेन कत्तब्बं पुञ्ञं पञ्ञवता सदा ॥४॥

तयो अपाया आरूप्पासञ्ञं पच्चन्तिमम्पि च ।
पञ्चिन्द्रियानं वेकल्लं मिच्छादिट्ठि च दारुणा ॥५॥

अपातुभावो बुद्धस्स सद्धम्मामतदायिनो ।
अट्ठक्खणा असमया इति एते पकासिता ॥६॥

कारेन्तो कम्मकरणं निरये अतिदारुणं ।
भयानकं भुसं घोरं कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥७॥

सद्धम्मसञ्ञारहिते सदा उब्बिग्गजीविते ।
तिरच्छानभवे सन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥८॥

गन्त्वान पेत्तिविसयं सन्तापपरिसोसितो ।
खुप्पिपासापरिस्सन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥९॥

आरूप्पासञ्ञालोकेपि सवणोपायवज्जितो ।
सद्धम्मसवणाहीनो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥१०॥

अच्चन्ताधम्मबहुले मुनिन्दसुतवज्जिते।
पच्चन्तविसये जातो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥११॥

जळो मूगादिको वापि विपाकावरणे ठितो।
गहणोपायरहितो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥१२॥

पक्खन्तो पापिकं दिट्ठिं सब्बथा अनिवत्तियं।
संसार-खाणुभूतो हि कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥१३॥

बुद्धादिच्चे अनुदिते सिद्धिमग्गावभासके।
मोहन्धकारे वत्तन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥१४॥

यं भावनामयं पुञ्ञं सच्चाभिसमयावहं।
तस्स अनोकासभावेन एते अक्खणसम्मता ॥१५॥

अट्ठक्खणविनिमुत्तो खणो परमदुल्लभो।
तं लद्धा को पमज्जेय्य सब्बसम्पत्तिसाधकं ॥१६॥

अवेकल्लमनुस्सत्तं बुद्धादिच्चाभिमण्डितं।
सुदुल्लभतरं तम्हि खणे निब्बानसिद्धिया ॥१७॥

हेतुदुक्करतो चेव सारतो च महग्घतो।
महासारं व रतनं मनुस्सत्तं सुदुल्लभं ॥१८॥

मनुस्सत्तस्स हेतुहि पुञ्ञं तं अतिदुक्करं।
लोके हि पुञ्ञकामानं मन्दता तस्स साधिका ॥१९॥

पुञ्ञस्स दुक्करत्तञ्च अपुञ्ञसुकरत्तनं।
घरं कत्वान दानेन दहनेन च वेदियं ॥२०॥

पापे अनादरेनापि सततं वत्तते मनो।
पुञ्ञे अच्चादरेनापि नदिया साधितब्बकं ॥२१॥

यथा दिस्सन्ति सम्पुण्णा अपुञ्ञाफलभूमियो।
तथा पुञ्ञा न दिस्सन्ति पुञ्ञानं फलभूमियो ॥२२॥

पिपीलिकानं पुञ्जो हि बिला एका विनिग्गतो।
किं नु सो नातिरिच्चेय्य मनुस्से जम्बुदीपके ॥२३॥

पुञ्ञस्स दुक्करत्ता व मनुस्सत्तं सुदुल्लभं।
बीजाभावे फलाभावो अलं तं पटिभावितुं ॥२४॥

यं यं हि सम्मतं लोके तत्थ तं सारसञ्ञितं।
ततो सारं मनुस्सत्तं साधुसम्मतभावतो ॥२५॥

उळारफलदं कम्मं निब्बानावहमेव च।
इध इज्झति सब्बं ति ञेय्या एत्थ महग्घता ॥२६॥

एवमादीहि हेतूहि मनुस्सत्तं सुदुल्लभं।
तस्सालाभे तु सग्गादि सम्पत्ति चेव[1] दुल्लभा ॥२७॥

अच्चन्तलामकायापि अत्तत्थपटिपत्तिया।
लभनीयं मनुस्सत्तं यदि एवं सुदुल्लभं ॥२८॥

अथो अच्चन्तसेट्ठाय परत्थपटिपत्तिया।
दुक्करत्तस्स उपमा तिलोके पि न विज्जति ॥२९॥

पुत्तस्स दुक्खं कत्वापि लोके अत्तसुखत्थिके[2]।
परत्थं पटिपज्जन्तो को हि नाम भविस्सति ॥३०॥

असन्थुतस्स लोकस्स सरणं ति अयाचितो।
अकतञ्ञुस्स दुट्ठस्स को सिया भारवाहको ॥३१॥

नरकङ्गारमज्झम्हि ठपेत्वा सीतलं जलं।
को चिरमनुरक्खेय्य सीतीभावं अनिद्धिमा ॥३२॥

तथेव सत्तदोसग्गिसम्पदित्ते भवावटे।
करुणासीतलीभावं पालयिस्सति को चिरं ॥३३॥

परानुभवियं दुक्खं सब्बमत्तनि रोपितुं।
येसं निच्चं अविच्छिन्नो विमोक्खन्तो मनोरथो ॥२४॥

रज्जदानोचिततया[3] बुद्धरज्जं असङ्कमं।
अददन्ता चिरं ठातुं लज्जितावाभिनिब्बुता ॥३५॥

१. Ms. चापि, B. चेव।
२. Ms. अत्थिको।
३. Ms. रज्जदानो उचित्तायो The Sannadivides रज्जदानो-चितताय into रज्जदाने and उचितताय।

ये परत्थपरा लोके वीरा सारगुणाकरा ।
दुक्करत्तं हि विञ्ञाता को तेसं पटिपत्तिया।।३६।।

अवीचीव निरस्सादं लोकं ञत्वा दुखद्दितं ।
केवलं परसत्तत्थं को समत्थोवगाहितुं ।।६७।।

येसं नेत्तादिदानेसु पस्सन्नरुहिरस्स च ।
समानभावं नोपेन्ति चतुरोपि महण्णवा ।।३८।।

तेसं पुञ्ञेकदेसम्पि सद्धाताहि सुदुल्लभो ।
कातुं तस्सादरं कत्वा को हि नाम भविस्सति ।।३९।।

एवं सुदुल्लभत्ता व परत्थपटिपत्तिया ।
बुद्धादिच्चोदयो चापि मतो अच्चन्तदुल्लभो ।।४०।।

बुद्धादिच्चे अनुदिते मग्गं निब्बानसाधकं ।
ब्रह्मिन्दचन्दादिच्चापि न सक्कोन्ति विभावितुं ।।४१।।

यथाट्ठानसभावाय गरुभावेन लेड्डुया ।
उद्धं खेपेन आकासे ठानं अत्तिपरित्तकं ।।४२।।

दोसेहि सीदापेन्तस्स तथेवापायभूमियं ।
अतीव बहुकं ठानं मन्दं सुगतियं मतं ।।४३।।

एकपुग्गलसुत्तेन काणकच्छोपमेन[1] च ।
उभिन्नं दुल्लभत्तं हि वेदितब्बं विजानता ।।४४।।

उभयेसं समायोगो खणो अच्चन्तदुल्लभो ।
अत्तदत्थपरो विञ्ञू न विरोधेय्य तं खणं ।।४५।।

खणस्स दुल्लभत्ता व बुद्धपुत्ता अतन्दिता ।
कामं तचो नहारु च अट्ठि च अवसुस्सतु ।।४६।।

अदिस्वा अच्चुतं सन्तं पदं सम्बुद्धदेसितं ।
न ताव पल्लङ्कमिमं भिन्दिस्साम कथञ्चन ।।४७।।

इति सब्बादरेनापि भावेत्वा मग्गमुत्तमं ।
खणभङ्गभयातीतं पत्ता परमनिब्बुतिं ।।४८।।

---

१. काणकच्छोपमेन for काणकच्छपोपमेन, See थेरीगाथा ५०० Com. P. २१५ ।

तेसं परमवीरानं उस्साहोव[1] अचिन्तियो ।
किं न दीपेति अम्हाकं खणग्गस्सातिपातकं[2] ॥४९॥

दुल्लभमतिपातिञ्च लद्धा ठानमिमं बुधो ।
जीविते जालमज्झट्ठमकसस्सेव अप्पके ॥५०॥

अप्पस्सादेसु भोगेसु निस्सारेसु पभङ्गुसु ।
सब्बदा अघमूलेसु असज्जन्तो कथञ्चन ॥५१॥

जनो जीवितुकामो व विदितं विसभोजनं ।
पापं सम्परिवज्जेत्वा पुञ्ञकम्मरतो सिया ॥५२॥

अक्खण-दीपन-गाथा समत्ता ।
पठमो कण्डो ।

२. दस-अकुसल-आदीनवगाथा

पापं ति लोभमोहेहि दोसमोहेहि वा पुन ।
सुद्धमोहेन वा युत्ता चेतना पापसञ्ञिता ॥५३॥

पापचेतनाजातानि द्वारत्तयवसेन च ।
अपुञ्ञकिरियवत्थूनि दस होन्तीति दीपये ॥५४॥

हिंसा थेय्यञ्ञदारानं गमनं कायिका मता ।
मुसा पेसुञ्ञफरुसं सम्फवाचाहि[3] वाचिका ॥५५॥

अभिज्झा चेव व्यापादो मिच्छादिट्ठि च मानसा ।
एते कम्मपथप्पत्ता असम्पत्ता च वेदिया ॥५६॥

हिंसादिभावासम्पत्ता पापचेतनसम्भवा ।
कम्मपथं असम्पत्ता वेदियारोधनादिका ॥५७॥

---

१. Ms. च B. व ।
२. खणग्गस्सातिपातनं ।
३. B. सम्पवाचाहि ।

सत्ते सत्तोति सञ्ञा च वधकचित्तमुपक्कमो ।
तेन जीवितनासो च सहत्था चतुरङ्गिको ॥५८॥

यथाधिप्पाय-आणत्ति तथा तं सम्पटिच्छनं ।
पटिञ्ञं अविनासेत्वा तथा व करणम्पि च ॥५९॥

पयोगं हेट्ठा वुत्तेसु छड्डेत्वा सह तेहि च ।
छळङ्गाणत्तिया होति पाणहिंसा ति दीपये ॥६०॥

परपरिग्गहभण्डो च परपरिग्गहसञ्ञिता ।
देय्यादिस्वेकचित्तञ्च ठाना चावनमेव च ।
पयोगो चेति पञ्चङ्गमदिन्नं साहत्थिकम्मतं ॥६१॥

यथाधिप्पायमाणत्ति तथा तं सम्पटिच्छनं ।
पटिञ्ञं अविनासेत्वा तथा व करणम्पि च ॥६२॥

ठाना चावम्पयोगञ्च अपनेत्वान पञ्चसु ।
छळङ्गमाणत्तिया होति अदिन्नन्ति पदीपये ॥६३॥

परपरिग्गहितित्थी च परपरिग्गहसञ्ञिता ।
अतिकम्मनचित्तञ्च तथेवातिक्कमो पि च ।
एवम्परस्स दारेसु चतुरङ्गो अतिक्कमो ॥६४॥

लद्धिगूहनचित्तञ्च वाचा तदनुलोमिका ।
वचनत्थपटिवेधो[1] च मुसावादो तिवङ्गिको ॥६५॥

पत्थेन्तस्स पियत्तम्पि भेदाधिप्पायकस्स च ।
भेदानुलोमिका वाचा पेसुञ्ञन्ति पकासिता ॥६६॥

परं खो भेतुकामस्स दुट्ठचित्तस्स जन्तुनो ।
अनिट्ठसावनं वुत्तं फरुसन्ति पजानता ॥६७॥

निरत्थिककथा या हि रागदोसाभिवड्ढनी ।
तं रत्तस्स अकालेन भासना सम्फसञ्ञिता[2] ॥६८॥

१. B. पटिवेदो ।
२. B. सम्पसञ्ञिता ।

अञ्ञाय पत्थना या हि परोपकरणादिसु ।
लोभादिमत्ततो या हि अभिज्झाति पकासिता ॥६९॥

या सम्पदुट्ठचित्तस्स अनत्थाहितकामता ।
ब्यापादो ति समक्खातो अब्यापन्ने हि सब्बथा ॥७०॥

अनत्ताभिनिवेसो यो नत्थि दिन्नन्ति आदिना ।
मिच्छादिट्ठी ति अक्खातो सम्मादिट्ठिविपक्खिको ॥७१॥

इमेसु खलु वत्थूसु निब्बत्ता कम्मसञ्ञिता ।
चेतनानिट्ठफलदा तं कथमिति चे वदे ॥७२॥

कम्मविपाकञाणं हि बुद्धञाणन्ति भासितं ।
न सुबुद्धन्तु[1] अञ्ञेसं तदञ्ञो को हि ञस्सति ॥७३॥

वचनं अनुगन्त्वान तस्सेवादिच्चबन्धुनो ।
गरूपदेसं लद्धेन अनुमानेन वेदियं ॥७४॥

दस चापुञ्ञवत्थूनि यथा फलवसेन हि ।
पबलानि अपायेसु फलदानितरानि तु ॥७५॥

मनुस्सेसु हि जातस्स यथा बलवसेन च ।
यथा पच्चयतो वापि फलदानि कथन्ति ते ॥७६॥

हिंसा अप्पायुकत्तञ्च बव्हाबाधत्तनम्पि च ।
वियोगदुक्खबाहुल्यं जने तुब्बिग्गवासतं ॥७७॥

दलिद्दियञ्च दीनत्तं आसाभङ्गञ्च दारुणं ।
अञ्ञायत्तप्पवत्तिञ्चादिन्नादायी लभे नरो ॥७८॥

सपत्तबहुलो होति सदा चापत्थितित्थिको ।
इत्थि वा पण्डको वापि परदाररतो नरो ॥७९॥

[2]वाचनादुक्खखिन्नो च अभूतक्खाणताळितो ।
असद्धियो सुदुग्गन्धमुखो होति मुसारतो ॥८०॥

---

१. Ms. सुदुब्बुद्ध । B. न सुबुद्ध ।
२. Ms. वञ्चना ।

सुसम्बद्धापि तस्सीध मित्ता भिज्जन्त्यकारणा[1] ।
पियसुञ्ञकरं यो हि पेसुञ्ञमकरी पुरा ॥८१॥

दिट्ठविद्देसनीयो चास्सवनीयखरस्सरो ।
होतीहाकतदोसोपि फरुसाभिरतो पुरा ॥८२॥

असम्बन्धङ्गपच्चङ्गो अनादेय्यवचो पि च ।
सम्फप्पलापं यो पुब्बे अवदि अप्पयोजनं ॥८३॥

यं यं इज्झति[2] साधेतुं न तं तस्सेह [3]इज्झति ।
अञ्ञायेनञ्ञ[4] अत्थेसु यो[5] भिज्झमकरी पुरा ॥८४॥

विरूपो होति अच्चन्तं विसमाबाधपीळितो ।
अप्पियो च मनुस्सानं यो व्यापादरतो पुरा ॥८५॥

निहीनासुचिभोगेसु रतो मन्दो जळो पि च ।
दुट्ठरोगी कुदिट्ठी च मिच्छादिट्ठि सिया नरो ॥८६॥

केचीध मज्जपानेन सह एकादसेति च ।
वदन्ति तं अनत्थत्थसेवनं लोभमोहजं ॥८७॥

उम्मत्तो खित्तचित्तो च नीचवुत्ति महाजळो ।
अवञ्ञातो च होतीध मज्जपायी पुरा नरो ॥८८॥

दलिद्दो मच्छरी होति बव्हाबाधी विहेठको ।
अप्पेसक्खो सदा होति यो इस्सामानको पुरा ॥८९॥

थद्धो वञ्ञातकुलजो जळो अपरिपुच्छको ।
कुक्कुरादिवताचिण्णो कुक्कुरादि-सहव्यतं ॥९०॥

उपपज्जति इच्चेवमनन्तं पापजं फलं ।
वीमंसित्वान विञ्ञेय्यं सुत्तमग्गानुसारतो ॥९१॥

---

१. Ms. मित्ताभिज्जन्ति कारणा ।
२ Ms. यं यं निज्झाति ।
३. Ms. तस्सेव इज्झति ।
४. Ms. अञ्ञायेनाञ्ञ ।
५. Ms. 'यो' नत्थि ।

मयूरचन्दकस्सापि विचित्ता[1] चित्तकम्मजा।
तं तं तथेव विञ्ञाता मो व लोकग्गपुग्गलो ॥९२॥

पापा आसेविता येहि ते अपायेसु जायरे।
न अक्खातेन पत्तब्बं तत्थ दुक्खमनोपमं ॥९३॥

येन येन पकारेन यं यं पापं कतं पुरा।
तस्स तस्सानुरूपं व फलं होति असाहियं ॥९४॥

दुस्सहो दुब्बचो घोरो दुरन्तो दुरतिक्कमो।
अक्खमो अतिदुक्खो ति अपायो भायितब्बको ॥९५॥

लोभाधिकेन पापेन पेतलोकेसु जायरे।
मोहाधिकेन तिरिये निरये दोसाधिकेन हि ॥९६॥

३. पेत-दुक्ख-वण्णना-गाथा

असंविभागसीला ये यथासत्ति यथाबलं।
इस्सालुका मच्छरिनो ते पेतेसूपजायरे ॥९७॥

अज्जनादीनि दुक्खानि अनुभोत्वापि अज्जिता।
अन्ते लोभाधिग्गहीता[2] यदि पेतभवावहा ॥९८॥

अत्था-अत्थाति लोको हि किमत्थमभिजप्पति।
आदिमज्झन्तभावेसु ये अनत्थावहा इमे ॥९९॥

सकम्मवारितन्नापा आहारत्थमतन्दिता।
इतोचितो च पयता इति पेता ति सह्निता ॥१००॥

खुप्पिपासापरिस्सन्ता किसा थूलसिरा तथा।
दिस्समानट्ठिसण्ठाना विरलन्तरफासुला ॥१०१॥

१. Ms. चित्तता, B. विचित्ता।
२. Ms. लोभाधिग्गहीतान्ते।

पिट्ठिकण्टकमल्लीन-परिच्छातोदरत्तचा ।
अपक्कसुक्खलापूववल्लिता कुञ्चिता सता ॥१०२॥

तचट्ठिन्हारुसेसङ्गा परिनिन्नक्खिगण्डका ।
दीघव्याकुलकेसेहि अन्धकारीकताननां[1] ॥१०३॥

परूळ्हकच्छनखलोमा लूखकण्हवलित्तचा ।
विरूपतेव[2] एकत्थ पिण्डिता सब्बलोकिका ॥१०४॥

पच्छानुतापदुक्खेन अच्चन्तपरिसोसिता ।
पच्चक्खतो अलक्खिया इति दिट्ठेहि लक्खिया ॥१०५॥

अनच्छादितकोपीना अलद्धन्नलवोदका ।
जिघच्छापरिदाहेन परिस्सन्ता सयन्ति ते ॥१०६॥

नेकवस्ससहस्सेसु तेसं आसाविवद्धनो ।
एहि भुञ्ज पिबाहीति सद्दो सूयति रित्तको ॥१०७॥

असमत्थापि ते सब्बे अथोदनजलासया ।
महादुक्खेन वुट्ठन्ति अञ्ञोञ्ञमवलम्बिय[3] ॥१०८॥

उट्ठानतुरिता पेता व्यठन्ता पतमानका ।
परिमोचेन्ति आलग्गे असमत्थतया तया ॥१०९॥

पवेधमानं अबलं पबलो त्वं पलम्बसि ।
अहो निक्करुणोसि त्वं इति सामानि योजिय ॥११०॥

उट्ठहित्वा पतन्ते ते जलच्छाया व चञ्चले ।
अलद्धपुब्बलोभासा उट्ठापेति पुनप्पुनं ॥१११॥

अट्ठिसङ्घाटमत्तानं उट्ठानव्यसनं कथं ।
अनुस्सरन्तो धारेय्य जीवितं करुणापरो ॥११२॥

अज्ज अम्हेहि सद्दोयं यतो जातेहि सूयति ।
ओदनं उदकं चेति अस्ससिङ्गो व अब्भुतो ॥११३॥

---

१. Ms. अन्धकरकताननां ।

२. Ms. विरूपतोव । B. विरूपतेव According to Sanna विरूपिता इव ।

३. Ms. अञ्ञमञ्ञावलम्बिय ।

इति ते पबदन्ता व पटिच्छन्ता व अञ्जलिं ।
अपस्सन्ता व दातारं धावन्ति दिसतोदिसं ॥११४॥

ततो मुहुत्तमत्तेन तेसं आयासकारको ।
कण्णे दड्ढसलाका व नत्थि सद्दोपि विज्झति ॥११५॥

किं न सोस्सन्ति ते पेता नत्थि सद्दं सुदारुणं ।
येहि सन्तेसु देय्येसु खित्ता नत्थीति याचका ॥११६॥

ते विसादपरिस्सन्ता सभावेनापि दुब्बला ।
पतन्ति तालाछिन्ना व विच्छिन्नासा विसञ्ञिनो ॥११७॥

यं जिघच्छादुखं लोके एकाहच्छिन्नभत्ततो ।
दुस्सहं तञ्च पेतानं को दुक्खं चिन्तयिस्सति ॥११८॥

केसिञ्चि रोमकूपेहि जालामाला समुट्ठिता ।
दहन्ति सकलं देहं अग्गिजाला व सासयं ॥११९॥

कुच्छिजिघच्छादाहेन बाहिरं देहजग्गिना ।
चित्तं पच्छानुतापेन पेतानं दय्हते सदा ॥१२०॥

विच्छड्डितं नुट्ठुभितं विजातानञ्च यम्मलं ।
यदञ्ञञ्चापि असुचि लोकेनातिजिगुच्छियं ॥१२१॥

तदत्थञ्चापि ते पेता धावन्ता नेकयोजनं ।
अच्छिन्दित्वान अञ्ञोञ्ञं लभन्ति न लभन्ति च ॥१२२॥

छाया आतपतं यन्ति रित्तत्तञ्च महासरा ।
उण्हा च होन्ति पेतानं वाता पकतिसीतला ॥१२३॥

फुसन्ति अग्गिजाला व सिसिरा चन्दरंसियो ।
सब्बं विपरिययं होति यं लोके साधुसम्मतं ॥१२४॥

पेतलोकभवं दुक्खं अनन्तं सन्तजीविका ।
कथन्नु वण्णयन्तीह बिन्दुमत्तं व वण्णितं ॥१२५॥

एवं खुधापरेतानं पेतानं दुक्खजीविनं ।
इच्छाविघातं दुक्खं किं नरकं नातिरिच्चति ॥१२६॥

विदित्वा पेत्तिविसये दुक्खं लोभोपपादितं।
लोभसत्तुविनासाय कतुस्साहो हि पञ्ञवा ॥१२७॥

दानं सत्थं सहाया मे पटिग्गाहाति चिन्तिय।
समंसमपि[1] दीनानं ददेय्य अविसङ्कितो ॥१२८॥

४. तिरच्छान-दुक्ख-वण्णना-गाथा

दुन्निग्गमे महादुक्खे तिब्बरागे महाभये।
विधम्मसञ्ञे जायन्ति तिरच्छानेपि पापतो ॥१२९॥

तिरियतो एव चिन्तेन्ति गच्छन्ति च सयन्ति च।
तिरोगतिच्छा धम्मेसु तिरच्छाना ततो मता ॥१३०॥

तिरच्छजातिसङ्खाहि कतत्थेहि पि दुक्करा।
तासु दुक्खं महत्तं को सकलं वण्णयिस्सति ॥१३१॥

पूतिमच्छे वणेवापि तथा चन्दनिकाय वा।
कुठितासुचिदुग्गन्धफेनिले समले हि वा ॥१३२॥

केचि सत्ता विजायन्ति जायन्ति विचरन्ति च।
खादन्ति कामं सेवन्ति सयन्ति च मियन्ति च ॥१३३॥

अथो इमस्मिं देहे पि सकलासुचि-आकरे।
असीतिकुलमत्तानि किमीनं नियतानि हि ॥१३४॥

तेसं सपुत्तनत्तानं यतो सूतिघरोप्ययं[2]।
पवुड्ढि कलहट्ठानं चङ्कमो सयनीघरो ॥१३५॥

खादनीयम्मलट्ठानं रोगभोगादिभूमि च।
देहविच्छड्डुनट्ठानं सुसानं च इदं यतो।
ततो देहे विरज्जन्ति न रज्जन्ति विपस्सिनो ॥१३६॥

---

१. Ms. पि च। B. अपि।

२. Ms. अयं। B. प्ययं।

अच्चन्तासुचिजातानं अमेज्झाहारभोजनं[1] ।
चिन्तापुच्छङ्गनकरी किमु तज्जातिदस्सनं ॥१३७॥

जाता खलु तिरच्छाने थलजज्जलजा पि वा ।
अञ्ञोन्नम्पि भीता व सयन्ति विचरन्ति च ॥१३८॥

वाललोमनखन्हारूमंससिङ्गट्ठिकादिनं ।
कारणा केचि निद्दोसा मरीयन्ति अनेकधा ॥१३९॥

चम्मुप्पाटनदुक्खेन फन्दन्ता गावि-आदयो ।
यं दुक्खमधिगच्छन्ति का नु तस्सोपमा सिया ॥१४०॥

विज्झित्वा अक्खियुगलं विलम्बित्वा अवंसिरा ।
नियन्ता मारणत्थाय दुक्खं पप्पोन्ति अण्डजा ॥१४१॥

सजीवा व जले उण्हे खिपित्वा पच्चमानका ।
यं दुक्खमधिगच्छन्ति तं को खलु मिनिस्सति ॥१४२॥

अदिट्ठपुब्बत्थलका अविच्छिन्नोदके रता ।
निद्दयेहि मनुस्सेहि सजीवा व समुद्धटा ॥१४३॥

निहिता लुख-पंसुम्हि[2] पासानेन समुत्थटा ।
समुद्दितापातुरिता खुप्पिपासाबलाहटा ॥१४४॥

करुणं परिकुजन्ता समातापितुबन्धवा ।
अलद्ध-परिवत्तन्ता अनन्तरितवेदना ॥१४५॥

यं दुक्खमधिगच्छन्ति निद्दोसा सङ्खसिप्पिका ।
तेसं दुक्खलवंसम्पि नाहं सक्कोमि दीपितुं ॥१४६॥

वहन्ति अवसा केचि दण्डंकुसकसाहता ।
पतोदपण्हिपानीहि बहुसो परितज्जिता ॥१४७॥

बद्धानेकेहि रज्जूहि अलद्धछन्दचारिनो ।
पबला दुब्बले सत्ते सकम्मपरिनामिता ॥१४८॥

---

१. Ms. अवेज्झाहारभोजिनं ।
२. Ms. खलुपंसुम्हि ।

येसं सब्बं परायत्तं छन्दचारो न विज्जति ।
तेसं दुक्खस्स परियन्तं तदञ्ञो को हि ञस्सति ॥१४९॥

केचि युत्ता रथधुरे नङ्गले सकटे हि वा ।
वहन्ति वणितक्खन्दा तज्जिता अतिभारियं ॥१५०॥

नाहं सक्कोमि वहितुं उण्हो छातो पिपासितो ।
भारियं ति च वत्तुम्पि येसं सत्ति न विज्जति ॥१५१॥

तेसं आरोपयित्वान अविसय्हं महाभरं ।
असमत्थे ठिते दीने ताळयन्ति पुनप्पुनं ॥१५२॥

कड्ढन्ति नासारज्जूहि[१] वालं निब्बेठयन्ति च ।
निब्बिज्झन्ति पतोदेहि पण्हीहि पहरन्ति च ॥१५३॥

दहन्ति वालमूलंसपिट्ठिपस्सोदरादिसु ।
कण्णे छिन्दन्ति तज्जन्ति विलिक्खन्ति च सब्बसो ॥१५४॥

ते भीता उट्ठहन्ता च पतन्ता असमत्थतो ।
यं दुक्खमधिगच्छन्ति को नु तं दीपयिस्सति ॥१५५॥

तिरच्छानेसु लोकेन देवतासाति सम्मता ।
रसग्गस्सोपदानेन माता व परिपोसिता ॥१५६॥

मनुञ्ञा मङ्गला पुञ्ञा सुद्धिदाति च सञ्ञिता ।
तासम्पि दुक्खमतुलं तत्थ अञ्ञेसु का कथा ॥१५७॥

पादे खानुसु बन्धित्वा कत्वा अग्गिं समन्ततो ।
तसिते पुन पायेत्वा दुप्पेय्यं लवणोदकं ॥१५८॥

विरित्ते पुन पायेत्वा सुदुक्खं कटुकोदकं ।
महादण्डेहि नेकेहि आकोटेत्वान[२] निद्दयं ॥१५९॥

जीवदाहं विदय्हन्ता यवने[३] गवि आदयो ।
महादाहपरिस्सन्तो पस्सन्तो[४] पापजं फलं ॥१६०॥

---

१. Ms. नासारज्जूहि । B. नास्नारज्जुम्हि ।
२. B. आकोट्टेत्वान ।
३. Ms. यावने ।
४. Ms. पस्सन्ता ।

विस्सरं विरवन्ता'व निस्ससन्ता'व आयतं ।
मिलातदीनवदना उदिक्खन्ता इतो ततो ॥१६१॥

यं दुक्खमनुभोन्तीह सवणेपि असाहियं ।
तं दुक्खं चिन्तयन्तस्स हदयं फलतीव मे ॥१६२॥

या हि बालत्तने नाम सब्बलोकानुकम्पिये ।
अनुकम्पा विपन्ना'व सा तिरच्छानजातियं ।
तं कथं इति चे विञ्ञू वदे विसदमत्थतो ॥१६३॥

असहन्ता वियोगन्तु मुहुत्तम्पि च मातुया ।
पिल्लका अतिमन्दत्ता अनाथा सयिता तहिं ॥१६४॥

कथं न दिस्सते अम्ब तदा पातो व निग्गता ।
किन्नु मे पिल्लका अत्थि इति चिन्ता पि नत्थि वा ॥१६५॥

इति चिन्तापरा हुत्वा कुजन्ता दीनलोचना ।
उदिक्खन्ता गतदिसं उस्सिङ्घन्ता दिसोदिसं ॥१६६॥

दिस्वा'व मातरं सायं गोचरातो समागतं ।
पहट्ठा पटिधावन्ति पामुज्जुब्बिल्लभावतो ॥१६७॥

विस्सत्थे मातुपेमेन विलङ्घन्ते समन्ततो ।
लाळन्ते कण्णपुच्छे पि सलिळोपगते च ते ॥१६८॥

छाते याते थनं पातुं मातानोति सिनेहतो ।
तरुणे तरुणक्खीहि चञ्चलेहि उदिक्खिता ॥१६९॥

छड्डेत्वा पुत्तपेमञ्च अधिट्ठाय च रुद्दतं ।
तं खणेनेव अञ्ञाव जाता माता पि पुत्तके ॥१७०॥

विरवन्तेव करुणं फन्दन्ते यदि खादति ।
इतो परं किं वत्तब्बं भयं तिरियसम्भवं ॥१७१॥

यत्थागच्छति पुत्तानं [1]मातुतो पि महाभयं ।
यत्थ नत्थी ति विस्सम्भो लज्जाधम्मसती पि वा ।
अकत्तब्बन्ति वा तम्हा कथं निग्गमनं सिया ॥१७२॥

अयम्पि दुन्निग्गमनो निच्चुब्बेगो महादुखो ।
अञ्ञोञ्ञभक्खो असिवो मोहजालावगुण्ठितो ॥१७३॥

सब्बानत्थसमवायो तिरच्छानोति सञ्ञितो ।
संसारे संसरन्तानं सक्किलेसान निच्छया ॥१७४॥

सिया अदिट्ठसच्चानं इति संविग्गमानसो ।
सच्चाभिसमयत्थाय परक्कमति पण्डितो ॥१७५॥

५. पापादीनव-गाथा

अधिमत्तानि पापानि अविसङ्का चरन्ति ये ।
निरये ते महाघोरे उप्पज्जन्ति असंसयं ॥१७६॥

सुखं अयो ति सङ्खातं य हिं सो नोपलब्भति ।
निग्गतायो ति निरयो इति वुत्तो तदञ्ञूहि ॥१७७॥

चतुक्कण्णो चतुद्वारो विभत्तो भागसोमितो ।
अयोपाकारपरियन्तो अयसा पटिकुज्जितो ॥१७८॥

तस्स अयोमया भूमि जलिता तेजसा युता ।
समन्ता योजनसतं फुटा[2] तिट्ठति सब्बदा ॥१७९॥

कतपापो पि यं दुक्खं घनजालनिरन्तरे ।
जलमानङ्गपच्चङ्गो अनुभोति अवीचियं ॥१८०॥

विस्सरं विरवन्तो व धावन्तो[3] च इतो ततो ।
तस्सेकदेसमत्तम्पि को समत्थो विभावितुं ॥१८१॥

१. Ms. मातितो ।
२. Ms. फरित्वा । B. फुटा ।
३. Ms. विरवन्तो विधावन्तो इतो ततो ।

यस्सायोमयमोनद्धं कपालं बहलम्पि च ।
अन्तो अग्गिजवादित्तं अनन्तं अण्णवोदकं ॥१८२॥

चतुद्दिसातो पक्खन्तं खणेन यदि सुस्सति ।
तस्सन्तो वत्तमानस्स सुखुमालसरीरिनो ॥१८३॥

विलीयमानगत्तस्स आतुरस्स विफन्दतो ।
खलन्तस्स पतन्तस्स मुच्छन्तस्स मुहुं मुहुं ।
आसाभङ्गाभितुन्नस्स आयासेन विकम्पतो ॥१८४॥

विलपन्तस्स करुणं अनाथस्स विचिन्ततो ।
असय्हं अतुलं तिब्बं को दुक्खं वण्णयिस्सति ॥१८५॥

सिम्बलिं आयसत्थूलं सोळसङ्गुलकण्टकं ।
जालमालापरिक्खित्तं उद्धं योजनमुग्गतं ॥१८६॥

चण्डेहि यमदूतेहि दण्डीयन्तो पुनप्पुनं ।
विद्धो पतोदयट्ठीहि सत्तियादीहि चाहतो ॥१८७॥

विफालितङ्गपच्चङ्गो विरवन्तो'व विस्सरं ।
भीतो रुदम्मुखो दीनो आरुहन्तो पुनप्पुनं ॥१८८॥

उब्बत्तेत्वान तु मुखं उदिक्खन्तो'व[1] रक्खसे ।
भयेन विनिमीलेन्तो अङ्गमङ्गे व गूहयं ॥१८९॥

अलद्धा लीयनट्ठानं वेधमानो विचेतनो ।
अनुभोति हि यं दुक्खं तस्स का उपमा सिया ॥१९०॥

एकन्तदुक्खा निरया यतो एवं सुदारुणा ।
न अक्खाणेन पत्तब्बमिति तस्मा जिनो ब्रवि ॥१९१॥

यथा हि अन्तरं दूरं अग्गिनो चन्दनस्स च ।
तथेव अन्तरं दूरं निरयग्गि इधग्गिनं ॥१९२॥

तिसत्तिसतविद्धस्स यं दुक्खं अविचिन्तियं ।
तन्नेरयिकदुक्खस्स हिमवासासपन्तरं ॥१९३॥

---

१. Ms. उदिक्खन्तेव ।

अवीचि गूथनिरयो कुक्कुळं कोटिसिम्बली[1] ।
असिपत्तवनञ्चापि[2] तथा खारोदिका नदी ॥१९४॥

अङ्गारपब्बतो चापि सङ्घातं रोरुवम्पि च ।
कालहत्थी महायन्तो लोहकुम्भादिका पि च ॥१९५॥

अमिता दुस्सहा भीमा थोरा हृदयदारुणा ।
महादुक्खानुभोतब्बा निरये पापकम्मिना ॥१९६॥

एतेसु एकमेकस्स विपाको पि अनप्पको ।
दुब्बचो अथ निस्सेसं नेकवस्ससतेसु पि ॥१९७॥

तं[3] हि नेरयिकं दुक्खं फुसित्वा वेदितब्बकं ।
वदन्तो पि च निस्सेसं कथं तं दीपयिस्सति ॥१९८॥

एत्थ अग्गीति वुत्ते'व किन्नु पादो दहिस्सति ।
असद्दहन्तो अक्कन्तो दुक्खं पप्पोति दारुणं ॥१९९॥

तस्मा इसीनं वचनं सद्दहन्तो विचक्खणो ।
पापकम्मानि वज्जेत्वा न तं पप्पोति आलयं ॥२००॥

कण्टकेन पि विद्धस्स घटबिन्दुविलीयनं ।
यावता अग्गिदाहो हि पतिकारो[4] पि दुक्खमो ॥२०१॥

नेकवस्ससहस्सेसु निरये तिखिणग्गिना ।
एकजालीकतानं को दुक्खस्स खमनं वदे ॥२०२॥

एकग्गिक्खन्धभूतापि कम्मेन परिरुन्धिता ।
निरये यदि जीवन्ति अहो कम्मं सुदारुणं ॥२०३॥

अतिमन्दसुखस्स'त्थं यं मुहुत्तेन किब्बिसं ।
कतं तस्सातुलं कालं फलं यदि तु ईदिसं ॥२०४॥

---

१. Ms. कोटिसिम्बली । B. कुटसिम्बली ।
२. Ms. चेव । B. चापि ।
३. Ms. तहिं ।
४. Ms. हि पतिकारत्थो पि दुक्खमो ।

को हि मानुसदुक्खेन महन्तेनापि अट्टितो ।
मुहुत्तम्पि अनुम्मत्तो करे पापदरं नरो ॥२०५॥

अहो मोहानुभावो'यं येनायं परिमोहितो ।
एवं दुक्खावहं कम्मं करोति च सुखत्थिको ॥२०६॥

भायितब्बं हि पापतो एवं दुक्खफलं यतो ।
कुसले आदरो निच्चं कत्तब्बो दुक्खभीरुणा ॥२०७॥

पदित्तङ्गारकासुं' व पपातं व भयानकं ।
पस्सन्तो दुग्गतीमग्गं पापं सम्परिवज्जये ॥२०८॥

अमते च विसे चापि यथा हत्थगते नरो ।
अनादियित्वा अमतं विसं भुञ्जेय्य दारुणं ॥२०९॥

एवं हि सम्पदमिदं लभित्वा मानुसं भवं ।
पुञ्ञकम्मं विवज्जेत्वा पापकम्माभिसेवनं[1] ॥२१०॥

६. पुञ्ञ-फल-उद्देस-गाथा

पुञ्ञन्ति रागादीनन्तु पटिपक्खा हि चेतना ।
पञ्ञादिगुणसंयुत्ता विञ्ञेय्या सुखदायिका ॥२११॥

सा दानादिसु एकेके यदा द्वादस वत्थुसु ।
वत्तते तेन तेने'व नामेन वोहरीयति ॥२१२॥

दानं सीलञ्च भावना पत्तिपत्तानुमोदना ।
देसना सवनं पूजा वेय्यावच्चं पसंसना ।
सरणमनुस्सति चेव पुञ्ञवत्थूनि वारस ॥२१३॥

अन्नादिदानवत्थूनं चागो सुबुद्धिपुब्बको ।
यो तं दानन्ति दीपेन्ति बुद्धा दानग्गदायिनो ॥२१४॥

---

१. Ms. पापकम्मानिसेवनन्ति ।

कायकम्मा वचीकम्मा सत्रज्जा विरतीहि या ।
मिच्छाजीवा च तं सीलं इति वुत्तं महेसिना ॥२१५॥

चित्तस्सोपक्किलेसानं या चिन्तापटिपक्खिका ।
तस्सा या भावना सा हि भावनाति पकित्तिता ॥२१६॥

परमुद्दिस्स यं दानं अनवत्थादि दीयते ।
पत्तिदानन्ति तं आहु युत्तसद्धम्मदेसका ॥२१७॥

मद्दी व पुत्तदानम्हि दिन्नस्सब्भनुमोदना ।
पत्तानुमोदना तीह वुत्ता उत्तमवादिना ॥२१८॥

हितज्झासयतो या हि परस्स हितदेसना ।
देसनामयपुञ्ञन्ति देसयि तं सुदेसको ॥२१९॥

विहाय विक्खेपमलं अट्ठिकत्वान साधुकं ।
सद्धम्मसवणं एत्थ सवणन्ति पकासितं ॥२२०॥

गुणयुत्तेसु सक्कारकिरिया वन्दनादिका ।
पूजारहेन मुनिना पूजा ति परिकित्तिता ॥२२१॥

गिलानगुणवन्तानं दानादिकिरियासु वा ।
आसनोदकदानादि वेय्यावच्चन्ति सञ्ञितं ॥२२२॥

कुसलं हि करोन्तानं पहासुस्साहकारिका ।
गुणतो वण्णना या सा पसंसा ति पकित्तिता ॥२२३॥

गुणसम्भावना पुब्बं ताणसञ्ञाय भावतो ।
वत्थुत्तयस्स सरणागमनं सरणं मतं ॥२२४॥

छळानुस्सतिवत्थूसु अञ्ञेसु कुसलेसु वा ।
उपक्लेसविनिम्मुत्ता[1] गुणतोनुस्सतीह या ॥२२५॥

इमेसु खलु वत्थूसु निब्बत्ता पुञ्ञसम्मता ।
चेतना इट्ठफलदा तं कथं इति चे वदे ॥२२६॥

---

१. Ms. adds विगतुपक्किलेसेहि देसितानुस्सतीति या ।

वुत्तोवस्स परिहारो इमस्सेतं फलन्ति च ।
गुरूपदेसागमतो[1] किञ्चि मत्तं भणीयति ॥२२७॥

दानं भोगावहं सीलं कुलसग्गादिसाधकं ।
रूपारूपभवाभिञ्ञा मोक्खा भावनसम्भवा ॥२२८॥

पत्तिदानं दानफलं मोदनाहासदायिका ।
देसना सवना चापि उभो पञ्ञावहा मता ॥२२९॥

पूजाहि पूजनीयेसु कुलेसु उदयावहा ।
वेय्यावच्चं परिवारसम्पदाहेतु सम्मतं ॥२३०॥

पासंसियम्पसंसाय सरणे अनरणत्तनं[2] ।
अनुस्सतिविसेसस्स सब्बा सम्पत्तियो फलं ॥२३१॥

सदिसन्तु फलं एवं फलं विसदिसम्पि च ।
पच्चयानं विसेसेन अनन्तमिति वेदियं ॥२३२॥

मग्गं अप्पितचित्तञ्च ठपेत्वा भावनामये ।
सब्बं दानादिकं पुञ्ञं कामलोकफलावहं ॥२३३॥

आयुरारोग्यवण्णञ्च यसो कित्ति कुलं बलं ।
रज्जं इन्दत्तनं भोगो बुद्धरूपादिका पि च ॥२३४॥

याहि अञ्ञापि[3] सम्पत्ति विपाकसुखपच्चया ।
मग्गज्झानफले हित्वा सकला कामपुञ्ञजा ॥२३५॥

रूपारूपिकपुञ्ञन्तु रूपारूपभवावहं ।
मग्गञ्चतुब्बिधञ्चापि यथा सकफलावहं ॥२३६॥

एते आसेविता येहि ते सग्गेसूपजायरे ।
न अक्खानेन पत्तब्बं सुखं तत्थ अनोपमं ॥२३७॥

सग्गेसु हेट्ठिमसुखं चक्कवत्तिसुखेन हि ।
पाणिमत्तकपासान हिमवन्तन्तरम्मतं ॥२३८॥

१. Ms. गरूपदेसो गमतो ।
२. Ms. सरणेन सरनत्तनं ।
३. Ms. अञ्ञा हि सम्पत्ति ।

यानि पञ्ञास वस्सानि मनुस्सानं दिनं तहिं।
तिंस रत्तिन्दिवो मासो मासा द्वादस वच्छरं।
तेन संवच्छरेनायु दिब्बं पञ्चसतम्मतं ॥२३९॥

हेट्ठिमानन्तु देवानं आयुनो हि चतुग्गुणं।
उपरूपरि देवानं छन्नञ्चापि विजानियं ॥२४०॥

रतनुत्तमचित्तेहि विहङ्गपथचारिहि।
विमानेहि चरन्तानं को सुखं वण्णयिस्सति ॥२४१॥

एको व रुक्खो फलति सब्बं इच्छानुकूलकं।
यम्हि[1] तत्थ वसन्तानं को सुखं वण्णयिस्सति ॥२४२॥

सुगन्धा सुखसम्फस्सा सोवण्णापि पिलन्धना।
येसं पुञ्ञेन को तेसं सुखग्गं वण्णयिस्सति ॥२४३॥

अच्छराविज्जुसञ्चारा अच्छेरसतमण्डिता।
मुत्ता वालुकसञ्छन्ना युत्ता पुञ्ञफलत्तने ॥२४४॥

सम्पफुल्ललतालम्बमनुञ्ञागिन्दमण्डिता।
विचित्तपत्तपक्खीनं वग्गुनिग्घोसनादिता ॥२४५॥

सुवण्णमणिसोपाननीलामलजलासया।
अवण्णरहितानेकसुगन्धकुसुमोत्थटा ॥२४६॥

पुञ्ञकम्ममहासिप्पिकप्पिता पीतिवद्धना।
पापकम्मरतावासा[2] विपक्खसुखदायिका ॥२४७॥

सब्बोतुकसुखारम्मा उय्याना नन्दनादयो।
ये पमोदेन्ति को तेसं सुखग्गं वण्णयिस्सति ॥२४८॥

सरालङ्कारवण्णादि यासं सेच्छावसानुगा।
ताहि सद्धि रमन्तानं कथं दुक्खागमो सिया ॥२४९॥

१. Ms. यहिं। B. यम्हि।
२. Ms. पापकम्मरतावास।

अरोगा अजरा येसं पदीपच्चीव निम्मला ।
काया सयम्पभा तेसं को सुखं वण्णयिस्सति ॥२५०॥

आरम्मणं परित्तम्पि यत्थट्ठस्सामनापियं ।
दुल्लभं तम्हि सग्गम्हि को सुखं वण्णयिस्सति ॥२५१॥

अब्भुतं कामजं[1] सुखं देवलोकम्हि यादिसं ।
तं तथा व पदेसञ्ञू को सुखं वण्णयिस्सति ॥२५२॥

पुञ्ञेसु लामकस्सापि को दिस्वा फलमीदिसं ।
संहरेय्य मुहुत्तम्पि पुञ्ञक्रियपरक्कमं ॥२५३॥

हीनं गम्मं अनरियं इति सम्बुद्धनिन्दितं ।
सुखं कामावचरिकं तस्सापेवं उळारता ॥२५४॥

झायिनो अमिताभा ये पीतिभक्खा महिद्धिका ।
ब्रह्मानो को सुखं तेसं न मुनि वण्णयिस्सति ॥२५५॥

तिभागकप्पं जीवन्ति ब्रह्मलोकेसु हेट्ठिमा ।
चतुरासीतिसहस्सानि कप्पानि तेसु उत्तमा ॥२५६॥

पूरा सासपियो कोट्ठे सब्बतो योजनायतो ।
ततो वस्ससते पुण्णे छड्डेत्वा एकमेककं ।
यावता रित्तकं होति दीघो कप्पो ततो पि च ॥२५७॥

आयुना एव विञ्ञेय्यो तेसं सेसो सुखोदयो ।
इमिना पूतिकायेन मन्दकालेन साधियो ॥२५८॥

नेककप्पसतं आयु सुखञ्चापि मनोमयं ।
येसं तेसं सुखग्गस्स का एत्थ उपमा सिया ॥२५९॥

विसिट्ठमिह यं पुञ्ञं निब्बानावहमेव तं ।
उळारफलदं एवं ब्रह्मलोकेसु मज्झिमं ॥२६०॥

परित्तं कामलोकम्हि पञ्चकामगुणोदयं ।
अञ्ञं द्वयं हितसुखं सब्बं देति असेसकं ॥२६१॥

---

1. Ms. कामजसुखं ।

सुदुल्लभं बुब्बुलदुब्बलं इमं,
सरीरमेवंविधपुञ्ञसाधकं ।
अपुञ्ञकम्मेसु पयोजयं जनो,
सिनेरुमुद्धा पतितो व सोचियो ॥२६२॥

७. दानानिसंस-गाथा

पुनापी पुञ्ञवत्थूनं आनिसंसमहन्ततं ।
किञ्चि मत्तं भणिस्सामि सुद्धानं बुद्धिमोदकं ॥२६३॥

चित्तवत्थु-पटिग्गाहवसा दानविसेसता ।
हीनमज्झविसिट्ठं तं भोगसग्गविमोक्खदं ॥२६४॥

दानं खलु सभावेन सग्गमानुसभोगदं ।
परिणामवसेनेव होति मोक्खूपनिस्सयं ॥२६५॥

देय्यधम्मपटिग्गाहकम्मकम्मफलेसु हि ।
लोभादीनं अभावेन होति चित्तस्स सम्पदा ॥२६६॥

इध मज्जवनिज्जादि परोपद्दवमेव च ।
अकत्वा ञायतो लद्धं होति वत्थुस्स सम्पदा ॥२६७॥

लाभालाभोपभोगेसु लोभादीनं अभावतो ।
सन्तमानसता होति पटिग्गाहकसम्पदा ॥२६८॥

तीहि द्वीहि अथेकेन सुविसुद्धं तिधापि च ।
विसुद्धञ्च विसिट्ठन्ति ञेय्यं दानं यथाक्कमं ॥२६९॥

यथा सासपमत्तम्हा बीजा निग्रोधपादपो ।
जायते सतसाखड्ढो महानीलम्बुदोपमो ॥२७०॥

तत्थेव पुञ्ञकम्मम्हा अनुम्हा विपुलं फलं ।
होतीति अप्पपुञ्ञन्ति नावमञ्ञेय्य पण्डितो ॥२७१॥

पच्चयानं बले लद्धे दिट्ठधम्मे परत्थ च ।
पुञ्ञकम्मं अपुञ्ञञ्च फलतीति विजानियं ॥२७२॥

सन्दिट्ठिकं फलं बीजा अङ्कुरं वातिमन्दकं ।
पारत्थिकं फलं यन्तं फलं व अविचिन्तियं ॥२७३॥

सन्दिट्ठिकं पञ्चविधं ददतो विपुलं फलं ।
सीहस्स सेनापतिनो मुनिसीहेन भासितं ॥२७४॥

पियो दानपति होति गिम्हकाले व अम्बुदो ।
भजन्ति तं बहू सत्ता फलरुक्खं व अण्डजा ॥२७५॥

कित्तिसद्दञ्च पप्पोति तिलोकमहितं हितं ।
दायको ससराजा व नरिन्दोरिन्दमो विय ॥२७६॥

विसारदो व परिसं पसङ्कमति दायको ।
कतस्समो व सत्थेसु परिसं अकतस्समं[1] ॥२७७॥

यदा अन्तिमसेय्यायं जरारोगाभिपीळितो ।
पुब्बकम्मजवे सन्ते सयितो होति दुक्खितो ॥२७८॥

दिट्ठारिट्ठो च वेज्जेहि महाहिक्काभिपीळितो ।
तुज्जमानो'व सूलेहि छिज्जमानेसु सन्धिसु ॥२७९॥

ततोपरुज्झमानेसु इन्द्रियेसु असेसतो ।
इन्द्रिये उपरुज्झन्ते अन्धकारे उपागतो ॥२८०॥

महासोकाभितुन्नेसु रुदमानेसु बन्धुसु ।
खते[2] खारेन सित्तो व बन्धुसोकेन अद्दितो ॥२८१॥

अत्ताणे सब्बतो जाते आगते च महब्भये ।
महापपातं पाते[3] व भुसम्मुय्हति मानसं ॥२८२॥

---

१. Ms. कतस्सवावगन्तेसु परिसं अकतस्सवं ।
२. Ms. खणे B. खते ।
३. Ms. पततो व । B. पातेव, Sanna पातो इव ।

तदा अकतपुञ्ञस्स कतपुञ्ञस्स वापि च ।
सुकम्मं समुपट्ठाति अपकारोपकारतो ॥२८३॥

यानि'स्स तम्हि समये पापकानि कतानि हि ।
तानि'स्स तम्हि समये अज्झोलम्बन्ति मानसं ॥२८४॥

तदा'निट्ठनिमित्तानि अतिघोरानि दिस्सरे ।
निरयपालग्गी-आदीनि निरयगामिस्स जन्तुनो ॥२८५॥

तम्बक्खिके वङ्कदाठे हरिदाठी सिरोरुहे ।
लुद्दे अञ्जनपुञ्जाभे उग्गदण्डे सुदारुणे ॥२८६॥

करुणं दूरतो कत्वा कालदण्डेन आगते ।
यमदूते तदा दिस्वा ब्यथते तस्स मानसं ॥२८७॥

तदा मुच्छा पिपासा च जरो च अभिवड्ढति ।
पच्छानुतापदुक्खं तं अच्चन्तं अभिमद्दति ॥२८८॥

सोकसल्लेन विद्धो सो पत्तो ब्यसनसागरं ।
समत्थो वा कतत्ताणो चिन्तेति भुसमीदिसं ॥२८९॥

अकतं वत कल्याणं कतं किब्बिसकम्मया ।
अवसो'नुभविस्सामि[1] निरये पापजं फलं ॥२९०॥

इच्चेवं विरवन्तो व भीतो उब्बिग्गमानसो ।
सकेन पापकम्मेन फन्दन्तो विवसो'व सो ॥२९१॥

मण्डुको डेड्डुभेनेव निरयं नीयति दुम्मति ।
सम्मुळ्हमरणं तस्स नियतं पापकम्मिनो ॥२९२॥

एवं दुरन्तं मरणं सब्बसत्तानुभावियं ।
दुरतिक्कमनं घोरं अवस्सं आगमिस्सति ॥२९३॥

तत्थ दारुणकम्मस्स दुक्खं होति हि ईदिसं ।
अपक्कमति तं दुक्खं दूरतो अकतागसो[2] ॥२९४॥

---

१. Ms. अवसो अनुभविस्सामि ।
२. Ms. अकतासतो ।

कतपुञ्ञो पन यदा मच्चुवेगेन अद्दितो ।
तथेव सयितो होति सयेन मारणन्तिके ॥२९५॥

यानि'स्स तम्हि समये कल्याणानि कतानि हि ।
तानि'स्स तम्हि समये अज्झोलम्बन्ति मानसं ॥२९६॥

तदा यिट्ठनिमित्तानि[1] अनुकूलानि दिस्सरे ।
अग्गयानविमानादि सग्गगामिस्स जन्तुनो ॥२९७॥

अच्छरागणसङ्घुट्ठे अच्छेरसतमण्डिते ।
विमानयाने दिस्वान होति तस्स उदग्गता ॥२९८॥

तदा सो परमस्सासं लभते दायको नरो ।
वज्जित्वा जिण्णकं सालं पासादारोहणो विय ॥२९९॥

सुकतं वत कल्याणं भीरुत्ताणं कतम्मया ।
उळारं अनुभोस्सामि सग्गे कुसलजं फलं ॥३००॥

इति सो सम्पहट्ठो व अभीतो सम्पमोदितो ।
सकेन पुञ्ञकम्मेन अच्चन्तं उपलालितो ॥३०१॥

पुञ्ञकम्मरतावासं सग्गं नीयति पण्डितो ।
अमूळ्हमरणं तस्स नियतं पुञ्ञकम्मिनो ॥३०२॥

तस्माहि दानपतिनो अमूळ्हमरणेन च ।
सन्दिट्ठकफलानीति पञ्च वुत्तानि तादिना ॥३०३॥

मच्चुनो उग्गदण्डस्स मुखन्तरगतम्पि च ।
यदि तोसेति पुञ्ञं तं अकरोन्तो व वञ्चितो ॥३०४॥

संदिट्ठिकानिसंसा हि अनन्ता दानसम्भवा ।
पञ्चेति हि विनेय्यानं वसेन परिदीपितं ॥३०५॥

परस्स विस्सासनीयो सजनस्स यसावहो ।
कुलालंकारभूतो व संसितानं मुदावहो ॥३०६॥

1. Ms. इट्ठनिमित्तानि ।

नाथभूतो अनाथानं सब्बेसं पीतिवड्ढनो।
सतञ्च सुखसंवासो सततं होति दायको ॥३०७॥

सेट्ठोति सम्मतो होति दुट्ठेहि च अधंसियो।
इट्ठदो ति मुदा लोको पहट्ठो तं उदिक्खति ॥३०८॥

यं यं दिसं दानपति रित्तहत्थो व गच्छति।
साभिसङ्खारिका तस्स सुलभा होति पच्चया ॥३०९॥

बहुसाधारणा भोगा सब्बवेरभयावहा।
मया अवेरसुखदा असाधारणका कता ॥३१०॥

महानिधानं निहितं अक्खयं अनुगामियं।
अविलोपियमञ्ञेहि अनन्तसुखदायकं ॥३११॥

आपदासु सहायो मे अभेज्जो अप्पदुस्सियो[1]।
गुणड्ढो अनुकुलो च गहितो सब्बदा हितो ॥३१२॥

सग्गुणोजोहरो[2] चोरो हतो मच्छेररक्खसो।
इस्सापिसाचो विहतो अस्सासो परमो कतो ॥३१३॥

लोभपासो समुच्छिन्नो दोससत्तु विनासितो।
हितावगुण्ठनं थूलं मोहजालं विघाटितं ॥३१४॥

अनाथानं कपणता हता सम्पत्तिया मम।
परिग्गहकतो दीपो भीमे संसारसागरे ॥३१५॥

वड्ढिमूलं सुनिक्खित्तं पटिग्गाह महाकुले।
अड्ढता हि अनन्ता मे परलोके भविस्सति ॥३१६॥

असारतरभोगेहि सारादानं परं कतं।
कतं सग्गस्स सोपानं सुखारोहं अचञ्चलं ॥३१७॥

वीरसत्ता अनुगता मारसत्तु विनिज्जितो।
सब्बसम्पत्तिबीजं मे रोपितं नानुपोसियं ॥३१८॥

१. Ms. अप्पदूसियो।
२. Ms. सग्गुणोजहरो।

निप्फादितो भद्दघटो पत्थितत्थोपदायको ।
वञ्चिता नासमूला मे सञ्चिता गुणसम्पदा ॥३१९॥

साधूहि सक्कतो जातो साधूनं उपनिस्सयो ।
साधूनं या गति सा मे इच्छामत्तोपसाधिया ॥३२०॥

दुग्गतियो पिदहिता अग्गं पुञ्ञं विसोधितं ।
मग्गनावाय पट्ठानं ठपितं उजुकं थिरं ॥३२१॥

सब्बानत्थावहे अत्थे अत्थिकानं ददं अहं ।
आनिसंसोदधिप्पत्तो सफलं जीवितं मम ॥३२२॥

इच्चेवं सरमानो सो अत्तनो चागसम्पदं ।
अतिहट्ठो उदग्गो व सदा जीवति दायको ॥३२३॥

यं[1] हि दानपति दीनं याचकं समुपागतं ।
लद्धत्थं पस्सति हट्ठं ततो किं विपुलं फलं ॥३२४॥

दीनस्स दानमासज्ज तुट्ठं इट्ठत्थसिद्धिया[2] ।
सुफुल्लकमलोभासं दस्सनीयतरम्मुखं ॥३२५॥

दाता दिस्वानुभवति लद्धा साधारणं सुखं ।
अलं दानफलं एतं नोचे पि परलोकियं[3] ॥३२६॥

सन्दिट्ठिकं दानफलं अनन्तं एवमादिकं ।
परलोक फलन्तस्स को समत्थो व गाहितुं ॥३२७॥

अग्गं सङ्गहवत्थूनं मग्गं सग्गस्स अञ्जसं ।
पारमीनञ्चाथ अग्गञ्च दानं भोगग्गदायकं ॥३२८॥

इट्ठत्थसाधकतया[4] दानं भद्दघटोपमं ।
परलोकफलन्तस्स कथं वण्णेय्य मादिसो ॥३२९॥

---

१. Ms. यम्हि ।
२. Ms. तुट्ठं हट्ठत्थसिद्धिया ।
३. Ms. परलोकिकं ।
४. Ms. साधकथाय ।

महाकारुणिकेनेव मंसनेत्तादि-दायिना ।
महाफलत्तं दानस्स सुत्तन्तेसु विभावितं ॥३३०॥

एवं महागुणं दानं देय्यधम्मे स याचके ।
विज्जमाने अदेन्तो हि धुवं भवति वञ्चितो ॥३३१॥

दिन्नं फलत्थिना दानं वणिज्जं व जिगुच्छियं ।
सब्बथा अपरामट्ठं विसिट्ठन्ति पदीपितं ॥३३२॥

भवभोग विसेसत्थमामट्ठदिट्ठि-आदिहि ।
यं दानं तं परामट्ठं अनामट्ठं विपरियये ॥ ३३३॥

अत्थिकानं करुणया भवनित्थरणत्थिना ।
बोधिसत्तेन यं दानं दीयते तं विसिट्ठकं ॥३३४॥

भवभोगत्थिको हीनो मज्झो अत्तसुखत्थिको ।
उत्तमो सब्बसत्तानं दुक्खूपसमनत्थिको ॥३३५॥

यतो ददाति दानानि तस्मा धीरा अतन्दिता ।
उत्तमेनेव विधिना देन्ति दानानि साधवो ॥३३६॥

८. सीलानिसंस-गाथा

दानानिसंसा ये वुत्ता निस्सेसा सीलतो पि च ।
भवन्ति अधिका चापि अनन्ता सीलसम्भवा ॥३३७॥

सत्तानन्त्व अप्पमेय्यानं[1] दुस्सीला विरतो जनो ।
अवेरं अभयञ्चापि अब्यापज्झ सुखम्पि च ॥३३८॥

ददाति दत्वा पच्छा सो अवेरं अभयम्पि च ।
अब्यापज्झसुखञ्चापि लभतीति जिनो ब्रवि ॥३३९॥

वुत्तादानानिसंसाहि सीलसम्पत्तिया पि च ।
होन्ति एवेति विञ्ञेय्या अनयासुत्तियुत्तिया[2] ॥३४०॥

१. Ms. अमेय्यानन्तु सन्तानं दुस्सीला ।
२. Ms. अनयासुत्तयुत्तिया ।

सिक्खापदातिक्कमतो इन्द्रियानं अगुत्तितो ।
मिच्छाजीवोपभोगा च विरतीहि चतुब्बिधा ।।३४१।।

सीलं चतुब्बिधं पातिमोक्खो इन्द्रियसंवरो ।
आजीवपारिसुद्धी च सीलं पच्चयनिस्सितं ।।३४२।।

सद्धा सति च विरियं च पञ्ञा च अनुपुब्बतो ।
चतुब्बिधधुरेनेव तं सीलं परिरक्खियं ।।३४३।।

पणिधानम्हि पट्ठाय यो परेसं हिताहितं ।
विचेय्य ञत्वा अक्खासि विनयादि[1] विनायको ।।३४४।।

सब्बञ्ञू सो हि भगवा सब्बदा करुणापरो ।
अवञ्झवादी अतुलो अब्भुतोरुगुणाकरो ।।३४५।।

तेन ञत्वा पटिक्खित्तं यं अनुं थूलमेव वा ।
अनतिक्कमनीयन्तं जीवितातिक्कमे पि च ।।३४६।।

आणा हि मग्गसामिस्स अनुमता पि विञ्ञुना ।
महामेरुदुरुक्खेपा इति दिस्वा पि रक्खिया ।।३४७।।

अतिक्कमित्वा वचनं खुद्ददेसिस्सरस्स च ।
दुक्खं पप्पोति चे किन्नु सब्बलोकिस्सरस्स तं ।।३४८।।

मुनिन्दाणगतिक्कम्म कुसग्गच्छेदमत्ततो ।
एरपत्तेन यं लद्धं तदिदं दीपयिस्सति ।।३४९।।

सब्बेसं सत्तदोसानं विनयोपायकोविदो ।
सो व सत्था पजानाति नाहं जानामि किञ्चनं ।।३५०।।

वेज्जो कोमारभच्चो व बालकानं हिताहितं ।
जानन्ति न तु बाला ते एवरूपा मयं इध ।।३५१।।

अग्गि पक्खन्द अथवा पब्बतग्गा पतेति वा ।
यदि वक्खति कत्तब्बं ञातकारीहि सो जिनो ।।३५२।।

---

१. Ms. विनयादिं ।

अनतिक्कमनीयन्ति यं वुत्तं तेन सत्थुना।
जीवकामो[1] पपातं व आरका तं विवज्जये ॥३५३॥

इच्चेवं सद्धया साधु पटिच्छित्वान मुद्धना।
यथाणत्तिवसेनेत्र कत्तब्बं सत्थु सासनं ॥३५४॥

एवं सद्धाधुरेनेव पातिमोक्खं हि रक्खितं।
अनन्तं फलदं होति जिनसम्मानमण्डितं ॥३५५॥

छसु द्वारेसु अत्थानं आपाथागमने सती।
सति दोवारिकं तत्थ उपट्ठापेय्य पण्डितो ॥३५६॥

ते किलेसमहाचोरा आलम्बनवनासया।
न धंसेन्ति मनोगेहं सतारक्खे उपट्ठिते ॥३५७॥

अलन्दिट्ठम्हि दिट्ठं व तदुद्धं न विकप्पियं।
अभूतसङ्कप्पबला बाला नट्टा हरी[2] विय ॥३५८॥

दिस्वा असुचिपिण्डस्स वण्णमत्तं व बालिया।
अलद्धा सादिसं किञ्चि योजेन्ति पदुमादिहि ॥३५९॥

थनं सोण्णसमुग्गाहं मुखं फुल्लम्बुजोपमं।
नेत्ता नीलम्बुजनिभा मुत्ता दन्तेहि निज्जिता ॥३६०॥

अङ्गं अनिन्दितङ्गाय अनङ्गासङ्गवड्ढनं।
इच्चेवमादिचिन्तेन्ता चित्तं दूसेन्ति अत्तनो ॥३६१॥

ततो मोहवसेनेत्थ सङ्गपासेन वेठिता।
अनयब्यसनं घोरं पप्पोन्ति परिकप्पिता[3] ॥३६२॥

अमेज्झपोत्थकाकारं तनुच्छविविमोहिता।
देहं सभावतो दट्ठुं न सक्कोन्ति पुथुज्जना ॥३६३॥

१. Ms. जीवितुकामो।
२. Ms. नट्ठा कपी विय।
३. Ms. परिक्कपतो।

इन्द्रियानि किलेसेन्ति दोसे संरक्खितुं परे ।
इन्द्रियत्थेसु सज्जन्तु वारेन्ति जिनसावका ॥३६४॥

सतारक्खो हि समणो इन्द्रियिन्द्रियगोचरे ।
अनिच्चादिं विपस्सन्तो सज्जनीयं न पस्सति ॥३६५॥

इन्द्रियस्सेहि दुन्नीतो दूरतो हितमग्गतो ।
अपविद्धो जनो लोके सदेवासुररक्खसो ॥३६६॥

सतियन्तम्हि बन्धित्वा ते दुट्ठस्से सुदुद्दमे ।
पञ्ञापतोदा सारेन्ति समणा सतिगोचरे ॥३६७॥

सरीरवेदनाचित्त धम्मेसु असुभादिका ।
पस्सितब्बा यथातच्छं वुत्ता'व सतिगोचरा ॥३६८॥

यं यं आलम्बनं ञातुं इच्छन्ति जिनसावका ।
सतिया तं विपस्सित्वा पच्छा पेसेन्ति ते मनो ॥३६९॥

एवं सतिपरानन्तु दोसा विच्छिन्नपच्चया ।
नावगाहन्ति चित्तंगिं नरकंगिं व नीरजा[1] ॥३७०॥

तस्मा सतिधुरेनेव सम्मासम्बुद्धसावका ।
परिपूरेन्ति निस्सङ्गा सीलं इन्द्रियसम्वरं ॥३७१॥

सिनेहाबद्धहदये बन्धवे पि च सद्धया ।
पहाय पब्बजित्वान दुल्लभे जिनसासने ॥३७२॥

सम्माजीवमतिक्कम्म सब्बसाधुनिसेवितं ।
मिच्छाजीवेन जीवेय्य यदि कुच्छिस्स कारणा ॥३७३॥

किञ्च गेहे परिच्चत्तं आमिसं आमिसत्थिना ।
को वा तेन गुणो लद्धो इध वा मुण्डियं विना ॥३७४॥

कुहनादीहि वत्थूहि गहट्ठे उपलालिय ।
लद्धलाभेन आजीवो मिच्छाजीवो ति वेदियो ॥३७५॥

---

१. Ms. नीरजं ।

सम्माजीवं पटिञ्ञाय मिच्छाजीवेन जीवति ।
यो सो समणधम्मा च गिहीधम्मा च बाहिरो ॥३७६॥

सम्माजीवविसुद्धस्स इहलोके परत्थ च ।
सुलभा पच्चया होन्ति इति तेन किमस्सुतं ॥३७७॥

वराहो वासुचिट्ठाने छड्डेत्वा सुद्धभोजनं ।
हीनाधिमुत्तितो तस्य चित्तं धावति वा सदा ॥३७८॥

गलग्गप्पत्तिमत्तेन यं सुवावन्तसादिसं ।
भविस्सति तदत्थं को आजीवं दूसयिस्सति ॥३७९॥

अधोक्खिपन्तो[1] अक्खीमि सन्ठापेन्तो गतादिकं ।
अदन्तो दन्तरूपानि करोन्तो किन्नटो न सो ॥३८०॥

तिण्हेन गोविकत्तेन वरं कुच्छिविदारितो ।
अञ्ञाय लद्धलाभेन न तु कुच्छिविपूरितो ॥३८१॥

तस्स निल्लज्जराजस्स असग्गुणविभाविनो ।
अथवा चोरजेट्ठस्स[2] गरहे को न जीविकं ॥३८२॥

विसुद्धं सो हि सङ्घग्गि कथं नामावगाहति ।
सित्थपोत्थकरूपो व कथं वा न विलीयति ॥३८३॥

सहत्थपादो एवाहं सिरी उस्साहलब्भिया ।
किमत्थं दूसयिस्सामि इसिवेसं दुरासदं ॥३८४॥

येन येन उपायेन यत्थ कत्थचि जीवितुं ।
सक्का[3] ति एकचित्तम्पि किन्नु तस्स न जायति ॥३८५॥

मिच्छाजीवोपलद्धेन पच्चयेनेव जीवता ।
सिया निब्बानमग्गग्गो पत्तब्बो न तु अञ्ञथा ॥३८६॥

तथापि च सलज्जस्स सब्बसत्ताधमोचितो ।
मिच्छाजीवो कथं सक्का परलाळनवञ्चितो ॥३८७॥

---

१. Ms. अधक्खिपन्तो ।
२. अथवा चोरजेट्ठस्स को न गरहेय्य जीविकं ।
३. सक्कोति ।

सिया जिघच्छाविगमो तिणभक्खस्स पीति किं ।
ब्यग्घो खादेय्य नु[1] तिणं संहृतामिसभोजनो ॥३८८॥

रज्जलाभस्सूपायो यं इति ञापेति मानिनो ।
विघासं किन्नु खादन्ति निराहारापि सुक्खिता ॥३८९॥

कसिं वणिज्जं इस्सत्थं अञ्ञं वापि च तादिसं ।
अकरोन्तेन सक्का व जीवितुं भिक्खपिण्डतो ॥३९०॥

वित्थिण्णो जम्बुदीपोयं मग्गानेक अनावुता ।
सब्बत्थ अकुसीतेन सुखं सक्का व जीवितुं ॥३९१॥

इति विरियं धुरं कत्वा सरन्तो सस्सपादिके ।
आजीवसुद्धिं रक्खेय्य अकरोन्तो अनेसनं ॥३९२॥

चीवरं पिण्डपातञ्च भेसज्जं सयनासनं ।
पटिसङ्खाय सेवेय्य लद्धं लद्धं विचक्खणो ॥३९३॥

पटिसङ्खानरहितो पच्चयं अञ्ञदत्तिकं ।
गथितो परिभुञ्जन्तो गाधं खणति अत्तनो ॥३९४॥

वणलेपं व वणितो साधु ञत्वा पयोजनं ।
आहारं परिभुञ्जेय्य रसतण्हाविवज्जितो ॥३९५॥

वातातपपरित्तानं मक्खिकादि निवारणं ।
वणच्छादनचोलं[2] व चीवरं पटिसेवये ॥३९६॥

तस्स तस्सामयस्सेव पटिसेधनमत्तकं ।
अब्यापज्झत्थिकं सेवे भेसज्जं स्नेहवज्जितो[3] ॥३९७॥

सरीरं मंसपिण्डं व अनन्तोपद्दवं इदं ।
दुरक्खं गोपितब्बन्ति निस्सङ्गो वसतिम्भजे ॥३९८॥

---

१. Ms. न । B. नु ।
२. Ms. वणच्छादनचोकं ।
३. Ms. सहवज्जितो ।

देहो ठातुन्न सक्को ति पच्चयेहि विवज्जितो ।
तिदण्डो एकदण्डो व दण्डद्वयविवज्जितो ॥३९९॥

सम्मा पयुञ्जमानो सो महतोत्थाय[1] वत्तति ।
इति सम्मा पयोगत्थं देहं रक्खन्ति पण्डिता ॥४००॥

सरीरजलकम्पेन चित्तनावा तदस्सिता ।
वाताहतलतग्गो व न सक्कोति समाहितुं ॥४०१॥

असमाहितचित्तस्स न यथाभूतदस्सनं ।
अयथाभूतदस्सी हि न मुच्चति कुदाचनं ॥४०२॥

तस्मा चित्तसमाधत्थी सरीरपरिक्खणं ।
करेय्य पटिसेवेन्तो पटिसङ्खाय पच्चये ॥४०३॥

अग्गिना करणीयानि करोन्तो सुचिरम्पि च ।
अग्गिदोसन्न पप्पोन्ति उपायोपगता नरा ॥४०४॥

अनुपायेनूपगता अग्गिदोसेन अट्टिता[2] ।
सदत्थञ्च असाधेन्ता दुक्खं पप्पोन्ति दारुणं ॥४०५॥

अग्गीव पच्चया ञेय्या अञ्ञायोपगमो विय ।
स्नेहपुब्बमसङ्खाय[3] आहारादि निसेवनं ॥४०६॥

न बाहुविरियायातं[4] न च ञातिकुलागतं ।
परप्पसादलद्धं किं युत्तं गधितभोजने ॥४०७॥

गधितो मुच्छितो सन्तो भुञ्जनतो परभोजनं ।
सुवावन्तं व भुञ्जनतो समणो हि जिगुच्छियो ॥४०८॥

रसतण्हा परिच्चिता अनादीनवदस्सिनो ।
सचित्तं परिदूसेन्ति अतिलूखं पि पच्चये ॥४०९॥

---

१. Ms. अत्थाय ।
२. Ms. अद्धिता ।
३. Ms. सहपुब्बं ।
४. Ms. विरियाधिगतं ।

रसतण्डाविरहिता सदादीनवदस्सिनो ।
चित्तदोसन्न पप्पोन्ति उळारे पि च पच्चये ।।४१०।।

आदीनवानुपस्सी हि तिदसिन्दोपभोजिये ।
पच्चये पि च निस्सङ्गो होति निब्बानभागियो ।।४११।।

मत्तं मत्तानिसंसञ्च पहातब्बञ्च तत्ततो[1] ।
बहुसो पच्चवेक्खित्वा भजे अग्गीव पच्चये ।।४१२।।

तस्मा पञ्ञाधुरं कत्वा आदीनवमपेक्खिय ।
पच्चवेक्खणजं सीलं परिरक्खन्ति पण्डिता ।।४१३।।

एवं चतुब्बिधं सीलं ञायतो परिसोधितं ।
सुसोधितसुवण्णं व होति इच्छापसाधिकं ।।४१४।।

इदं हि सीलरतनं इधलोके परत्थ च ।
आनिसंसवरे दत्वा पच्छा पापेति निब्बुतिं ।।४१५।।

पच्चक्खं हीनजच्चं हि अच्चन्तोळारवंसजा ।
नरिन्दा सीलसम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ।।४१६।।

मानिनो ब्राह्मणा वापि गुरुसूपि[2] असन्नता ।
ते पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ।।४१७।।

ठानन्तरेन ये बुद्धा धनिस्सरियतो पि वा ।
ते पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ।।४१८।।

कुले जेट्ठा च पुरिसा ये च मातापितादयो ।
ते पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ।।४१९।।

यं नमस्सन्ति तेविज्जा सब्बभुम्मा च खत्तिया ।
चत्तारो च महाराजा तिदसा च यसस्सिनो ।।४२०।।

देवानं इन्दो पवरो सब्बकामसमिद्धिको ।
सो पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सति सदा सतो ।।४२१।।

---

१. Ms. तत्थतो ।
२. Ms. गरुसूपि ।

झानिस्सरियतम्पत्तो यो हि ब्रह्मा सहम्पति ।
सो पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सति सदा सतो ॥४२२॥

इहापि यदि सक्कारं सीलम्फलति ईदिसं ।
किन्नु सक्कारवित्थारं परलोके फलिस्सति ॥४२३॥

पत्थरित्वान सकलं सागरन्तं महामहिं ।
सद्दो सीलवतं याति ब्रह्मलोकम्पि तं खणं ॥४२४॥

पटिवाताणुवातेसु सब्बत्थाविहतक्कमो ।
इति सीलमयो गन्धो सब्बगन्धेसु उत्तमो ॥४२५॥

लामकं पच्चयञ्चापि[1] घटन्तो अत्तदत्थिकं ।
यो निप्फादेतुमसमत्थो गिहीभूतो सके घरे ॥४२६॥

सो पि सीलेन सम्पन्नो अकरोन्तो अनेसनं ।
लाभी अच्चन्त सेट्ठानं पच्चयानं पदिस्सति ॥४२७॥

पदीपेन्तीव तं एते विहारा चारुदस्सना ।
गगणुल्लिखमानग्ग चेतियद्धजमण्डिता ॥४२८॥

महामेघस्सरोदारभेरिविञ्ञातकालिका ।
नेकभिक्खुसहस्सानं सुलभोळारपच्चया ॥४२९॥

अतितुच्छे पि दिस्सन्ति देसे उच्चाचलूपमा ।
हारहंसहिमाम्भोदपण्डरा चेतियादयो ॥४३०॥

तुच्छस्सापि विहारस्स उळारा यादिसी सिरी ।
सब्बदेसिस्सरस्सापि न गेहे तादिसी सिरी ॥४३१॥

यदि सीलदुमिन्दस्स पुप्फमत्तम्पि ईदिसं ।
लाभग्गदायकं तस्स परलोकफलन्नु किं ॥४३२॥

महण्णवानं सब्बेसं सहेव खलु भूमिया ।
बलादावज्जितानं व फलोघो आगमिस्सति ॥४३३॥

---

१. Ms. लामका पच्चया ।

२. Ms. बला आवज्जितानञ्च ।

दुट्ठापि तन्न धंसेन्ति सेट्ठेसु च गणीयति ।
तुट्ठो च सततं होति इट्ठलोभेन सीदति ।।४३४।।

पियो सब्रह्मचारीनं भजनीयो च सीलवा ।
असंकितो हि सम्भोग संवासादि रहो पि च ।।४३५।।

अविक्खण्डितसीलस्स अनवज्जसुखं हि यं ।
तं ब्रह्मासुरदेविन्दनागिन्दानम्पि दुल्लभं ।।४३६।।

सन्दिट्ठिकमसङ्ख्येय्य फलं इच्चेवमादिकं ।
सीलसम्पत्तिजनितं को निस्सेसं भणिस्सति ।।४३७।।

इहापि यदि इच्चेवं अनन्तं सीलजम्फलं ।
परलोकफलस्सन्तं को हि तस्सीध त्रस्सति ।।४३८।।

एकाहुपोसथेनापि परनिम्मितवत्तिसु ।
ठानसो उपपज्जेय्य इति वुत्तं महेसिना ।।४३९।।

कालपरियन्तिकस्सापि सीलस्सेसो फलोदयो ।
अपरियन्तस्स हि फलं किं वक्खाम इतो परं ।।४४०।।

परस्स विस्सासनीयो सजनस्स यसावहो ।
कुलालङ्कारभूतो च आचारम्हि पमाणको ।।४४१।।

अनवज्जसुखं सीलं कुलञ्च उदितोदितं ।
धनञ्च सामिद्धिकरं ठानं वुद्धानुरूपकं ।।४४२।।

सिनानं नोदकञ्चापि गन्धो चापि दिसङ्गमो ।
अनुगामिकताछाया[1] छत्तं रक्खितरक्खणा ।।४४३।।

अरियानमथो वंसो सिक्खापि च अनुत्तरा ।
सुगतीनम्महामग्गा पतिट्ठा अविचालिया ।।४४४।।

इति दिट्ठेव धम्मेपि आनिसंसे असेसके ।
को नु गच्छेय्य परियन्तं वदन्तो एवमादिके ।।४४५।।

वेलामदाने पट्ठाय सङ्घे दानग्गसम्मतं ।
वत्वा ततो पि सेट्ठन्ति पञ्च सीलम्पकासितं ।।४४६।।

---

१. Ms. अनुगामिकतच्छाया ।

मग्गञाणोपकाराय अथो सीलविसुद्धिया ।
दानस्साप्यन्तरम्मेरू सासपन्तरतो 'धिकं ॥४४७॥

एवं महानिसंसन्ति विदित्वा सीलसम्पदं ।
नयनं एकनेत्तो व रक्खे सीलं चतुब्बिधं ॥४४८॥

पातिमोक्खसंवरो इन्द्रियानुरक्खणं,
पच्चयान्ववेक्खनं[1] जीवसुद्धि एव च ।
तं चतुब्बिधं बुधा सीलसुद्धिमिद्धिया,
पूरयित्वा पण्डिता मारमद्दनं कता ॥४४९॥

इति सीलगुणं विचिन्तयन्तो,
कुसलो जीवितहेतुनो पि सीलं ।
अविखण्डिय साधु सोधयन्तो,
अभिनिब्बाति अतन्दितो घटन्तो ॥४५०॥

९. भावनानिसंस-गाथा

दाने सीले च ये वुत्ता आनिसंसा असेसका ।
ते मन्दभावनायापि संसिज्झन्ति असंसयं ॥४५१॥

किलेसपटिपक्खं व सब्बं पुञ्ञं समासतो ।
किलेसुम्मूलकारणा[2] भावना बलवन्तरी ॥४५२॥

सुकरं खुज्जराजेन यं सिया सत्तुदूसनं ।
चक्कवत्तिनरिन्दस्स कथन्तं दुक्करं सिया ॥४५३॥

भावनाबलयोगेन बुद्धभावो पि साधियो ।
तदञ्ञा काहि सम्पत्ति भावनाय असाधिया ॥४५४॥

तदङ्गविक्खम्भनतो समुच्छेदवसेन च ।
किलेसानं पहानं हि वण्णेन्ति वरवादिनो ॥४५५॥

---

१. Ms. पच्चयाभिवेक्खनं ।
२. Ms. किलेसुम्मूलकारणभावना ।

किलेसे दानसीलादि तदङ्गेन हनन्ति हि ।
विक्खम्भेति हि ते झानं मग्गो भिन्दति सब्बथा ॥४५६॥

भावना एव झानञ्च मग्गो ति च विपस्सना ।
समथो ति च निद्दिट्ठा अवत्थन्तरभेदतो ॥४५७॥

विनीवरणमेकग्गमेकालम्बनसण्ठितं ।
झानन्ति हि समक्खातं सेसज्झानङ्गमण्डितं ॥४५८॥

कामच्छन्दो च व्यापादो थीनमिद्धं सकुक्कुच्चं ।
उद्धच्चं विचिकिच्छा च पञ्च नीवरणानि मे ॥४५९॥

एकग्गता ति चित्तस्स एकालम्बनसण्ठिति ।
समथो च समाधि च अविक्खेपो ति तं विदू ॥४६०॥

वितक्को च विचारो च पीति चापि सुखम्पि च ।
उपेक्खा चेति पञ्च ते सेसज्झानङ्गसञ्ञिता ॥४६१॥

चतुरङ्गं तिवङ्गञ्च दुवङ्गेकेक-अङ्गकं ।
इच्चेवं पञ्चधा भिन्नं एकग्गं झानसञ्ञितं ॥४६२॥

यदेव खलु एकग्गं पञ्चमज्झानसम्मतं ।
तदेवालम्बभेदेन अरूपज्झानसम्मतं ॥४६३॥

आकासो चेव विञ्ञाणं तदभावो[1] च तग्गतं ।
चित्तमरूपज्झानस्स आलम्बा चतुरो मता ॥४६४॥

अयं वुत्तो नवविधो समथो ति पवुच्चति ।
समापत्ती ति तं एव वदन्ति वदतं वरा ॥४६५॥

अनिच्चादिप्पकारेन यथाभूतत्थदस्सनं ।
विपस्सना च पञ्ञा च विचयो ति पवुच्चति ॥४६६॥

चतुसच्चाभिसमयं ञाणं निब्बानगोचरं ।
मग्गञाणन्ति अक्खातं अग्गं निब्बानपापकं ॥४६७॥

---

1. Ms. तदाभावो ।

समथो विपस्सना चापि योगिनो हि मनोरथं ।
पापेन्ति निब्बानपुरं रथन्धुरि युगं विय ॥४६८॥

उभयेसं समायोगा न सा सिद्धि असाधिया ।
तस्सानिसंसे विञ्ञाता नत्थि अञ्ञो अनायको ॥४६९॥

दिट्ठधम्मसुखत्थं वा फासत्थं वा विपस्सितुं ।
भवसम्पत्तिपत्थेन्ता अभिञ्ञत्थाय वा पुन ।
चत्तारत्थवसे ञत्वा निब्बत्तेन्ति समाधयो ॥४७०॥

किलेस सङ्खोभाभावा सुखं चित्तविवेकजं ।
दिट्ठधम्मे पि वेदेति पवरम्भावनारतो ॥४७१॥

दस्सनीयो च सो होति कस्सपो व महीतले ।
पञ्ञवा सारिपुत्तो व मोग्गल्लानो व इद्धिमा ॥४७२॥

निस्सङ्गो रट्ठपालो व नन्दो विन्द्रियसंवुतो ।
पुण्णो सुनापरन्तो व खन्तिया अतिविस्सुतो ॥४७३॥

चीवरादिसु सन्तुट्ठो' रियवंसानुपालको ।
सम्भावितो च विञ्ञूहि सदा सब्रह्मचारिहि ॥४७४॥

पुण्णो मन्तानिपुत्तो व सोणत्थेरो व विरियवा ।
निरामिसयसो भागी अनुरुद्धादिका विय ॥४७५॥

अरतिरतिसहो होति नालाभे[1] परितस्सति ।
पविवेकभवा पीति फरते तस्स मानसं ॥४७६॥

निरामिसं सुखं एव मनन्तं भावनाभवं ।
मानसं अपरायत्तं महापुरिससेवितं ॥४७७॥

भावितत्तो' नुभोतीह तिदसिन्दसुखाधिकं ।
दिट्ठधम्मे सुखं झानं इति तस्मा विभावितं ॥४७८॥

अनाविलम्हि चित्तम्हि फासु होति विपस्सितुं ।
अनाविलम्हि उदके मुखस्सोलोकनं विय ॥४७९॥

---

१. Ms. होति अलाभे ।

अपरिहीनझानस्स यथाधिकवसेन हि ।
रूपारूपभवे होति भावो' नन्तगुणोदयो ॥४८०॥

भावनाबलयुत्तस्स अभिञ्ञापि समिज्झरे ।
साधु साधितविज्जस्स विसेसा इव मन्तजा ॥४८१॥

इद्धि परचित्तञाणञ्च पुरिमजाति-अनुस्सति ।
दिब्बचक्खुञ्च सोतञ्च पञ्चाभिञ्ञा इमा मता ॥४८२॥

इमापि भावितत्तस्स सचित्तवसवत्तिका ।
तपोविसेसा होन्तीति भावेतब्बा हि भावना ॥४८३॥

सुनेत्तो सत्तवस्सानि भावेत्वा मेत्तमुत्तमं ।
सत्तसंवट्टकप्पेसु नेमं लोकं पुनागमि ॥४८४॥

संवट्टे च विवट्टे च ब्रह्मलोके'व संसरी ।
छत्तिसक्खत्तुं देविन्दो आसि तेनेव कम्मुना ॥४८५॥

अनेकसतक्खत्तुं सो चक्कवत्ति महायसो ।
आसीति सुत्वा किं अञ्ञं भावनावण्णनं वदे ॥४८६॥

अनिच्चानन्तसञ्ञायो मेत्तातो पि महप्फलो ।
तासं फलमहत्तं को पदेसञ्ञूपवण्णये ॥४८७॥

डहन्ता व उदेन्तीह भवतण्हं यतो हि ता ।
अतिमन्दो पि अग्गीव वत्तमानो सकासयं ॥४८८॥

ततो ता सत्तसङ्खारे असिलिट्ठस्स भावतो ।
मेत्तातो पि विसिट्ठाति वुत्ता निब्बानमग्गदा ॥४८९॥

वेलामदाने पट्ठाय याव मेत्तादिकं[1] फलं ।
वत्वा अनिच्चसञ्ञन्तु अच्छराघातकालिकं ॥४९०॥

ततो महप्फलतरं इदन्दि परिदीपयि ।
दीपभूतो तिलोकस्स नायको सिद्धिदायको ॥४९१॥

१. Ms. मेत्तादिजं ।

तस्मा अनिच्चसञ्ञा'व भावेय्य सततं बुधो ।
संसारघोरनरका मुत्तिकामो महागुणं ॥४९२॥

कम्मट्ठानट्ठाने पनिट्ठापेत्वान चित्तमरिभूते ।
नीवरणे भञ्जित्वा कामरणञ्जयं करित्वान ॥४९३॥

रूपगरुभारमुज्झिय अरूपलोके पि सङ्गमपहाय ।
[1]चलमितिभवगतमखिलं ञत्वा कत्वान विरियवरं ॥४९४॥

बोधिपक्खियधम्मे भावेत्वाभावनाबलप्पत्ता ।
गतमरणमरणमजरं विगतरणं वीरपुरिसगतं ॥४९५॥

असुलभमब्भुतमतुलं निच्चं नीरुजं असोकमतिसन्तं ।
खणवरमविरोधेन्ता निब्बानपुरं भजथ खिप्पं ॥४९६॥

१०. पत्तिदानानिसंस-गाथा

अत्तत्थमनपेक्खित्वा परत्थं दीयते यतो ।
करुणाकतञ्ञुतायोगा पत्तिदानं विसेसितं ॥४९७॥

पतिकारपरे लोके आसादासब्यतंगते ।
उपकारसमत्थस्स सतो को न करेय्य किं ॥४९८॥

सतस्स कम्मदोसेन पेतभूतस्स जन्तुनो ।
इह वा व्यसनट्ठस्स उपकत्ता सुदुल्लभो ॥४९९॥

ये आनिसंसा निद्दिट्ठा दाने मानप्पहायिना ।
सविसेसा'व ते सब्बे पत्तिदाने पि वेदिया ॥५००॥

यदि ते अनुमोदन्ति परदत्तूपजीविका ।
पेता दानं परिग्गय्ह तेसं तं उपकप्पति ॥५०१॥

यं यं तं उद्दिसित्वान दानवत्थुपदीयते ।
तं तं तस्स खणेनेव उप्पज्जति असंसयं ॥५०२॥

---

१. Ms. मलं । B. चलं ।

इतीदं सारिपुत्तस्स मातुपेताय दानतो।
साधितब्बन्तु सन्देहविगमत्थं विजानता ॥५०३॥

तस्साभावे पि अञ्ञस्स सजनस्सोपकप्पति।
तस्मिं सन्ते असन्ते पि दायका तु अनिप्फला ॥५०४॥

संसारे अनमत्तग्गे[1] सो लोको तस्स ञातिहि।
सुञ्ञो अस्साति अट्ठानं इति ञेय्यं हि युत्तितो ॥५०५॥

यस्स तस्स मनुस्सस्स उक्कट्ठा लामकापि वा।
पच्चया सुलभा एव विरियेन परियेसतो ॥५०६॥

पेता हि नेकवस्सानि खुप्पिपासातुरा पि च।
पच्चया न लभन्तेव गवेसन्तापि[2] सब्बसो ॥५०७॥

तेसं सकम्मदोसेन सन्नानं व्यसनण्णवे।
व्यसनापगमोपायमत्थीति सुविनिच्छितं।
अकरोन्तो चरे यो हि तम्हा निक्करुणो नु को ॥५०८॥

तस्मा सन्तो सप्पुरिसा कतञ्ञू कतवेदिनो।
पेतदानादिकं पत्ति देन्ति कारुञ्ञचोदिता ॥५०९॥

११. अनुमोदनानिसंस-गाथा

इस्साव्यापादमच्छेरं विहिंसा चापि नासिय।
गुणाराधितचित्तो यं अनुमोदति मोदको ॥५१०॥

यतो ततो महेसक्खो सुरूपो भोगवापि च।
दीघायुको सदा हट्ठो होति पुञ्ञानुमोदको ॥५११॥

विस्सज्जेत्वान निस्सङ्गं चतुपञ्ञास कोटियो।
कत्वा जेतवने रम्मे विहारं चारुदस्सनं ॥५१२॥

१. Ms. अनमत्तग्गेहि संसारे।

२. B. परियेसन्तापि।

सोण्णभिङ्कारहत्थस्स सुदत्तस्स सिरीमतो ।
दिस्वा सब्बञ्ञुबुद्धस्स सङ्घस्स ददतो सिरिं ॥५१३॥

अहो दानन्ति बहुसो उदानं अब्भुदीरयं ।
मानवो अनुमोदनतो अदेन्तो काकणम्पि च ।
दायकतो पि अधिकं अलत्थ कुसलोदयं[1] ॥५१४॥

अकत्वा कायवाचाहि अदत्वा किञ्चि हत्थतो ।
चित्तप्पसादमत्तो पि यदि एवं फलावहो ॥५१५॥

अनुमोदनजं पुञ्ञं चित्तायत्तम्महाफलं ।
अकरोन्तो चरन्तो हि सोचनीयो अयं जनो ॥५१६॥

१२. देसनानिसंस-गाथा

दारदारकनेत्तादि दानं दत्वा अनेकसो ।
वीरविरियेन यो लद्धं धम्मं देसेति सद्धया ॥५१७॥

अपत्थेन्तो यसोलाभसक्कारादीनि अत्तनो ।
हितज्झासयतो एव सत्थु किच्चकरो 'व सो ।५१८॥

देसकस्स अभावेन यतो अप्परजक्खका ।
बहू संविज्जमानापि न फुसन्तेव निब्बुतिं ॥५१९॥

तस्मा सक्कच्च सद्धम्मं उग्गहेत्वा यथातथं ।
सद्धम्मगरुको हुत्वा अविञ्ञातं अवेदयं ॥५२०॥

सत्थुनो पटिपत्तीव चरन्तो परहेतुकं ।
अनामिसगरु हुत्वा धम्मं देसेय्य पण्डितो ॥५२१॥

सब्बदानं धम्मदानं जिनातीति जिनो ब्रवि ।
देसयी देसकवरो देसना[2] दुल्लभा ति च ॥५२२॥

१. Ms. कुसलोदकं ।
२. Ms. देसयी देसकवरो देसेतां च दुल्लभो ।

अत्थो पदीयमानो हि ततो खिप्पं विगच्छति ।
धम्मो पदीयमानो हि उभयत्थाभिवड्ढति ॥५२३॥

योनिसो मनसिकारो अथो सद्धम्मदेसना ।
मग्गञाणस्स हेतूति[1] वुत्तो मग्गञ्ञुना सदा ॥५२४॥

सभावञाणं धम्मानं संसारादीनवञ्ञुता ।
सच्चानञ्चाभिसमयो सब्बे ते देसना भवा ॥५२५॥

यतो यं देसको धम्मं सब्बसम्पत्तिकारणं ।
देसेति तस्मा तस्सीध सब्बसम्पत्तियो फलं ॥५२६॥

एवम्महानिसंसम्पि यो सद्धम्मं सुदुल्लभं ।
समत्थो पि न देसेति विफलन्तस्स जीवितं ॥५२७॥

१३. सवनानिसंसा-गाथा

सद्धम्मं सुणमानस्स यो हि अत्थानुसारिनो ।
पमोदो निधिलद्धस्स दळिद्दस्सापि नत्थि सो ॥५२८॥

किलेसमक्खिका चित्तं सन्तत्तं सवणग्गिना ।
नाल्लीयन्ति सन्तत्तं अयोपिण्डं व मक्खिका ॥५२९॥

पञ्ञवा सुणमानो हि सद्धम्मं बुद्धदेसितं ।
सुगम्भीरमवितथं मधुरं अमतं विय ॥५३०॥

लभते परमं पीतिं देविन्देनापि दुल्लभं ।
तदेवालम्फलन्तस्य मा होतु परलोकिकं ॥५३१॥

सद्धम्मस्सीध गहणं[2] न होति सवणं विना ।
गहणेन विना अत्थ परिक्खा नोपजायति ॥५३२॥

अत्थन्तु अपरिक्खन्तो अत्तनो वा परस्स वा ।
असमत्थो'व सो होति हितत्थपटिपत्तिया ॥५३३॥

---

१. Ms. हेतुति ।
२. Ms. गहनं ।

परियत्ति विना धम्मो न तिट्ठति कुदाचनं ।
सवणं विना परियत्ति तस्मापि सवणं वरं ॥५३४॥

नेककप्पसतुस्साहसमानीतो पि सत्थुना ।
सद्धम्मो न पतिट्ठाति सवणेन विना यतो ॥५३५॥

ततो तस्सापि उत्साहविसेसं सम्पेक्खिय ।
सोतब्बो एव सद्धम्मो अपि निब्बानदस्सिना ॥५३६॥

यं पञ्ञाबुद्धिकरणं सद्धम्मट्ठितिकारणं ।
फलं तस्स पमातुं को समत्थो सुगतं विना ॥५३७॥

देवरज्जम्पि साधेतुं समत्थेनापि तं खणे ।
अनादियित्वा तं धम्मो सोतब्बो सुगतागतो ॥५३८॥

१४. पूजानिसंसा-गाथा

मानं परिच्चजित्वान उप्पादेत्वान गारवं ।
गुणं उपपरिक्खित्वा उपकारं व तादिसं ॥५३९॥

सद्धाकतञ्ञुतापञ्ञागारवादीहि मण्डितो ।
यतो करोति पूजं यो भावतो वन्दनादिहि ॥५४०॥

ततो सो जायती अड्ढे कुलम्हि उदितोदितो ।
असङ्कितेहि सत्तेहि भावतो वन्दनारहे ॥५४१॥

परत्थ पूजकोसन्तो यत्थ यत्थूपपज्जति ।
तत्थ तत्थ विसिट्ठं सो ठानं लभति पूजियं ॥५४२॥

पसादनीयवत्थुम्हि पसादस्स फलेन हि ।
अनिन्दितङ्गपच्चङ्गो होति पासादिको नरो ॥५४३॥

कतञ्ञुना गुणवता कतपुञ्ञफलेन हि ।
अकतञ्ञुजनस्सापि कतम्फातिं गमिस्सति ॥५४४॥

कतञ्ञुनो पि च कतं पराहि अकतञ्ञुना ।
महापब्बतमत्तम्पि अच्चन्तानुं व दिस्सति ॥५४५॥

तस्मा पुब्बोपकारिस्स[1] उपकारानि पण्डितो ।
करेय्य हि यथासत्ति कतानि अविनासयं ॥५४६॥

पञ्ञापुब्बङ्गमं कत्वा पुञ्ञकम्मानि पण्डितो ।
फलोपभोगकालेपि होति अच्चन्तपञ्ञवा ॥५४७॥

सयं गुणड्ढो हुत्वान गुणड्ढे बुद्धसावके ।
पूजयत्यस्स[2] हि फलं गुणड्ढग्गो व ञस्सति ॥५४८॥

अभिवादनसीलस्स निच्चं बुद्धापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयुवण्णो सुखं बलं ॥५४९॥

एकपुप्फं यजित्वान असीतिं[3] कप्पकोटियो ।
दुग्गतिं नाभिजानामि एक पुप्फस्सिदम्फलं ॥५५०॥

पूजा च पूजनीयानं एतम्मङ्गलमुत्तमं ।
इच्चेवमादिगाथाहि पूजासम्पत्ति दीपिता ॥५५१॥

बुद्धे धम्मे च सङ्घे वा कतो एको पि अञ्जली ।
पहोति भवदुक्खग्गिं निब्बापेतुं असेसकं ॥५५२॥

इमिना पूतिकायेन दुब्बलेन पभङ्गुना ।
अवस्सच्छड्डनीयेन यदि सक्का महाफलं ॥५५३॥

पुञ्ञं कातुं असारेन सारं वरसुखावहं ।
चरेय्य तं अकत्वान को हि नाम सचेतनो ॥५५४॥

१५. वेय्यावच्चानिसंस-गाथा

आपदासु सहायानं लाभो इट्ठत्थसिद्धि च ।
परिवारसम्पदा[4] चेति वेय्यावच्चफलम्मता[5] ॥५५५॥

---

१. Ms. पुब्बोपकरस्स ।
२. Ms. पूजयन्तस्स ।
३. Ms. असीति ।
४. Ms. परिवारसम्पदं ।
५. Ms. मतं ।

गिलानगुणवन्तानं दानादिकिरियासु वा ।।
वेय्यावच्चाभिसम्भूतं को फलं वण्णयिस्सति ।।५५६।।

यो गिलानं उपट्ठाति सो उपट्ठाति[1] मं इति ।
महाकारुणिकेनापि सो भुसं परिवण्णितो ।।५५७।।

सब्बञ्ञु सब्बदस्सावि सयम्भू अग्गपुग्गलं ।
उपट्ठाति कथं वा सो किमिदं अब्भुतब्भुतं ।।५५८।।

परत्थमेव अत्तत्थमिति पस्सति सो मुनि ।
तेनानच्छरियन्तस्स[2] उपकारीव सो नरो ।।५५९।।

तस्मा गिलानुपट्ठाने सम्मासम्बुद्धवण्णितो ।
महागुणे यथासत्ति करेय्य परमादरं ।।५६०।।

बुद्धादीनं गुणड्ढानं वेय्यवच्चस्स को गुणं ।
वण्णितुं चिन्तितुं वापि समत्थो अविनायको ।।५६१।।

पभङ्गुरेन[3] कायेन सुकरं पुञ्ञमुत्तमं ।
न करेय्य कथं विञ्ञू अनुम्मत्तो[4] सचेतनो ।।।५६२।।

१६. सम्पहंसानिसंस-गाथा

पमोदबहुलो होती सदा सब्भि पसंसियो ।
पसन्नमुखवण्णो च पसंसाभिरतो नरो ।।५६३।।

पुञ्ञकम्मं करोन्तानं गुणं तस्स विभावयं ।
हासं सञ्जनयित्वान यतो वड्ढेति आदरं ।।५६४।।

ततो सो जिण्णगेहस्स उपत्थम्भकरो विय ।
लभते विपुलं पञ्ञं पुञ्ञकम्मप्पसंसको ।।५६५।।

---

१. Ms. उट्ठेति ।
२. Ms. तेन अनच्छरन्तस्स ।
३. Ms. पभङ्गुनेन ।
४. Ms. अनुमत्तो ।

पुञ्ञं असद्दहन्तस्स अञ्ञतो व[1] सुखत्थिनो ।
अन्धभूतस्स लोकस्स अनत्थत्थाभिसङ्गिनो ।।५६६।।

आलस्सेनाभिभूतस्स अविञ्ञूजनसेविनो ।
पुञ्ञकम्मादरकरो सत्थुकिच्चं' व सो करे ।।५६७।।

ये चानुमोदने वुत्ता गुणा ये चापि देसने ।
ते च योज्जा यथायोगमसेसा सम्पहंसने ।।५६८।।

१७. सरणानिसंस-गाथा

तथागतं वितरणं चतुमाररणञ्जयं ।
सरणं को न गच्छेय्य करुणाभावितासयं ।।५६९।।

स्वाक्खातं तेन सद्धम्मं संसारभयभञ्जकं ।
करुणागुणजन्तस्स सरणं को न गच्छति ।।५७०।।

परिपीतामतरसं सद्धम्मोसधभाजनं ।
सङ्घं पुञ्ञकरं[2] को हि सरणं नागमिस्सति ।।५७१।।

एकादसग्गिसन्तापरहितं रतनत्तयं ।
करुणागुणयोगेन अनोतत्तातिसीतलं ।।५७२।।

सरणन्ति गतं दुक्खं न सक्कोति पतापितुं ।
यथा तिणुक्का निम्मुग्गा[3] अनोतत्तमभासरे ।।५७३।।

भीता हि सरणं यन्ति नदीपब्बतकानने ।
का हि तेसं सरणता मरणं येसु विज्जति ।।५७४।।

यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो ।
मरणस्सापि नासज्ज करणं तम्हि विज्जति ।।५७५।।

---

१. Ms. च । B. व ।
२. Ms. पुञ्ञाकरं सो ।
३. Ms. निमुग्गं ।

अहो अञ्ञाणराजस्स आणा बलवती भुसं।
सदोसे सरणं याति याय अन्धीकतो जनो ॥५७६॥

दोसवसे करुणाबलहीनो या सरणं ति नरो उपगच्छे।
सो करुणम्मरणग्गहकिण्णे[1] संसरतेव भवोदधिमज्झे ॥५७७॥

यो अतुलो असमो दीपदग्गो कालबलप्परिमद्दनसूरो।
तं सरणन्ति गतस्स हि लोके सब्बरणेसु भयन्नहि अत्थि ॥५७८॥

ते न तथागतपब्बतराजं ये सरणन्ति गता नरदेवा।
ते मरणादिभयेन विहीनं निस्सरणं विरणं उपयन्ति ॥५७९॥

१८. अनुस्सरणानिसंस-गाथा

यस्मिं खलु महानाम समये अरियसावको।
तथागतं' नुस्सरति[2] सद्धम्मं सङ्घमेव वा[3] ॥५८०॥

नेवस्स तस्मिं समये रागादिपरियुट्ठितं।
चित्तं होतीति सुत्तेसु अनुस्सति विसेसिता[4] ॥५८१॥

यं यं दानादिकुसलं अनुस्सरति भावतो।
तस्स तस्सानुरूपं हि यसञ्चानुस्सती फलं ॥५८२॥

बुद्धस्सेकगुणं वापि सतो 'नुस्सरतो हि या।
पीति सा ति भविस्सरिय लद्धस्सापि न विज्जति ॥५८३॥

तं अनुस्सरतो रागदोसमोहमहग्गयो।
खणेन परिनिब्बन्ति महोघेनेव[5] अग्गिनो ॥५८४॥

१. Ms. मरणग्गहकिण्णे।
२. Ms. अनुस्सरति।
३. Ms. च।
४. Ms. विसेसता।
५. Ms. महोघोनेव and sanna महोघेन व।

सुचिरम्परसत्तत्थे अविच्छिन्ना अनुस्सति ।
यस्स तं सरतो पञ्ञं को हि अञ्ञो मिनिस्सति ॥५८५॥

न मनुस्सामनुस्सेहि नागरोगानलेहि वा ।
ईसकम्पि भय होति रतनानुस्सतीक्खणे ॥५८६॥

तस्मानुस्सरणीयेसु बुद्धादिसु सगारवो ।
अनुस्सरेय्य सततं संसारुपसमत्थिको ॥५८७॥

१९. अप्पमादानिसंस-गाथा

सब्बं पुञ्ञं समोधाय फलन्तस्स विसेसयं ।
नायको निधिकण्णम्हि[1] विसेसेनाभिवण्णयि ॥५८८॥

असाधारणमञ्ञेसं अचोराहरणो निधि[2] ।
पच्चेकबोधिजिनभूमि सब्बमेतेन लब्भति ॥५८९॥

सब्बञ्ञुञाणसतरंसिपज्जोतेनावभासिता[3] ।
करुणापुण्णचन्देन कतसीतपरिग्गहा[4] ॥५९०॥

दस बुद्धामलवलोदारग्गहविभासिता ।
कुसलोसधिताराहि सङ्किण्णा सब्बतो दिसं ॥५९१॥

सुद्धासाधारणञाण सुवण्णमणिसानुहि[5] ।
बुद्धधम्मोरुसेलेहि अवरुद्धा समन्ततो ॥५९२॥

वेसारज्जमिगिन्देहि परिसावनराजिसु ।
सुखविस्सत्थचारीहि[6] अच्चन्तमुपसोभिता ॥५९३॥

---

१. Ms. निधिकण्डं ।
२. Ms. अचोरहरणो ।
३. Ms. पज्जोतेञवभासिता altered from पज्जोतेनेवभासिता ।
४. Ms. कतंसीतपरिग्गहा ।
५. Ms. सुवण्णभनिसिद्धिहि ।
६. Ms. सुखविस्सङ्कचारीहि ।

लोकधम्मानिलाकम्पधितिमेरु धजुग्गमा ।
सतिपट्ठानरट्ठड्ढा पधानानिलवीजिता[1] ॥५९४॥

सद्धम्मदेसनावस्सधाराहि परिसिञ्चिता ।
बोज्झङ्गकुसुमाकिण्णा मग्गञ्जसमहापथा ॥[2]५९५॥

गुणण्णवपरिक्खित्ता सीलामलतला सुभा ।
बुद्धभूमीहि या लोके लद्धावीरवरेहि[3] सा ॥५९६॥

विसिट्ठा सब्बभूमीनं यदि पुञ्ञेन लब्भति ।
अलब्भनीयम्पुञ्ञेन लोके अञ्ञं हि किं सिया ॥५९७॥

सब्बं पुञ्ञं हि निस्सेसं मनुस्सत्ते समिज्झति ।
तं पब्बतनदीबिज्जुजलचन्दादिचञ्चलं ॥५९८॥

तस्मा इमं खणवरं लद्धा सब्बत्थसाधकं ।
आदित्तचेलसीसा'व योगं समनुयुञ्जथ ॥५९९॥

पमादं दूरतो कत्वा अप्पसादो'व सेवियो ।
कल्याणमित्ते निस्साय भावनीयगुणाकरे ॥६००॥

पमादो सब्बदोसानं हेतूति परिकित्तितो ।
अप्पमादो तथा सब्बगुणानं हेतु सम्मतो ॥६०१॥

पक्खन्दति अनत्थेसु पमादो परिकप्पितो ।
सुभं सुखञ्च निच्चञ्च अत्ताति[4] विपरियेसतो ॥६०२॥

ततो असुचि बीभच्छं दुग्गन्धं किमिसङ्कुलं ।
देहं परमजेगुच्छं भजनीयन्ति पस्सति ॥६०३॥

---

१. Ms. पधानीप्पवीजिता ।

२. Ms. बोज्झङ्गकुसुमाकिण्ण ।

३. Ms. वीरवेहि या ।

४. Ms. अत्तानीति विपरियये ।

[1]हत्थाहारिक-अग्गीव हत्थसम्परिवत्ततो ।
इरियापथचक्केन[2] भरणीयं सुदुक्खतो ॥६०४॥

पभङ्गुरं[3] परायत्तं पच्चयायत्तमप्पकं[4] ।
पतिकारन्तरन्दिस्वा[5] मय्हते सुखसञ्ञया ॥६०५॥

चित्तस्सानन्तरं चित्तं पवत्तन्तं निरन्तरं ।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्तमपि दीपसिखा विय ॥६०६॥

लहुप्पवत्तितो तत्थ अदिस्वान अनिच्चतं ।
निच्चन्ति पटिगण्हाति[6] पमत्तो चित्तसन्ततिं ॥६०७॥

दुब्बले पच्चयायत्ते निस्सारे खन्धपञ्चके ।
सरीरिन्द्रियविञ्ञाणसमवायेन साधितं ।
सुरियकन्तिन्धनादिच्च[7] सम्भूतमिव पावकं ॥६०८॥

किरियं अविजानन्तो अत्ता अत्थीति मञ्ञति ।
मञ्ञन्तो मारपासेन आमासञ्ञेन बज्झति ॥६०९॥

बद्धो तेन यथाकाम करणीयो व होति सो ।
अज्झोहटो व बलिसं मच्छो आमिसतण्हया ॥६१०॥

अप्पमत्तो तु[8] धम्मानं सभावमनुगाहति ।
सभावमनुगाहन्तो मञ्ञणीयं न पस्सति ॥६११॥

ततो सो तिभवं दिस्वा निस्सारं भङ्गुरं[9] दुखं ।
नरके चिरवत्थो व ततो निब्बन्दते भुसं ॥६१२॥

१. Ms. हत्थहारिक अग्गीव ।
२. Ms. इरियापथिकचक्केन हरणीयं
३. Ms. पभङ्गुनं ।
४. Ms. पच्चयामत्तं अप्पकं ।
५. Ms. पतिकारकरं ।
६. Ms. पनिगण्हाति ।
७. Ms. सूरकन्तिन्धनादिच्चसम्भूतं ।
८. Ms. हि । B, तु ।
९. Ms. भङ्गुनं ।

ततो सो सत्तसङ्खारे विरज्जति न रज्जति
विरत्तो न चिरस्सेव विमुच्चति समाहितो ॥६१३॥

विमुत्तिसारं नाथस्स सासनं सारदस्सिनो ।
अप्पमत्तस्स वसतो सा विमुत्तो न दुल्लभा ॥६१४॥

तस्मा हि अप्पमादेन विहरेय्य सगारवो ।
पत्तं परमवीरेहि पत्थेन्तो परमं पदं ॥६१५।

इति सधम्मोपायनमिदं अतिगम्भीरममलविपुलत्थं ।
उद्दिस्स बुद्धसोमं उपरचितं गन्थभीरून ॥६१६॥

मन्दानं धम्मकथान यानभिञ्ञानमपि च सुगमतरं ।
भवतूति सुत्तियुत्तिमवोक्कमित्वा अवित्थिण्णं[1] ॥६१७॥

ठातु चिरं सधम्मो धम्मधरा[2] च इध तिट्ठन्तु ।
सङ्घो भवतु समग्गो सब्बो लोको सुखीभवतु ॥६१८॥

मम सद्धमोपायनरचनुस्साहेन जनितपुञ्ञेन ।
भवतु सकलो पि लोको तिलोकनिट्ठरणसमत्थियो[3] ॥६१९॥

बुद्धपादेन सहितं लद्धा मानुससम्भवं ।
सासने पब्बजित्वान नालं भिक्खु पमज्जितुं ॥६२०॥

किकीव अण्डं चमरीव वालधि पियं व पुत्तं नयनं व एककं ।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका सुपेसला होथ सदा सगारवा ॥६२१॥

---

१. Ms. अवित्थिन्नं । Ms. adds—इति भदन्त आनन्दत्थेरेन कतं सद्धम्मोपायनस्स सम्माहरणं समत्तं ।
२. Ms. ठातु चिरं सद्धम्मो सधम्मधरा इध ठातु ।
३. Ms. समत्थोति ।

दिट्ठमित्तादिट्ठमित्ता सब्बे सप्पुरिसादयो।
अनुमोदित्वामिमं पुञ्ञं पापुनन्तु सिवं पदं ॥१॥

राजाराजाधिराजानो मच्चामच्चादिसाधवो।
अनुमोदित्वामिमं पुञ्ञं साधयन्तु सिवं पदं ॥२॥

सब्बे सत्ता च भूता च हिता च अहिता च मे।
अनुमोदित्वामिमं पुञ्ञं बोधयन्तु सिवं पदं ति ॥३॥

पत्तिदानानुमोदनायि[1]

भवाभवे संसरन्तो याव निब्बानपत्तिया।
जातिस्सरेन ञाणेन तिहेतुपटिसन्धिको ॥४॥

उप्पन्नुप्पन्नबुद्धेसु पूरेत्वा सब्बपारमी।
मङ्गलो विय सम्बुद्धो हुत्वा लोके अनुत्तरो ॥५॥

संसारे संसरन्तानं सत्तानं हितमावहं।
धम्मनावाय ते नेत्वा तारयिस्सं भवण्णवा ति ॥६॥

इति नेकेहि नामेहि कित्तिया च महेसिना।
वुट्ठानगामिनीसत्ता परिसुद्धा विपस्सना ॥७॥

पुब्बयोगो बाहुसच्चं देसभासा च आगमो।
परिपच्छा अधिगमो गरुसन्निस्सयो तथा।
मित्तसम्पत्ति चेवापि पटिसम्भिदपच्चया ति ॥८॥

प्रस्तुत संस्करण में टिप्पण के रूप में जो पाठ भेद दिये गये हैं, वे रिचार्ड मॉरिश ने ग्रन्थ के बाद दिये हैं। यहाँ उन्हें यथास्थान नियोजित करके प्रस्तुत किया गया है।]

---

१. पत्तिदानानुमोदनायि not in Ms. text, occurs at end of sanna.

Veses 7 and 8 are not in the Ms. text, but occur at and of Sanna. Instead of these lines ms, has "सुभं अत्थु सयम्भु हेसं"।

अज्ञातकर्तृक

हत्थवनगल्लविहारवंसो

भदन्त सोमरतन थेरो
प्राध्यापक-पालि एवं थेरवाद विभाग
श्रमणविद्यासंकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

११

ग्रन्थोऽयं 'हत्थवनगल्लविहारवंसो' नामा श्रीलङ्कायां पालिभाषया श्रीसंघबोधि-महाराजस्य (३०७-३०९ खृीष्टाब्दजातस्य) चरित्रवर्णनाव्याजेन विरचितो गद्यपद्य-मयश्चम्पूकाव्यात्मकः। अन्तःसाक्ष्येण ज्ञायते यद् ग्रन्थकारः संघराजेन अनोमदर्शिना प्रार्थितः प्रेरितश्च किन्तु ग्रन्थकर्त्तुर्नाम न केनोपायेन ज्ञातुं शक्यते। ग्रन्थोऽयं श्रीलङ्का-धिपस्य द्वितीयपराक्रमबाहुसंज्ञकस्य (१२३६-१२७१ खृीष्टाब्दे) काले नूनं निबद्धः। स च श्रीलङ्कायां विद्योदयपरिवेणे सिंहलाक्षरैः १९३४ तमे खृीष्टाब्दे सटीकः प्रकाशितश्च। स एव चास्य संस्करणस्य आधारभूत इति।

PREFACE

The Hatthavanagalla-vihāravaṃsa is a poetical work in Pāli written in the style of Campu-mixed in prose and verse–in order to eulogise the noble character of the king Sri Saṅghabodhi (307-309 A. D.) that was considered a Bodhisattva in Sri Lanka.

As the third verse of the book mentions that it has been composed by the invitation of the Sangharaja Anavamadarśi Thero; it is certain that this book has been written in the reign of Parākramabāhu II (1236-1271 A.D.).

The reign of Parākramabāhu the Great (1153-1186 A.D.) was graced by the eminent scholars such as the Sangharāja Mahākāśyapa, who lived at Udumbaragiri, the Thera Maudgalyāyana, the grammarian who lived in the Thūpārāma at Anurādhāpura and Śārīputra, the great author of Pāli sub-commentaries.

The reign of Parākramabāhu I terminated within thirty three years. The half a century, that followed, was a period of chaos. The whole country was in a mess as a result of internal troubles as well as fear of foreign invasions. It is evident by the fact that within a period of twenty seven years, thirteen rulers have been enthroned. Within such a period it is impossible to expect the progress of literature. Further the King Māgha of Kalinga (1214-1235 AD) invaded and brought much harm to the country. He chased away the monks from the monateries and made his army to reside in. As a result, the progress of literary activities was in an ebb-tide.

After, Vathimi Vijayabāhu (1232-1236 A. D.) who reigned at Jambudroṇīpura for four years after saving the country of Māyā, his son Parākramabāhu II ascended the throne in (1236 AD). He unified the whole country by fighting many battles against the foreign invaders. During his reign, religion as well as literary activities flourished. He himself was an emminent scholar, and he tried to spread learning very much. As the bhikkhūs in the country were lacking in scholarship he invited the scholars from India and also made them bring the books. They trained bhikkhūs in the country in

Buddhism as well as in other religions. And also they were made well-versed in the other sciences. The Thera Dharmakīrti that lived at Palābatgala (Puṭabhatta-sela) and the Thera Coliya Buddappiya were some of the scholars that arrived in Sri Lanka by his invitation. The King who was a scholar in the same scale with the contemporary scholars entertained the title "Kalikāla-Sāhitya-Sarvajña-Pandita".

The King even though under the pressure of royal duties wrote several works of great significance, such as the commentary on the Visuddhimagga and the Nissandeha, the Sinhalese commentary on the Vinaya Vinicchaya. The Sinhalese epic poem named Kav-Siluminạ (Kāvya Cūḍāmaṇi) also is ascribed to him.

His contemporaries were the emminent figures in Buddhist clergy such as : Sangharakṣita Mahāsvāmi, Anavamadarśi Sangharāja Mahāsvāmi, Āraṇyaka Medhankara Mahasvāsmi, the Theras. Buddhapriya, Vanaratana Ānanda, Vedeha, Buddhaputra, the principal of the Mayurapāda Pariveṇa etc.

Thus we can see that the Hatthavanagalla-Vihāravaṃsa was composed at a time when the Sri Lanka was illumined by the advancement of learning.

The name given to this work by the author is Hatthavanagalla Vihāravaṃsa. Although it is stated that Anavamadarśi Sangharāja Mahasvāmi has invited to write the book, the author's name is not mentioned here. Neither it is known from any other source.

This work is important not only as an eulogy of a noble character but also as a poem of the category of Campū–a poetical work mixed with verse and prose. The prose style is akin to that of Kādambari and the author has been influenced by the very same work as well as Jātakamālā by Āryaśūra.

—Bhadant Somaratano Thero

विञ्ञापनं

सिरिसम्बुद्धपरिनिब्बानतो चतुनवुत्यधिकसत्तसतवस्से सिरिलंकायं रज्जसिरिमुपगतस्स बोधिसत्तचरितापदानस्स धम्मिकस्स सिरिसंघबोधिमहाराजस्स चरितवण्णनामुखेन रचितोऽयं हत्थवनगल्लविहारवंसो नाम गज्जपज्जविमिस्सितो चम्पूगन्थो।

परमविसुद्धबुद्धिनो अनोमदस्सिमहासामिनो अज्झेसनं पटिग्गहेत्वा कतोयमिति गन्थे येव दिस्सते।

तेन वुत्तं

ब्रह्मन्वयेन, नुगतत्थमनोमदस्सि-
ख्यातेन सब्बयतिराजधुन्धरेन।
ब्यापारितो' हमितिहानुगतं कथं च
निस्साय पुब्बलिखितं चिध वायमामीति।

तस्मायं गन्थो दुतियपरक्कमबाहुमहीपालस्स समये रचितो होति।

सिरिसम्बुद्धपरिनिब्बानतो १७०३तमे (वोहारवस्सतो १२३६तमे) वस्से लंकारज्जे सित्तस्स महापरक्कमबाहुभूपालस्स समये सकलसत्थागमपारदस्सिनो परमविसुद्धबुद्धिविरियपतिमण्डिता, तिपिटकविसारदा, सक्कतादिभासासु कुसला, महापण्डितत्थेरवरा अहेसुं। तेसु उदुम्बरगिरिविहाराधिपति महाकस्सपसंघराजमहात्थेरो, टीकाचरियो सिरिसारिपुत्तसंघराजमहाथेरो, महावेय्याकरणो मोग्गल्लानत्थेरो च पामोक्खा अहेसुं। तेत्तिसवस्सं रज्जमनुसासितवति महापरक्कमबाहुमहाराजे दिवंगते अड्ढसतसंवच्छरप्पमाणकालं सिरिलंकादीपो उपद्दुतो अहोसि। इमस्मिं समये सत्तवीसतिवस्सब्भन्तरे येव तेरस राजानो रज्जसिरिमनुभविंसु। तेनेव खायति यं तस्मिं समये लंकादीपस्स सभावो कीदिसो ति। विविधोपद्दवाकुले तादिसे समये सत्थागमाभिवुद्धि कथं पाटिकंखितब्बा।

सिरिसम्बुद्धपरिनिब्बानतो १७६६तमे (वोहारवस्सतो १२१४तमे) वस्से कालिंगरट्ठतो माघो नाम अधम्मिको राजा चतुवीसतिसहस्समत्तेन योधबलेन सद्धिं लंकादीपमागन्त्वा सब्बथा उपद्दवमकासि।

तेन वुत्तं महावंसे

माघराजमहागिम्हे योधदावानले बहू।
नियोजेसि निपीळेतुं लंकारज्जमहावनं ॥ति॥

पापिट्ठोऽयं बहू विहारपरिवेणादयो विनासेत्वा भिक्खू नानादेसेसु पलापेत्वा अत्तनो योधबलं तेसु तेसु विहारारामादिसु निवासापेसि। चेतियानि भिन्दित्वा तेसु

संकाय पत्रिका-१

धनं विलुम्पि। पोत्थके च धम्मसत्थविसयके विनासेसि। तेनूपद्दवेन पुलत्थिपुरराजधानिसमये सत्थागमाभिवुद्धि परिहीना।

तदा जम्बुद्दोणिनामपुरवरे 'विजयबाहु' नाम राजा (वोहारवस्सतो १२३२-१२३६ तमेसु वस्सेसु) अहोसि। सो चतुवस्सं रज्जमकासि। तस्स पुत्तो परक्कमबाहुकुमारो १७९१ तमे बुद्धवस्से (वोहारवस्सतो १२३६ तमे) राजाभिसेकं पत्तो पापिट्ठं माघराजं अञ्ञे च सत्तुजने पलापेत्वा लंकादीपं एकच्छत्तमकासि। दुतियपरक्कमबाहू'ति पाकटो सो राजा पण्डितो, सत्थागमेसु कुसलो, सकसमयसमयन्तरेसु छेको, पिटकत्तयविसारदो च अहोसि। सो जम्बुदीपतो सुदुल्लभानि पोत्थकानि भासासत्थन्तरेसु छेके थेराचरिये च इधानेत्वा सीहलदीपिके गहट्ठपब्बजिते सिक्खापेसि। तेसु एकच्चे साट्ठकथे तिपिटकपरियत्तिभेदे विसारदा, एकच्चे समयन्तरेसु कुसला, एके तक्केतिहासव्याकरणेसु छेका च अहेसुं।

तेसु तम्बलिंगगामतो आगतो पुटमत्तसेलगामे धम्मकित्तिमहाथेरो, चोलियबुद्धप्पियमहाथेरो चाति द्वे इधागतमहाथेरानं अतीव पाकटा अहेसुं। दुतियपरक्कमबाहुराजेनापि विसुद्धिमग्गसीहलव्याख्यानं, विनयविनिच्छयव्याख्यानं इति द्वे गन्था अञ्ञे च गन्था कब्बचूडामणि (कव्सिळुमिण) आदयो निम्मापिता। राजायं 'कलिकालसाहित्यसर्वज्ञपण्डित' ('कलिकालसाहित्‍यसव्ञ्ञूपण्डित') इति उपाधिना भिक्खुसघेहि सम्मानितो।

तदा संघरक्खितमहासामी, अनोमदस्सिमहासामी, आरञ्ञकमेधंकरमहासामी, बुद्धप्पियमहासामी, वेदेहमहासामी, वनरतन-आनन्दमहासामी, मयूरपादपरिवेणाधिपतिमहासामी चाति गन्थकत्तारो महाथेरवरा अहेसुं। अस्मिं समयेवायं हत्थवनगल्लविहारवंसो रचितो'ति निच्छयो। गन्थस्सास्स कत्तारा दिन्ना सञ्ञा हत्थवनगल्लविहारवंसो'ति। यदिपि अनोमदस्सिना संघराजेन आराधितोति विञ्ञते तथापि गन्थकत्तुनो नाम गन्थे न दिन्नमत्थि। अञ्ञोपि कोचि उपायो नत्थि येन तस्स नाम ञायते।

न केवलमेतं बोधिसत्तस्स चरितवसेन अग्घतरं परन्तु गज्जपज्जविमिस्सितेन मागधीभासाय लिखितचम्पूकब्बवसेनापि। एत्थ गज्जरचनामग्गो बाणभट्टाचरियस्स कादम्बरीगन्थस्सानुकूलो वत्तते। कत्ता तु कादम्बरीगन्थेन अरियसूरस्स जातकमालाय च पभावितो'ति दिस्सते।

सिरिलंकायं "विज्जोदयपरिवेणम्हि" आचरियभूतेहि देहिगस्पे पञ्ञासार पलन्नोरुवे विमलधम्म इति एतेहि पण्डितथेरवरेहि वोहारवस्सतो "एकसहस्सनवसताधिकचतुत्तिसतिमे वस्से हत्थवनगल्लविहारवंसस्स सीहलक्खरेहि सीहलभासाय लिखितम्हा "सुबोधिनिव्याख्या" इति पोत्थकम्हा मया पालिमत्तं उद्धरित्वा अयं गन्थो सम्पादितो।

—भदन्त सोमरतन थेरो

अनुक्कमो

राजकुमारुप्पत्ति	....	पठमो परिच्छेदो
अनुसासनं	....	दुतियो परिच्छेदो
अनुराधपुरप्पवेसो	...	ततियो परिच्छेदो
रज्जाभिसेको	..	चतुत्थो परिच्छेदो
पारमितासिंसनं	....	पंचमो परिच्छेदो
रत्ताक्खदमनं	....	छट्ठो परिच्छेदो
अभिनिक्खमनं	....	सत्तमो परिच्छेदो
अज्झत्तिकदानं	....	अट्ठमो परिच्छेदो
वट्टुलविमानुप्पत्ति	....	नवमो परिच्छेदो
पासादुप्पत्ति	....	दसमो परिच्छेदो
अट्ठंसविमानुप्पत्ति	....	एकादसमो परिच्छेदो

हत्थवनगल्लविहारवंसो

नमो बुद्धाय

राजकुमारुप्पत्ति नाम पठमो परिच्छेदो

1) स्नेहुत्तराय हदयामलमल्लिकाय पज्जालितो मतिदसाय जिनप्पदीपो ।
मोहन्धकारमखिलं मम नीहरन्तो निच्चं विभावयतु चारुपदत्थरासिं ॥

2) लङ्काभिसित्तवसुधाधिपतीसु राजा यो बोधिसत्तगुणवा सिरि संघबोधि ।
तस्सातिचारुचरिया रचनामुखेन वक्खामि हत्थवनगल्लविहारवंसं ॥

3) ब्रह्मन्वेयन'नुगतत्थमनोमस्सिख्यातेन सब्बयतिराजधुरन्धरेन ।
व्यापारितो 'हमितिहानुगतं कथञ्च निस्साय पुब्बलिखितञ्चिध वायमामि ।

4) अत्थि सुगतागमसुधापगानिद्धोतकुदिट्ठिविसकलङ्काय लङ्काय भगवतो अङ्गीरसस्स महानागवनुय्याने समितिसमागतयक्खरक्खसलोकविजयापदानस्स सिद्धखेत्तभूतो सीहलमहीमण्डलमण्डनायमानो विविधरतनाकरोपलक्खमाणमहग्घमणिभेदो मणिभेदो नाम जनपदो ।

5) लद्धानसत्थुचरणङ्कमनञ्जलब्भमानन्दिना सुमनकूटसिलुच्चयेन ।
उस्सापिता विजयकेतुमतल्लिकेव सुद्धोरुवालुकनदी यमलंकरोति ॥

6) लङ्काय यक्खगणनीहरने जिनस्स चम्मासनुग्गतहुतासनफस्सदाहा ।
संसाररक्खसवपुब्भवबुब्बुलं व यस्मि विभाति महियङ्गणथूपराजा ॥

7) सदा महोघाय महापगाय पानीयपानाय समोसटानं ।
समुच्चयो सारदवारिदानं नूनं गतो थावरथूपरूपं ॥

8) तस्सापगाय विमलम्बुनि दिस्समानमालोलवीचितरलं पटिबिम्बरूपं ।
भोगेहि वेठिय निजं भवनं फणीहि पूजत्थिकेहि विय राजति नीयमानं ॥

9) तस्स महियङ्गणमहाविहारस्स परियन्तगामके सेलाभयो नाम खत्तियो पटिवसन्तो पुत्तं पटिलभित्वा अङ्गलक्खणपाठकानं दस्सेसि । ते तस्स कुमारस्स अङ्गलक्खणानि ओलोकेत्वा "अयं कुमारो ओमकसत्तो

न होति, धञ्ञपुञ्ञलक्खणसम्पन्नो सकलम्पि सीहलदीपं एकच्छत्तं करित्वा महन्तमहन्तानि अच्छरियब्भुतानि महावीरचरितानि दस्सेस्सती"ति ब्याकरिंसु। ततो सेलाभयखत्तियो पुत्तस्स अभिसेकादिसम्पत्तिं सुत्वा कोटिप्पत्तपमोदपरवसो पि तस्मिं काले अनुराधपुरे रज्जं कारयता वोहारतिस्समहाराजतो कदाचि कोचि उपद्दवो जायिस्सती ति जातपरिसङ्को तं कुमारमादाय महियङ्गणमहाविहारे बोधिअङ्गने परित्तग्गे सन्निपतितस्स नन्दमहाथेरपमुखस्स महाभिक्खुसङ्घस्स मज्झे निपज्जापेत्वा "एसो मे भन्ते, कुमारो महासङ्घस्स च महाबोधिपादस्स च सरणं गच्छति, तं सब्बे'पि भदन्ता रक्खन्तु, सङ्घबोधिनामको चायं होतू" ति महासङ्घस्स च बोधिदेवताय च निय्यातेत्वा पटिजग्गन्तो कुमारस्स सत्तवस्सिककाले कालमकासि।

10) अथ मातुलो नन्दमहाथेरो कुमारकं विहारमानेत्वा पटिजग्गन्तो तेपिटकं बुद्धवचनं उग्गण्हापेत्वा बाहिरसत्थेसु च परमकोविदं कारेसि। सङ्घबोधिकुमारो पि कताधिकारत्ता तिक्खपञ्ञत्ता च ञाणविञ्ञाणसम्पन्नो हुत्वा वयप्पत्तो लोकस्स लोचनेहि पीयमानाय रूपसम्पत्तिया सवनञ्जलिपुटेहि अस्सादियमानसदाचारगुणसम्पत्तिया च पत्थटयसोघोसो अहोसि।

11) किमिह बहुना, कादम्बिनीकदम्बतो सिनिद्धनीलायतगुणं धम्मिल्लकलापे परिपुण्णहरिणङ्कमण्डलतो हिलादकरपसादसोम्मगुणं मुखमण्डले, चामीकरपिञ्जरकम्बुवरतो मेदुरोदारबन्धुरभावं गीवावयवे, कल्याणसिलुच्चयतो संहतविलासं उरत्थले, सुरसाखिसाखतो पीवरायतललितरूपं कामदानापदानञ्च बाहुयुगले, समदगन्धसिन्धुरतो गमनलीळ्हं कराकारञ्च सत्थियुगले, चारुतरथरुविरोचमानचामीकरमुकुरतो तदाकारं सजानुमण्डले जङ्घायुगले, निच्चासीनकमलाकमलतो रत्तकोमलदलसिरिं चरणयुगले आदाय योजयता पारमिताधम्मसप्पिना निम्मितस्स परमदस्सनीयरूपविलासस्स तस्स अत्तभावस्स संवण्णना गन्थगारवमावहति।

12) देहे सुलक्खणयुते नवयोब्बनद्धे तस्सुज्जले उपसमाभरणोदयेन।
का वण्णना कमलरूपिनि जातरूपे लोकुत्तरं परिमलं परितो वहन्ते॥

13) दोसारयो हदयदुग्गपुरे विजित्वा तत्थाभिसिच्च सुहदा विय धम्मभूपं।
अत्थानुसासतिमिमस्स वदं गिराय तत्थप्पवत्तयि सुधीनिजकायकम्मं॥

इति राजकुमारुप्पत्तिपरिच्छेदो पठमो।

अनुसासनं नाम दुतियो परिच्छेदो

1) अथेकदा मातुलमहाथेरो वयप्पत्तं सिरिसङ्घबोधिकुमारं धम्मसवनावसाने आमन्तेत्वा एवमाह—"कुमार ! महाभागधेय्य ! इदानि त्वमसि अधिगत-सुगतागमो, विदितसकलबाहिरसत्थो, चतुब्बिधपण्डिच्चकोटिप्पत्तो।" तथापि अभिमानधने खत्तियकुले जाति, सब्बत्थव्यापिना योब्बनविलासेन समलंकतं सरीरं, अप्पटिमा रूपसिरि, अमानुसं बलञ्चेति महती खल्वनत्थ-परम्परा। सब्बाविनयानमेकेकम्पि तेसमायतनं, किमुत समवायो ? येभुय्येन युवानं सत्थसलिलविक्खालनातिनिम्मलापि कालुसियमुपयाति बुद्धि। अनुज्झितधवलता पि सरागा एव भवति नवयोब्बनगब्बितानं दिट्ठि, अपहरति च वातमण्डलिकेव सुक्खपण्णं उद्धतरजोभन्ति अतिदूरमत्तनो इच्छाय योब्बनसमये पुरिसं पतति। इन्द्रियहरणहारिणी सततमतिदुरन्ता अयमुपभोगमिगतण्हिका। तस्मा अयमेवानस्सादितविसयरसस्स ते कालो गुरूपदेसस्स मदनसरप्पहारजज्जरिते हदये जलमिव गलति गुरूनमनुसासनं अकारणञ्च भवति दुप्पकतिनो कुलं वा सुतं वा विनयस्स। चन्दनप्पभावो न दहति किं दहनो ? किं वापसमहेतुना पि नातिचण्डतरो भवति बळवानलो सलिले व तस्मा गाळ्हतरमनुसासितब्बोसि।

2) अपगतमले हि मनसि फलिकमणिम्हि विय रजनीकरमयूखा पविसन्ति सुखमुपदेसगुणा। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महन्तमुपजनयति सवणगतं सूलमभब्बस्स भब्बस्स तु करिणो विय संखाभरणमाननसोभासमुदयमधि-कतरमुपवहति। अनादिसिद्धतण्हाकसायितिन्द्रियानुचरं हि चित्तं नावहति कण्णामानत्थं ? तस्मा राजकुमारानञ्च यतीनञ्च सतिबलेन इन्द्रियविजयो दिट्ठधम्मिकसम्परायिकमखिलं कल्याणजातमुपजनयति।

3) इन्द्रियविजयो च सम्भवति गुरुबुद्धोपसेवाय तब्बचनमविरोधेत्वा पटि-पज्जतो तस्मा तया आपाणपरियन्तं वत्थुत्तयसरणपरायणता न पहातब्बा न रागापस्मारविबोधनं विसयदलदहनसलिलसंसेचनं कातब्बं। पस्सतु हि कल्याणाभिनिवेसी चक्खुन्द्रियलालनपरवसस्स सलभस्स समुज्जलितदीप-सिखापतनं, सोतिन्द्रियसुखानुयुत्तस्स तरुणहरिणस्स उसुपातसम्मुखीभवनं, घानिन्द्रियपरवसस्स मधुकरस्स मदवारणकण्णतालहननं, रसनिन्द्रियतप्पन-व्यसनिनो पुथुलोमस्स बलिसामिसघासव्यसनं, फस्सिन्द्रियानुभवनलाल-

सस्स मतङ्गजस्स वारिणीबन्धनापायं। इमेहि इन्द्रियेहि मिलितेहि एकस्स कामिनो सकिदेव पञ्चन्नं विसयरसानमुपसेवाय पत्तब्बं महन्तं दुक्खजालं कथमुपवण्णयाम। इमानि च सुभासितानि पच्चवेक्खतु अनुक्खणं विचक्खणो।

4) नागारिकं सुखमुदिक्खति किञ्चि धीरो जानाति देहपटिजग्गनमत्थतो चे।
संसेवतोपि युवतिं रतिमोहितस्स कण्डूयने विय वणस्स सुखाभिमानो॥

5) को सेवेय्य परं पोसो अवमानं सहेय्य च।
न वे कलत्तनिगलं यदि दुक्खनिबन्धनं॥

6) आकड्ढमाना विसिखासमीपं परम्मुखा येव सदा पवत्ता।
दूरम्पि गच्छन्ति गुणं विहाय पवत्तनं तादिसमेव थीनं॥

7) असन्थुतं ता पुरिसम्पि अत्तनो करोन्ति आदासकता व भित्ति।
नेत्तिसवल्ली विय हत्थगा'पि दसासु सब्बासु च सङ्कनीया॥

8) अन्तो रुद्धा बहिद्धापि निस्सासा विय नारियो।
करोन्ति नासमेवस्स को धीमा तासु विस्ससे॥

9) मानसं पापसन्निन्नं अपाया विवटानना।
समन्ता पापमित्तो'व मोक्खो सब्बभया कथं॥

10) हदयतरुकोटरकुटीरो कोधकुण्डली न जातु बहि कातब्बो।
अपितु तितिक्खामन्तेन अविप्फन्दत्तं उपनेतब्बो॥

11) सतं तितिक्खाकवचे विगुण्ठिता सियुं दुरालापखगा खलानं।
सभा पसंसा कुसुमत्तमेता निबज्झरे तग्गुणमालिकाय॥

12) लोकाधिपच्चं विपुले धने च मनोनुकूले तनये च दारे।
लद्धापि या येति न जातु तित्ति बाधेतु सा तं न पपञ्चतण्हा॥

13) वण्णप्पसादा यससा सुखा च धना च हायन्तुपजीविना च।
येनाभिभूता रिपुनेव सत्ता दोसग्गि सो ते हदयं जहातु॥

14) खेदो विपत्तीसु पटिक्रिया न तस्मा न दीनप्पकतिं भजेय्य।
पञ्ञानुञातं विरियं वदन्ति सब्बत्थसिद्धिग्गहनग्गहत्थं॥

15) ब्यापारा सब्बभूतानं सुखत्थाय विधीयरे ।
सुखञ्च न विना धम्मं तस्मा धम्मपरो भव ॥

16) एवमादिकं सप्पुरिसनीतिपथं आदिसन्ते महाथेरेन कल्याणधम्मेन असोतब्बतानादरियरचितभूकुटितमुखेन वा दिसाविक्खित्तचक्खुना वा, अहंकारपरवसेन गजनिमीलितमुब्भावयता वा अत्तनो पञ्ञाधिक्खेपमिव च अविचिन्तयता चूळाविनिहितकोमलञ्जलिपुटेन तन्निन्नेन तप्पोणेन सिरसा च पीतिसमुदितसाधुवादविकसितकपोलेन मुखेन च सकलावयववित्थटरोमञ्चकञ्चुकितेन देहेन च भूमियं निपज्जित्वा दीघप्पणाममाचरता मग्गफललाभतो विय विसिट्ठतरं पमुदितमावीकतमासी ।

इति अनुसासनपरिच्छेदो दुतियो ।

अनुराधपुरप्पवेसो नाम ततियो परिच्छेदो

1) ततो पट्ठाय यथावुत्तपटिपदं अविरोधित्वा समाचरणेन सन्तुट्ठो तस्स सङ्घबोधिसमञ्ञं गोपेतुकामो मातुलमहाथेरो धम्मिको ति वोहारं पट्ठपेसि ।

2) लक्खणपाठकानं वचनं सद्दहन्तो भागिनेय्यं पब्बजितुकामम्पि अपब्बाजेत्वा "इध वासतो अनुराधपुरे वासो येव कुमारस्स योगक्खेमावहो" पुञ्ञानुरूपेन जायमानस्स विपाकस्स च ठानं होति, महाचेतियस्स वत्तपटिवत्तसमाचरणेन च महन्तो पुञ्ञक्खन्धो सम्पज्जिस्सती"ति मञ्ञमानो तं कुमारमादाय अनुराधपुरं गन्तुकामो निक्खमि । सङ्घतिस्सो गोठाभयो ति च लम्बकण्णा राजकुमारा अपरे पि द्वे तस्स पंसुकीळणनतो पट्ठाय सहाया तेन राजकुमारेन सद्धिं निक्कमिसु । ते तयो कुमारे आदाय गच्छन्तो महाथेरो पुरेतरमेव अनुराधपुरं पाविसि ।

3) महाथेरमनुगच्छन्तेसु तेसु कुमारेसु जेट्ठो सङ्घतिस्सो मज्झिमो सङ्घबोधि कनिट्ठो गोठाभयो ति ते थेरं पच्छतो अनुगच्छन्ता तयो पि पटिपाटिया तिस्सवापिया सेतुमत्थकेन गच्छन्ति । तत्थ सेतुसालाय निसिन्नो कोचि अन्धो विचक्खणो तेसं तिण्णं कुमारानं पदविञ्ञाससद्दं सुत्वा लक्खणानुसारेण उपपरिक्खित्वा "एते तयो'पि सीहळदीपे पठवीस्सरा भविस्सन्ती"

ति तत्थ निसिन्नानं व्याकासि। तं वचनं पच्छा गच्छन्तो गोठाभयो सुत्वा इतरेसं गच्छन्तानं अनिवेदयित्वा पच्चागम्म "कतमो चिरं रज्जं कारेस्सति, वंसट्ठितिं च करोति" ति पुच्छित्वा पच्छिमोति वुत्ते हट्ठपहट्ठो उदग्गुदग्गो सीघतरं आगम्म तेहि सद्धिं गच्छन्तो तिखिणमतिताय गम्भीरभावतो च कञ्चि अजानापेत्वा अन्तोपुरं पाविसि। ते तयो'पि पतिरूपे वासे वासं गण्हिसु।

4) अथ कनिट्ठो "एते द्वे पि अप्पायुकतत्ता रज्जे पतिट्ठिता पि न चिरं जीवन्ति किर, अहं येव तेसं रज्जं दापेस्सामी" ति तदनुरूपेन उपायेन पटिपज्जन्तो तेसं रज्जलाभाय उपायं दस्सेन्तो अभिण्हं मन्तेति। जेट्ठो पि तस्मिं अतिपियायमानो तेनोपदिट्ठमेव समाचरन्तो राजानं दिस्वा लद्धसम्मानो सब्बेसु राजकिच्चेसु पुब्बङ्गमो हुत्वा नचिरस्सेव राजवल्लभो अहोसि। तस्मिं काले रज्जं कारेन्तो विजयराजा नाम खत्तियो तस्मिं पसन्नो सब्बेसु राजकिच्चेसु तमेव पधानभूतं कत्वा सेनापतिं अकासि।

5) धम्मिको पन रज्जेन अनत्थिकताय रज्जलाभाय चित्तम्पि अनुप्पादेत्वा केवलं महाथेरस्स अनुसासनमत्तेनेव राजूपट्ठानवेलायं अनुचरणमत्तमाचरन्तो राजगेहं पविसित्वा ततो तेहि सद्धिं निक्खम्म सायं महाथेरस्स विहारे येव वसन्तो अत्तनो धम्मिकानुट्ठानं अहापेत्वा महाचेतियोपट्ठानगिलानुपट्ठा-नादिकं अनवज्जधम्ममाचरन्तो कालं वीतिनामेति। तदा सङ्घतिस्सो सकलरज्जञ्च पुरञ्च अत्तनो हत्थगतं कत्वा एकस्मिं दिने लद्धोकासो राजानं अन्तोभवने येव गोठाभयेन मारापेत्वा सयं रज्जे पतिट्ठहि।

इति अनुराधपुरप्पवेसपरिच्छेदो ततियो।

रज्जाभिसेको नाम चतुत्थो परिच्छेदो

1) अथ गोठाभयो धम्मिकं अनिच्छमानम्पि सेनापतिट्ठाने ठपेत्वा आयतिं अपेक्खमानो सयं भण्डागारिको अहोसि। अथ सङ्घतिस्सो राजा बहुं पुञ्ञं च अपुञ्ञं च पसवन्तो जम्बुफलपाककाले ससेनो सामच्चो सहोरोधो अभिण्हं पाचीनदेसं गन्त्वा जम्बूफलानि खादति। रञ्ञो येभुय्येन गमनागमनेन उपद्दुता

रट्ठवासिनो राजूपभोगारहेसु जम्बुफलेसु विसं योजेसुं। अथ सङ्घतिस्सो राजा तेन विसेन तत्थेव कालमकासि।

2) अथ गोठाभयो अन्धविचक्खणस्स बचनं अनुस्सरन्तो "अनुक्कमेन रज्जं दापेत्वा पच्छा अहं सुप्पतिट्ठितो भविस्सामी" ति मञ्ञमानो सामच्चो ससेनो सङ्घबोधिकुमारं रज्जेन निमन्तेसि। सो तेमियमहाबोधिसत्तेन दिट्ठादीनवत्ता रज्जसुखापरिच्चागानुभूतं महन्तं दुक्खजालं अनुस्सरित्वा पुनप्पुनं याचियमानोपि पटिक्खिपि येव। अभयो गामनिगमराजधानिसु सब्बेपि मनुस्से सन्निपातेत्वा तेहि सद्धिं नानप्पकारं याचमानो पि सम्पटिच्छापेतुं नासक्खि। अथ सब्बेपि रट्ठवासिनो सामच्चा महाविहारं गन्त्वा महासङ्घं सन्निपातेत्वा सङ्घमज्झे सङ्घबोधिकुमारं याचिंसु। अथ सो सङ्घबोधि-कुमारो महासङ्घं भूमिया निपज्ज नमस्सित्वा लद्धोकासो निसीदेत्वा एवं वत्तुमारभि।

3) अयं हि राजलक्खी नाम यथा यथा दीप्पते तथा तथा कप्पूरदीपसिखेव कज्जलं मलिनमेव कम्मजातं केवलमुब्बमति। तथा हि अयं संवद्धन-वारिधारा तण्हाविसवल्लीनं, नेसादमधुरगीतिका इन्द्रियमिगानं, परामास-धूमलेखा सच्चरितचित्तकम्मस्स, विब्भमसेय्या मोहनिद्दानं, तिमिरुग्गति पञ्ञादिट्ठीनं, पुरस्सरपताका अविनयमहासेनाय, उप्पत्तिनिन्नगा कोधावेग-कुम्भिलानं, आपानभूमि मिच्छादिट्ठिमधूनं, संगीतसाला इस्सरियविकार-नटकानं, आवासदरी दोसासिविसानं, उस्सारणवेत्तलता सप्पुरिसवोहारानं, अकालजलदागमो सुचरितहंसानं, पत्थावना कपटनाटकस्स, कदलिका कामकरिणो, वज्झसाला साधुभावस्स, राहुमुखं धम्मचन्दमण्डलस्स, न हि तं पस्सामि यो हि अपरिचिताय एताय निब्भरमुपगूळ्हो न विप्पलद्धो।

4) अपि च अभिसेकसमयेव रञ्ञानं मङ्गलकलसजलेहि विय विक्खालनमुपयाति दक्खिञ्ञं, अग्गिहुत्तधूमेनेव मलिनीभवति हदयं, पुरोहितकुसग्गसम्मज्जनेन विय अपनीयते तितिक्खा, उण्हीसपट्टबन्धनेन विय छारीयति जरागमदस्सनं, आतपत्तमण्डलेन विय तिरोकरीयति परलोकापेक्खनं, चामरपवनेन विय दूरमुद्धूयते सच्चवादिता, वेत्तप्पहारेन विय दूरमपयन्ति सग्गुणा।

5) एके रज्जसिरिमदिरामदमत्ता सकत्थनिप्फादनपरेहि घनपिसितघासगिज्झेहि सभानलिनी बकेहि जुतं विनोदो'ति, परदाराभिगमनं विदद्धता ति, मिगवं

परिस्समो'ति, पाणं विलासो'ति, निच्चप्पमत्तता सूरभावो'ति, सदारपरिच्चागो अब्यसनिते ति, गुरुवचनावधीरणं अपरप्पनेयत्तमिति, अजितभच्चता सुखोपसेवनीयत्तमिति, नच्चगीतवादितगणिकानुसत्ति रसिकते ति, परिभवसहभावो खमेति, सेरिभावो पण्डिच्चमिति, बन्दीजनवचनं यसोघोसोति, तरलता उस्साहोति, अविसेसञ्ञुता अपक्खपातित्तमिति, एवं दोसगणम्पि गुणपक्खे अज्झारोपयन्तेहि सयम्पि अन्तो हसन्तेहि पतारणकुसलेहि धुत्तेहि अमानुसलोकोचितेहि थोमनेहि पतारयमाना वित्तमदमत्तचित्ता निच्चेतनताय तथेति अत्तनि अज्झारोपितालिकाभिमाना मच्चधम्मा समानापि दिब्बंसावतिण्णमिव सदेवतमिव अतिमानुसमिव अत्तानं मञ्ञमाना आरद्धदिब्बोचितक्रियानुभावा सब्बजनोपहसनीयभावमुपयन्ति। अत्तविळम्बनञ्च अनुजीवीजनेन करीयमाणमभिनन्दनन्ति।

6) मनसा देवताज्झारोपनप्पतारणसम्भूतसम्भावनोपहता च अन्तो पविट्ठापरभुजयुगं अत्तभावं सम्भावयन्ति। तचन्तरितलोचनं सकललाटमासङ्कन्ति। अलिकसम्भावनाभिमानभरिता न नमस्सन्ति देवतायो, न पूजयन्ति समणब्राह्मणे, न मानयन्ति माननीये, न उपतिट्ठन्ति गुरुदस्सने'पि, अनत्थकायासान्तरितविसयोपभोगसुखा ति अपहसन्ति यतिनो, जराभिभूतपलपितमिति न सुणन्ति वद्धजनूपदेसं, अत्तपञ्ञापरिभवो ति उसूयन्ति सचिवोपदेसस्स, कुज्झन्ति एकन्तहितवादिनं, एवमादिना कारणेन बहुन्नं दोसानमाकरभूतं रज्जविभवं अहं न इच्छामी'ति अवोच।

7) अथ महाजनेन सादरमज्झेसितो महासत्तो कुमाराभिमुखो हुत्वा "महाभागधेय्य! थनचुचूके लग्गिता जलूका तिक्खडसनेन तत्थ वेदनमुप्पादयन्ती। लोहितमेव आकड्ढति। दारको पन कोमलेन मुखपुटेन मातुसुखसञ्ञं उप्पादयन्तो खीरमेव अह्वे ति। एवमेव रज्जविभवं पत्तो अधीरो बालो बहूं अपुञ्ञमेव संचिनोति। मेधावी धीरपुरिसो पन आयुसङ्खारस्स दुब्बलत्तञ्च धनसञ्चयस्स नस्सरत्तञ्च पञ्ञाय उपपरिक्खित्वा दसकुसलकम्मानि पूरेन्तो तादिसेन महता भोगक्खन्धेन महन्तं कुसलरासिं उपचिनोति। त्वमसि कताधिकारो महासत्तधुरन्धरो। एतादिसं पुञ्ञायतनट्ठानं लद्धा धम्मेन समेन लोकं परिपालेन्तो सुगतसासनं पग्गण्हन्तो दानपारमिं कोटिप्पत्तं कत्वा पच्छा अभिक्खमनञ्च करोन्तो बोधिपक्खियधम्मे परिपाचेही" ति अनुसासि।

8) अथ सो महज्झासयो पुरिसवरो महासङ्घस्स अनुसासनिं मद्दितुमसमत्थो अधिवासेसि। अनन्तरञ्च महाजनकायो सङ्घस्स अनुञ्ञाय सकलं सीहल-दीपं एकच्छत्तं कत्वा अभिसिञ्चिय धम्मिकसिरिसङ्घबोधि राजा ति वोहारं पट्ठपेसि। गोठाभयञ्च सेनापतिट्ठाने ठपेसि।

9) दानं अदा धारयि निच्चसीलं वही तितिक्खं भजि अप्पमादं।
पजाहितज्झासयसोम्मरूपो धम्मोव सो विग्गहवा विरोची ॥

10) विञ्ञाय लोकस्स हि सो सभावं पधानवत्तानुगतिप्पधानं।
निधातुकामो जनतासु धम्मं सयम्पि धम्माचरणम्हि सत्तो ॥

इति रज्जाभिसेकपरिच्छेदो चतुत्थो।

पारमितासिंसनो नाम पञ्चमो परिच्छेदो

1) सो राजा महाविहारे महग्घं विसालं सलाकग्गं कारापेत्वा अनेकसहस्सानं भिक्खूनं निच्चं सलाकभत्तं पट्ठपेसि। मातुलमहाथेरस्स च सकनाम-धेय्येन महन्तं परिवेणविहारं कारापेत्वा अनेकेहि कप्पियभण्डेहि सद्धिं सपरिवारकानि गामक्खेत्तानि सङ्घपरिभोगारहानि कत्वा दापेसि। सतत-मेव निसिथकाले रहोगतो महाबोधिसत्तस्स दुक्करचरितानि सल्लक्खेन्तो तादिसापदानं अत्तनि सम्पादेतुमासिंसि। तथा हि

2) देहीति वत्थुमसुकं गदितोत्थिकेहि नालंकथेतुमिह नत्थि न देमि चाति।
चित्ते महाकरुणया पहटावकासा दूरं जगाम विय तस्स हि वत्थुतण्हा ॥

एवमम्हाकं बोधिसत्तस्स विय बाहिरवत्थुपरिच्चागमहुस्सवो कदा नु मे भविस्सतीति च,

3) आनीयते निसितसत्थनिपातनेन निक्कड्ढते च मुहु दानभवाय रत्या।
एवं पुनप्पुनगतागतवेगखिन्नं दुक्खं न तस्स हदयं वत पोळयित्थ ॥

एवं किर महासत्तस्स मंसलोहितादि-अज्झत्तिकवत्थुदानसमये दुक्खवेदना मनं न सम्बाधेसि। ममापि ईदिसं अज्झत्तिकदानमंगलं कदा भविस्सती ति च,

4) सो सङ्खपालभुजगो विसवेगवा पि सीलस्स भेदनभयेन अकुप्पमानो।
इच्छं सदेहभरवाहिजने दयाय गन्तुं सयं अपदताय सुसोच नूनं ॥

एवं सीलरक्खणापदानसिरिं कदा विन्दामी ति च,

5) पिवेय्य थञ्ञं अमतं व बालो वुड्ढिंगतो सो व जिगुच्छते तं।
स जातु एवं अनुभूय रज्जं ञाणस्स पाके सततं जहाति॥
एवं मयापि अचिरस्सेव अवस्सं अभिनिक्खमणं कातब्बन्ति च,

6) सो सेनको द्विजपसिब्बकसायि सप्पं अञ्ञासि दोसकलुसाय धियाब्भुतं तं।
का वण्णनासि खलु दोसविनिग्गताय सब्बञ्ञुताय दस पारमिसाधिताय॥
एवंविधा कल्याणञाणसम्पत्ति कदा मे समिज्झिस्सती ति च,

7) वालेन सो किसकलन्दकजातियम्पि उस्सिञ्चितुं सलिलमुस्सहि सागरस्स।
तं मुद्धताय न भवे मतिया महत्या सम्पादनायभिमतस्स समत्थताय॥
एवंविधाय विरियपारमिया कदानु भाजनं भविस्सामी ति च,

8) कलाबुराजेन हि खन्तिवादी वधं विधायापि अतित्तकेन।
हते पदेनोरसि खन्तिसोधे सो कूटसन्धिग्गहणं बुबोध॥
एवंविधाय खन्तिपारमिया अत्तानं कदा अलङ्करिस्सामी ति च,

9) मिच्छाभियोगं न सहिंसु तस्स रामाभिधानस्सपि पादुकायो।
सच्चद्वया नाञ्ञमभासि धीरो सो सच्चसन्धो चतुसच्चवादी॥
अहम्पि ईदिसेन सच्चपारमिताबलेन सब्बलोकस्स चतुसच्चावबोधनसमत्थो कदा भविस्सामी ति च,

10) सो मूगपक्खविदितो सिरिभीरुताय मूगादिकं वतविधिं समधिट्ठहित्वा।
तं तादिसं अनुभवं असहम्पि दुक्खं या वाभिनिक्खममभेदि अधिट्ठितं नो॥
एवं ममापि अधिट्ठानपारमिताय पारिपूरिं कदा भविस्सती ति च,

11) मेत्तानुभावेन सलोमहंसो पेमानुबद्धेन सखीकरोन्तो।
सत्ते समत्ते पि च निच्चवेरी सद्दं विरुद्धत्थमकासि धीरो॥
अहम्पि एवंविधाय मेत्तापारमिताय कोटिप्पत्तो कदा भविस्सामी ति च,

12) सो एकराजविदितो समचित्तताय मानावमाननकरेसु तुलासरूपो।
तोसञ्च रोसमनुपेच्च भजी उपेक्खं सब्बत्थ वीतविकती हतचेतनो व॥
एवं अहम्पि उपेक्खापारमिताय कदा सब्बसाधारणो भविस्सामी ति च निच्चं चिन्तेसि,

इति पारमितासिंसनपरिच्छेदो पञ्चमो।

रक्खदमनो नाम छट्ठो परिच्छेदो

1) एवमनवज्जधम्मेन रज्जं कारेन्ते तस्मिं कदाचि केनचि पजानं अकुसल-विपाकेन—

जठरपिठरभारक्कन्तवङ्कोरुजानु,
सजलजलदकूटाकारघोरोरुकायो।
कुटिलकठिनदाठाकोटि सन्दट्ठगण्डो;
नवदिवसकरक्खो रक्खसो दीपमाप ॥

2) सो तेसु तेसु गामपरियन्तेसु निसीदति, ये ये मनुस्सा तमागम्म तं रत्तक्खमुदिक्खन्ति, तेसं अक्खीनि रत्तानि भवन्ति। तंखणे येव रत्तक्खमारको नाम जररोगो पातुभवित्वा मारेति। सो यक्खो मतमते निरासङ्को खादति। तं यक्खं अदिस्वापि ये ये नरा तेनातुरा ते ते पस्सन्ति, तेपि सो रोगो आविसति। एवं नचिरेनेव यक्खभयेन रोगेन च जनपदो विरलजनो जातो।

3) राजा तं पवत्तिं सुत्वा "मयि रज्जं कारेन्ते पजानं ईदिसस्स भयस्स उप्पज्जनं अननुच्छविक"न्ति मञ्ञमानो तदहेव अट्ठङ्गसीलं समादियित्वा अत्तना निच्चं करीयमानानि दसकुसलकम्मानि अनुस्सरित्वा "अहं धम्मविजयी भविस्सामि, तं रक्खसं अदिस्वा न उट्ठहिस्सामी" ति दळ्हतरं अधिट्ठाय वासगब्भे सयि। तस्स तेन आचारधम्मतेजेन राजानुभावेन च सो रक्खसो सन्तत्तो उत्तसित्वा खणम्पि ठातुं असहन्तो आकासेनागन्त्वा बलवपच्चूससमये अन्तोगब्भं पविसितुं असक्कोन्तो बाहिरे ठत्वा रञ्ञो अत्तानं दस्सेसि। रञ्ञा च "को सि त्व"न्ति पुट्ठो आह, "रत्तक्खो नामाहं रक्खसो; दूरजनपदे ठितो हं खणम्पि ठातुं असक्कोन्तो तवानुभावेन बद्धो विय हुत्वा इधानीतो; भयामि देव तव दस्सने"ति।

4) अथ राजा सयनतो उट्ठहित्वा सीहपञ्जरं विवरित्वा ओलोकेत्वा "अरे जम्म, मम विसयगते मनुस्से कस्मा खादसी"ति। महाराज ! तव विसये मया मारेत्वा एकोपि खादितो नत्थि; अपितु मतकलेबरं सोणसिगालादीनं साधारणभक्खभूतं खादामि; न मे कोचि अपराधो अत्थि; अत्थि चे राजदण्डो मयि विधीयतू ति वत्वा पवेधमानो निच्चलभावेन ठातुं असक्कोन्तो भयवेगेन जातलोमहंसो सानुनयमेवमाह। देवस्स रट्ठं फीतधनधञ्ञं,

समिद्धसम्पन्नं, देवस्स धनवस्सेन सम्पुण्णमनोरथा मनुस्सा; इदानि याचकापि बहुतरा न होन्ति। अहं ईदिसं रट्ठं पत्वा पि अलद्धगोचरो अपरिपुण्णमनोरथो छातो पिपासितो च हुत्वा दीनभावेन जीविकं कप्पेमि। तथापि ईदिसं भयं पत्तोम्हि; अभयं मे देहि महाराजा ति।

5) अथ राजा तस्स दीनवचनं सुत्वा करुणाय कम्पितहदयो "मा भायि त्वं रक्खस, अभयं ते दम्मि; इच्छितं ते वदा" ति आह। एवं रञ्ञो च रक्खसस्स च अञ्ञमञ्ञेहि सद्धिं सल्लपन्तानं सद्दं सुत्वा अन्तोगता अनुचरा राजानं परिवारेसुं। अथ कथानुकथाय "रक्खसो आगतो, रञ्ञा सद्धिं सल्लपती"ति सुत्वा सब्बे अमच्चा च नागरा च सेना च सन्निपतित्वा राजङ्गणञ्च राजभवनञ्च पूरेत्वा अरुणे उग्गच्छन्ते महन्तं कोलाहलमकंसु।

6) अथ सो रक्खसो सन्निपतितं चतुरङ्गबलञ्च आयुधहत्थं अनेकसहस्सं योधबलञ्च दिस्वा अतिविय भीतो ठातुं च रञ्ञो आणत्तिबलेन गन्तुं च किमपि भणितुं च न सक्कोति। राजा तदवत्थं तं दिस्वा "लद्धाभयोसि इच्छितं ते कथेही" ति आह। धम्मिको राजा न मे किञ्चि भयं उप्पादेस्सती ति ञत्वा राजानमेवमाह। देवो जानाति येव सब्बेसं सत्तानं आहारट्ठितिकतं। तथाहि उद्धलोकवासिनो देवा सुधाभोजनपीनिता जीवन्ति। अधोलोकवासिनो नागा भेकभोजनेन सुहिता वसन्ति, मनुस्सा खज्जकादिनानाविधेन आहारजातेन पीनिता जीवन्ति, अम्हादिसा यक्खरक्खसादयो पन मंसलोहितस्सादतो तुस्सन्ति। तेस्वहमञ्ञतरो, छातो च पिपासितो च तुम्हादिसं करुणापरायनं महापुरिसं दिस्वा पि अपरिपुण्णमनोरथो मन्दभागधेय्यो सोचामी ति आह।

7) ननु त्वमवोच मतकलेबरानि खादित्वा वसामीति? सच्चं, महाराज! मतसरीरं सुक्खपण्णं विय नीरसं, किमेताय दुज्जीविकाय? पसीद देव, वरं मे देहि। तव विसये फीतमनुस्सो एको जनपदो गोचरत्थाय मे दीयतु। तत्थ मनुस्सानं अनपगतुण्हवेगं जीवरुधिरञ्च जीवमंसञ्च खादित्वा चिरं सुखेन जीवितुं सक्काति आह। अथ राजा अरे पापिम, रक्खस! नाहं पाणवधं अनुजानिस्सामि; चजेतं गाहविकारन्ति। तेन हि दिने दिने एकं मनुस्सबलिं देही ति। जीवबलिमेकम्पि न देमीति वुत्ते सच्चमेतं, मादिसानं कप्परुक्खा पि अवकेसिनो जायन्ति। हा हतो'स्मि, किमहं करोमी ति विसाददीन-

नयनो दुम्मुखो दोमनस्सप्पत्तो अप्पटिभानो अट्ठासि। अथ तस्स नरिन्दस्स करुणा भूयसि तहिं जायमाना मनो तस्स विचारव्याकुलं अकासि। अथ राजा एवं परिवितक्केसि,

8) नानुस्सरामि वत याचितुमागतानमिच्छाविघातपरितापहतज्जुतीनि।
हेमन्ततिब्बहिममारुतनिस्सिरीकपङ्केरुहेहि सदिसानि मुखानि जातु॥

एतस्स रक्खसस्स कारणा परेसं दुक्खमापादयितुं न कदाचि सक्का। अहञ्च अज्झत्तिकदानं कदा दस्सामीति पत्थेमि। तदिदं पत्तकालं जातं, सकसरीरस्स अहमेव इस्सरो; मम मंसलोहितेन एतं सन्तप्पयामी ति कतनिच्छयो अमच्चे आमन्तेत्वा एवमाह,

9) इमं सरत्तप्पिसितं सरीरं, धारेमि लोकस्स हितत्थमेव।
अज्जातिथेय्यत्तमुपेति तञ्चे अतो परं किं पियमत्थि मह्यं॥

अमच्चा एवमाहंसु—एकस्स रक्खसस्स अत्थाय सकललोकं अनाथीकत्तुमिच्छतो कोयं धम्ममग्गो देवस्स ? अथ राजा एवमाह,

10) निच्चोपभोगस्स धनस्स चापि न याचके दट्ठुमहं लभामि।
एवंविधं अत्थिजनन्तु लद्धुं न देवताराधनया पि सक्का॥

11) अपेथ तुम्हे न मे दानन्तरायं करोथा ति आह। अथ अमच्चा "यदि चायं निच्छयो अपरिच्चजनीयो अम्हेसु एकेको पतिदिनं यक्खस्स बलिकम्माय होतू" ति आहंसु। अथ राजा "नाहं जीवमानो एवमनुजानामी" ति वत्वा सल्लकत्तं सीघमेत्थ आनेथा ति नियोजेसि। ततो सन्निपतिता सब्बे तमत्थं सुत्वा रञ्ञो गुणेस्वनुरत्ता सोकसन्तत्ता रक्खसं पति सङ्कतेन पटिघेन अतिकुद्धा विसुं विसुं एवमाहंसु। एस रक्खसो सीसच्छेदमरहती ति केचि, कालमेघसदिसमेतस्स महासरीरं अनेकसतानं सरानं तूणीरभावं नेतुमरहतीति केचि; अनेकेसं खेपसत्थानं लक्खभावमुपनेतुं युत्तमिति च अपरे; असिकदलिकीळाय वज्झोयमिति अञ्ञे; तेलचेलेन वेठेत्वा महता पावकेन उज्जालेत्वा दहितब्बोयमिति अपरे; इदं सब्बं राजा नानुजानाति; इमं असप्पुरिसं जीवगाहं गहेत्वा रज्जूहि गुळपिण्डवेठनं वेठेत्वा बन्धनागारे पक्खिपितब्बो ति अञ्ञे। एवमेवं तत्थ बहुधा कथेन्तानं कटुकतरं वधविधानं यक्खो सुत्वा तसितो खिलितक्खमतदेहो विय निच्चलो व ठितो।

12) अथ सो राजा एहि सखे, रक्खस, महोपकारकरणभूत !
देय्यञ्च दानप्पवनञ्च चित्तं अत्थी तुवं लोहितमंसकामी ।
समेतमेतं हि तयं दुरापं मनोरथो सिज्झतु नो उभिन्नं ॥

13) वत्वा मम सरीरतो दीयमानं जीवमंसं, जीवरुधिरञ्च मयि अनुग्गहेन सम्पटिच्छा ति रक्खसस्स वत्वा सल्लकत्ताभिमुखं दक्खिणबाहुं पसारेसि मंसकत्तनाय । अथ सो यक्खो उभो कण्णे पिधाय सन्तं पापं, पटिहतमङ्गलं, रञ्ञो सोत्थि भवतु; किमिदमापातितं महता मे पापविपाकेन जीवितुमिच्छतो विसभोजनमिव आतपकिलन्तस्स दावपावकपरिक्खेपो विय च, यदि ईदिसो मे सङ्कप्पो महाराजे समुपजायेय्य । देवदण्डो मे सिरसि अद्धा पतति, लोकपालापि मे सीसं छिन्दन्ति, नाहमेवंविधमपराधं करिस्सामी ति न सम्पटिच्छि ।

14) अथ राजा तेन हि यक्ख, किन्ते मया कातब्बं ति आह । अथ सो रक्खसो महाजनानं वधविधानेन रञ्ञो आणाय च भीतो सन्तत्तो "देव ! नाहं अञ्ञं पत्थयामि । किन्तु इतोप्पभुति राजारहेन भोजनेन गामे गामे उपहारबलिं लद्धुकामोम्ही" ति आह । अथ राजा एवं करोन्तु रट्ठवासिनो ति नगरे च सकलरट्ठे च भेरिं चरापेत्वा पाणातिपातविरमणाय ओवदित्वा तं यक्खं उय्योजेसि ।

इति रत्तक्खदमनपरिच्छेदो छट्ठो ।

अभिनिक्खमनं नाम सत्तमो परिच्छेदो

1) अथ कदाचि वस्साधिकतानं देवतानं पमादेन अवग्गहो पातुरहोसि ;
निदाघवेगेन रवी पतापी, उण्हाभितत्तो पवनो खरो च ।
जरातुरेवासिसिरा धरा च, पिविंसु ते सब्बधि सब्बमम्बुं ॥

2) अन्तो भुसुण्हेन विपच्चमान-सनिस्सनम्भोभरितेव चाटी ।
तिब्बातपक्कन्तवनन्तराजि-रुताकुला खायति चीरिकानं ॥

3) वस्सानकालेपि पभाकरस्स पतापसन्तापितमन्तलिक्खं ।
समाचितं पण्डरवारिदेही स चन्दनालेपमिवातिरोची ॥

4) एवं महता गिम्हविप्फुरणेन नदीतळाकसोब्भादिसु सिकताकद्दमावसेसं सोसितेसु केदारेसु मतेसु सस्सेसु बहुधा फलितेसु भूमिभागेसु सलिलाभावेन किलन्तेसु मिगपक्खिसु तं पवत्तिं सुत्वा राजा करुणाय कम्पितहदयो अट्ठङ्गसीलं समादियित्वा महाचेतियङ्गणमागम्म याव देवो सब्बत्थवित्थताहि सलिलधाराहि सकललङ्कादीपं पीणेन्तो वस्सं वस्सित्वा महता उदकप्पवाहेन मं न प्लवयिस्सति, मरमानो पि ताव न उट्ठहिस्सामीति दळ्हतरं अधिट्ठाय तत्थ सिलापत्थरे सयि। तंखणे तस्स रञ्ञो धम्मतेजेन चकितानं गुणप्पबन्धेन च पसन्नानं देवनागयक्खानं आनुभावेन समन्ततो वस्सबलाहका उट्ठहिंसु। तथा हि,

5) दीघामिनन्ता व दिसापयामं, वित्थारयन्ता व तमं सिखाहि।
छाया गिरीनं विय कालमेघा नभत्थलादासगता लसिंसु॥

6) गम्भीरधीरत्थनिता पयोदा, तहिं तहिं वस्सितुमारभिंसु।
समुन्नदन्तो सिखिनो कलापं सन्धारयुं छत्तमिवुत्तमङ्गे॥

7) मुत्ताकलापा विय तेहि मुत्ता लम्बिंसु धारा पसमिंसु रेणू।
गन्धो सुभो मेदिनिया चचार वितञ्ञमानो जलदानिलेन॥

8) जुतीहि जम्बूनदपिञ्जराहि मुहुं दिसन्ते अनुरञ्जयन्ति।
मेघस्स नाली तुरियानुयाता विज्जुल्लता नच्चमिवाचरिंसु॥

9) कोधेन रत्ता विय तम्बवण्णा निनादवन्तो जयपीतिया च।
गवेसमाना विय गिम्हवेरिं व्यापिंसु सब्बत्थ तदा महोघा॥

10) एवंविधे वस्से पवत्ते पि राजा "न मं महोघो उप्पिलापयी" ति न उट्ठासि येव। अथ अमच्चा चेतियङ्गणे जलनिग्गमनपणालियो थकेसुं। अन्तो सम्पुण्णवारिपूरो राजानं उप्पिलापेसि। अथ सो उट्ठाय चेतियस्स महुस्सवं विधाय राजभवनमेव गतो।

11) ततो अदण्डेन असत्थेन रज्जमनुसासतो रञ्ञो अच्चन्तमुदुमानसत्तं विदित्वा उन्नला केचि मनुस्सा गामविलोपादिकं आचरन्ता चोरा अहेसुं। तं सुत्वा राजा ते चोरे जीवगाहं गाहापेत्वा बन्धनागारे खिपित्वा रहसि तेसं रतनहिरञ्ञादिकं दत्वा "मा एवं करोथ" ति ओवदित्वा पलापेत्वा रत्तियं

आमकसुसानतो छवरूपे आनेत्वा चोरहिंसं करोन्तो विय अग्गिना उत्तापेत्वा नगरतो बहि खिपापेसि। एवं चोरभयञ्च अपनेत्वा एकदा एवं चिन्तेसि। किमनेन रज्जविभवेन? इदं परिपुण्णकोसं सपरिजनं सहोरोधं सामच्चं सबलवाहनं रज्जं कस्सचि दानरूपेन दत्वा वनं पविसित्वा सीलं समादाय कायविवेकञ्च चित्तविवेकञ्च सम्पादेतुं वट्टती ति अभिनिक्खमणे रतिं जनेसि।

12) तदा गोठाभयोपि एवरूपं पापवितक्कं उप्पादेसि। एस राजा धम्मिको, सदाचारकुसलो; पतिदिवसं विधीयमानेहि दसकुसलकम्मेहि आयुसङ्खारोपिस्स वड्ढति; उपपीळककम्मानि च दूरमपयन्ति; ततो येव चिरतरं जीविस्सति। एतस्स अच्चयेन कदाहं रज्जं लभिस्सामि। रज्जं पत्वा पि वद्धतरोहं तरुणजनसेवनीयं विसयसुखं कथमनुभविस्सामि। सीघमिमं इतो पलापेत्वा रज्जे पतिट्ठहिस्सामी ति चिन्तेत्वा बहुं सारधनमादाय उत्तरद्वारतो निक्खमित्वा पुब्बचोरे सन्निपातेत्वा बलकायं गहेत्वा आगम्म नगरद्वारं गण्हि। तं पवत्तिं सुत्वा राजा "रज्जं कस्सचि दत्वा अभिनिक्खमणं करिस्सामी ति कतसन्निट्ठानस्स मम अयं केनचि देवानुभावेन सन्निधापितो मञ्ञे"। अमच्चा मया अननुमता पि पुरा युज्झितुमारभन्ति। एवं सति मं निस्साय उभयपक्खगतस्स महाजनस्स विपुलं दुक्खं भविस्सति। किमनेन रज्जेन फलं? रज्जं तस्सेव दिन्नं होतू "ति मन्त्वा कञ्चि अजानापेत्वा परिस्सावनमत्तं गहेत्वा दुल्लक्खियमानवेसो दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा मलयदेसं गच्छन्तो

13) सदा सन्तुट्ठचित्तानं सक्का सब्बत्थ जीवितुं।
कुत्र नाम न विज्जन्ति फलमूलजलालया॥

14) इति चिन्तयन्तो कमेन गन्त्वा हत्थवनगल्लनाम महन्तं अरञ्ञायतनं पाविसि। अविरलपवालकुसुमफलसंछन्नविसालसाखामण्डलेहि उच्चावचेहि पनससहकारकपित्थतिम्बरुजम्बीरजम्बुविभीतकामलकहरीतकतिरीटकसालसरलबकुलपुन्नागनागकदम्बकासोकनीपचम्पकहिंतालतालप्पभूतीहि विविधतरुगणेहि समाकिण्णं विपुलविमलसिलुच्चयपरियन्तसङ्गतनदीसम्भेदतित्थोपसङ्कन्तविविधमिगयूथविहगवग्गनिसेवितं महेसक्खदेवताधिग्गहितं

नन्दनवनकमनीयं सुलभमूलफलसलिलसुखोपभोगरमणीयं तं महाकानन-मोलोकेत्वा इदं मे तपोवनं भवितुमरहती ति कतालयो कायविवेक-चित्तविवेकानं लाभेन एकग्गमानसो मेत्ताविहारमनुयुञ्जन्तो वञ्ञजीविकाय संजनितसन्तोसविप्फरणपीनितकायो वासं कप्पेति ।

इति अभिनिक्खमनपरिच्छेदो सत्तमो ।

अज्झत्तिकदानं नाम अट्ठमो परिच्छेदो

1) गोठाभयोपि रज्जं पत्वा कतिपाहच्चयेन "मम चण्डताय विरत्तो पजावग्गो वनं पविट्ठं सङ्घबोधिं आनेत्वा रज्जं कारेन्तुं कदाचि उस्सहती" ति संजातपरिसङ्को तं मारेतुं वट्टतीति अभिसन्धाय "सङ्घबोधिरञ्ञो यो सीसं आनेस्सति, तस्स सहस्सं पारितोसिकधनं" ति नगरे भेरिं चरापेसि । ततो मलयदेसवासिको कोचि दुग्गतपुरिसो अत्तनो किच्चेन पुटभत्तमादाय वनमग्गेन गच्छन्तो भोजनवेलाय सोण्डसमीपे निसिन्नं सङ्घबोधिराजानं दिस्वा तस्स आकप्पेन पसन्नहदयो भत्तेन तं निमन्तेसि । राजा तं न सम्पटिच्छि । सो पुरिसो "नाहं निहीनजातियं जातो, न पाणवधजीविकाय जीवन्तो केवट्टको वा लुद्दको वा भवामि । अथ खो उत्तमवण्णे हि परिभोगा-रहे वंसे सञ्जातोम्हि, मम सन्तकमिदं भत्तं भोत्तुमरहति कल्याण-धम्मिका" ति तं पुनप्पुनं याचि । अथ राजा

2) छायाय गेहं साखाय सेय्यं वत्थं तचेन च ।
असनं फलपत्तेहि साधेन्ति तरवो मम ॥

3) एवंसम्पन्नभोगस्स न तण्हा परसन्तके ।
तव जच्चादिमुद्दिस्स, गरहा मे न विज्जति ॥
वत्वा न इच्छि एव ।

4) अथ सो पुरिसो भूमियं निपज्ज नमस्समानो निबन्धित्वा याचि । ततो तस्स नीबन्धं निवारेतुमसक्कोन्तो सगारवं सोपचारं दीयमानं भत्तं च सकपरि-स्सावनपरिपूतपानीयं च परिभुञ्जित्वा हत्थमुखधोवनेन परिसमत्तभत्त-किच्चो "अनेनाहं कतूपकारो, कीदिसमस्स पच्चूपकारं करिस्सामी" ति

चिन्तयन्तो व तं अभिमुखीकरीय "अनुराधपुरे का पवत्ती" ति पुच्छि। अथ सो पुरिसो "पुब्बराजानं पलापेत्वा गोठाभयो नाम राजा रज्जे पतिट्ठहित्वा सिरिसङ्घबोधिरञ्ञो यो सीसमादाय दस्सेति तस्स सहस्सं पारितोसिकधन'न्ति नगरे भेरिं चरापेसि किरातिसूयती" ति तस्स वचनसमनन्तरमेव तुट्ठपहट्ठहदयो "मम सहस्सारहसीसदानेन इदानि एतस्स पच्चुपकारो कतो भविस्सति, अज्झत्तिकदानत्ता दानपारमिता च कोटिप्पत्ता भविस्सति"। इदञ्च वत ! रे

5) न पूतिपूगीफलमत्तकम्पि अग्घन्ति सीसानि विजीवितानं।
सीसन्तु मे वत्तति बोधिया च धनस्स लाभाय च अद्धिकस्स॥

6) नालीवनस्सेव रुजाकरस्स पूतिप्पधानस्स कलेबरस्स।
दुक्खन्नुभूतं पटिजग्गनेन सदत्थयोगा सफलं करोमि॥

7) चिन्तेत्वा कतनिच्छयो "भो पुरिस, सोहं सिरिसङ्घबोधि राजा नाम, मम सीसं गहेत्वा गन्त्वा रञ्ञो दस्सेही" ति आह। तं सुत्वा "देव, नाहमेवंविधं महापापकम्मं आचरिस्सामि, भयामी" ति आह। अथ राजा "मा भायि, कहापणसहस्सलाभाय अहमेव ते उपायं करिस्सामि, केवलं त्वं मया वुत्तनियामेन पटिपज्जा" ति वत्वा सहस्सलाभगिद्धेन तेन पथिकपुरिसेन अधिवासिते सीसच्छेदाय सत्थं अलभमानो धम्माधिट्ठानतेजसा सीसं सन्धितो विसुं करित्वा दस्सामी ति चिन्तेत्वा पल्लङ्कं सुत्थिरं बन्धित्वा "ममेदं सीसदानं सब्बञ्जुतञाणपटिलाभाय पच्चयो भवतू" ति सोमनस्सपुब्बकं पत्थनं कत्वा तं पुरिसं अत्तनो समीपं आमन्तेसि।

8) सो अद्धिकपुरिसो "पुब्बे अदिट्ठासुतपुब्बदुक्करकम्मदिन्नं सीसं गहेत्वा अनुराधपुरं गन्त्वा दस्सेमि, को तं सञ्जानाति, को तं सद्दहिस्सती" ति ? अथ सो "गोठाभयो सचे न सद्दहिस्सति, अहमेत्थ सक्खी हुत्वा सहस्सं दापेस्सामि, तया तु तत्थ एवं कत्तब्ब'न्ति पटिपज्जितब्बाकारं उपदिसित्वा "एहि सप्पुरिस ! मम सन्तिके ओनतो हुत्वा उभयहत्थतलानं एकीकरणवसेन अञ्जलिं कत्वा बाहुं पसारेही" ति वत्वा उभोसु पस्सेसु नीलमञ्ञासमञ्ञानं नालीनं उजुभावापादनेन कण्ठनाळं सम्मा ठपेत्वा सलिलपरिस्सावनेन सीससन्धिं जललेखाय परिच्छिन्दित्वा सकियेन दक्खिणहत्थमुट्ठिना चूळाबन्धनं दळ्हं गण्हित्वा "याव मम सिरं आदाय अद्धिकपुरिसस्स हत्थे

समप्पेमि, ताव मम चित्तकिरियवायोधातुवेगो अविच्छिन्नो पवत्ततू" इति अधिट्ठाय चूळाबन्धं उद्धाभिमुखं उक्खिपि। तावदेव सीसबन्धो पुथुभूतो हुत्वा तेन मुट्ठिना गहितो येव पग्घरन्तिया लोहितधाराय सद्धिं अद्धिकस्स हत्थतले पतिट्ठासि। तस्मिं येव खणे वनाधिवुत्था देवता साधुवादमुखरा पुप्फवस्सं वस्सापेत्वा सीसस्स आरक्खं गण्हिंसु।

9) संसत्तरत्तकलले'धिकपाणिखेत्ते निक्खित्तसीसवरबीजसमुब्भवाय।
एतस्स दानमयपारमितालताय सब्बञ्ञुताफलरसो जनतं धिनोतु॥

10) अथ सो अद्धिकपुरिसो सुगन्धवनकुसुममालाहि तं सीसं अलङ्करित्वा पूगपुळिकापुटे पक्खिपित्वा सीघगतिवेगेन अनुराधपुरं गन्त्वा गोठाभयस्स दस्सेसि। सो तं दिस्वा सञ्जानितुमसक्कोन्तो संसयप्पत्तो अट्ठासि। अथ अद्धिकपुरिसो रञ्ञा वुत्तविधिमनुस्सरन्तो तं सीसं गहेत्वा आकासे खिपित्वा "सामि! सिरिसङ्घबोधिमहाराज! त्वमेत्थ मे सक्खी भवा" ति अञ्जलिं पग्गहेत्वा आकासमुदिक्खमानो याचि। अथ तं देवताधिग्गहितं सीसं निरालम्बे अम्बरे लद्धपतिट्ठं गोठाभयस्स अभिमुखं हुत्वा

11) राजाहमेव सुहदो सिरिसङ्घबोधि सीसप्पदानविधिनास्मि समिद्धचित्तो।
त्वञ्चासि रज्जसिरिलाभसुखेन देव एसो च होतु पटिपन्नसहस्सलाभा॥ ति आह।

12) तं सुत्वा गोठाभयो सामच्चो विम्हितहदयो सीहासनं सज्जेत्वा उपरि सेसच्छत्तं कारेत्वा "इध देव ओतरा" ति याचित्वा तत्थ ओतिण्णं तं सीसं नानाविधाहि पूजाहि आराधेत्वा नमस्समानो खमापेत्वा महता महेन आळाहनकिच्चं कारेत्वा अद्धिकं कहापणसहस्सेन तोसेत्वा उय्योजेसि।

इति अज्झत्तिकदानपरिच्छेदो अट्ठमो।

वट्टुलविमानुप्पत्ति नाम नवमो परिच्छेदो

1) सिरिसंघबोधिरञ्ञो महेसि पन रञ्ञो पलातभावं ञत्वा अहञ्च तं अनुब्बजामी ति अञ्ञतरवेसेन दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा मग्गं अजानन्ती उजुकं मग्गं पहाय तं तं गामं पविसित्वा सामिकं अपस्सन्ती भयेन सालीनताय च पुच्छितुम्पि असहमाना मलयदेसं गतो ति चिन्तेत्वा वङ्कमग्गेन

गच्छन्ती कोमलताय सीघं गन्तुमसक्कोन्ती कालं यापेत्वा तस्स अरञ्ञायतनस्स समीपगामस्मिं रञ्ञो सीसदानप्पवत्तिं सुत्वा "साहं वराकी दस्सनमत्तम्पि नालत्थ"न्ति सोकपरिपुण्णहदया तमेव वनसण्डं अधिरुह्य भत्तुकलेबरं विचिनन्ती समीपगामेसु महाजनं पुच्छन्ती अविदितसंकेतत्ता तत्थ तत्थ विचरति। समीपगामवासिनो बालका गोपालका कट्ठहारिका इत्थियो च एतिस्सा विलापं सुत्वा कम्पितहदया ताय सद्धिं विचरन्ति। सा एवं विलपमाना सुपुप्फितं विमलवालुकं वनगुम्बं दिस्वा तत्थ निपतित्वा भूमियं परिवत्तमाना अतिकरुणं विलापमकासि। सो पदेसो अज्जापि **विधवावनन्ति** वोहरीयति।

2) सा महता रोदनेन तं रत्तिं तत्थेव खेपेत्वा पुनदिवसे इतो ततो च विचरन्ती महता सोकग्गिना डय्हमाना सन्तापं अधिवासेतुं असक्कोन्ती एकस्मिं खुद्दकजलासये निपतित्वा निमुग्गा येव मुच्छावेगेन द्वे तयो मुहुत्ते अतिवाहेत्वा उपलद्धपटिबोधा परिळाहं निब्बापेसि। तं ठानमेतरहि च **निब्बाणपोक्खरणीति** समञ्ञं लभति।

3) ततो उट्ठहित्वा अनुगुम्बं अनुरुक्खं अनुसिलातलं गवेसमाना सोण्डिसमीपे सयमानं देवताधिग्गहेन सिंगालादीहि अनुपहतं सुक्खसरीरं कवन्धरूपं दिस्वा सोकवेगफलितेनेव हदयेन दळ्हतरं तं आलिङ्गित्वा सयिताव भोजनवेकल्लेन दुरागमनेन तत्थ तत्थ निपतितसरीरघातेन च किलन्तरूपा मुच्छासमकालमेव कालमकासि। समीपगामवासिनो सन्निपतित्वा "मुद्धाभिसित्तस्स रञ्ञो च महेसिया च सरीरं अम्हादिसेहि फुसितुं च न योग्गं, वत्तमानस्स रञ्ञो अनिवेदयित्वा आळाहनकिच्चं कातुम्पि न युत्त"न्ति सम्मन्तित्वा वस्सातपनिवारणाय कुटिं कत्वा तिरच्छानप्पवेसनिसेधाय वतीञ्च कत्वा अपक्कमिंसु।

4) गोठाभयो सिरिसङ्घबोधिराजस्स अनञ्ञसाधारणगुणप्पबन्धं अनुस्सरन्तो "दहरकालतो पट्ठाय वत्थुत्तयसरणपरायणत्तं निच्चसीलरक्खणं सुगतागमविचक्खणत्तं सकलकलाकोसल्लं रज्जे अनत्थिकतं दानसोण्डतं खखसदमनादिकं दुक्करचरितञ्च कस्स नाम सचेतनस्स न पीतिमावहति। विसेसतो अद्धिकदुग्गतस्स सहस्सलाभाय सहत्थेन सीसं कण्ठनाळतो उद्धरित्वा दानं, सीसं निरालम्बे आकासे अवट्ठानं व्यत्ततराय गिराय साधिप्पायनिवे-

दनञ्चेति एतं अच्छरियं अब्भुतं अदिट्ठपुब्बं अस्सुतपुब्बञ्च निम्मलचरितं मम महापराधकलङ्केन एव चिरकालं पवत्तिस्सति। अहो! अहं सुचिरट्ठायिना ईदिसेन अकीत्तिसद्देन साधूहि निन्दनीयो भविस्सामि। विसेसतो निच्च-कल्याणमित्तभूतस्स ईदिसस्स महानुभावस्स अनपराधस्स महापुरिसस्स रज्जं अच्छिन्दित्वा वधं कारेसि। अञ्ञदत्थु मित्तदुभिकम्मेन अहं पलि-वेठितो भविस्सामी"ति चिन्तेन्तो येव भयसन्तापेहि निक्खन्तसेदो पवेधमानो "कथमीदिसा महापापा मोचेस्सामी"ति उपपरिक्खि।

5) अथ तस्स दण्डकम्मस्स करणवसेन उळारतरं कुसलकम्मं कातब्बन्ति पटि-भासि। अथ सो अमच्चे सन्निपातेत्वा तेहि सद्धिं सम्मन्तेत्वा कतनिच्छयो महासङ्घेन च तथेव अनुसिट्ठो महता बलकायेन सद्धिं गन्त्वा तस्स अरञ्ञायतनस्स अविदूरे सेनासन्निवेसं कारेत्वा तस्स महापुरिसस्स दुक्करा-पादानसक्खिभूतं पुञ्ञट्ठानं सयमेव गत्वा सोण्डिकासमीपे अनुरूपट्ठानं सल्लक्खेत्वा अत्तनो राजानुभावं दस्सेन्तो आळाहनट्ठानं देवनगरमिव अलङ्करित्वा केवलेहि महन्तेहि चन्दनदारूहि उच्चतरं चितकं कारेत्वा भारेन पमाणेन च रञ्ञो सीससदिसं जम्बोनदकनकेहि सकण्ठनालं सीसा-कारं सिप्पीहि कारेत्वा कवन्धरूपे सङ्घटित्वा विविधरतनसमुज्जलं सुवण्णकिरीटं पिलन्धापेत्वा महेसिञ्च तथेव अलङ्करित्वा ते उभोपि कासिक-वत्थसदिसेहि महग्घदुकूलेहि अच्छादेत्वा अनेकरतनखचितं सुवण्णसयनं आरोपेत्वा चन्दनचितकमत्थके ठपेत्वा परिसुद्धजोतिपावकं जालेत्वा अनेक-खत्तियकुमारपरिवारितो सयमेव तत्थ ठत्वा अनेकसप्पिघटसतेहि सिंचित्वा आळाहनमहुस्सवं कारेसि।

6) तथेव ततियदिवसेपि महता जनेन आळाहनं निब्बापेत्वा तस्मिं ठाने चेतिय-भवनं वट्टुलं कारेतुं वट्टतीति चिन्तेत्वा अमच्चे आमन्तेत्वा एतरहि अनेकभूमकं अतिविसालं कनकमयवट्टुलघरं कारेतुं सक्का। तथापि आयति परिहारकानं अभावेन नप्पवत्तति, रट्ठविलोपका पि सुवण्णलोभेन नासेन्ति। तस्मा अलोभनीयं सुखपरिहारारहं पमाणयुत्तं वट्टुलघरं च चेति-यञ्च नचिरस्सेव कातुं युत्तं ति मन्तेत्वा महाबलकायं नियोजेत्वा वुत्तनि-यामेनेव द्विभूमकं वट्टुलभवनं निम्मापेत्वा तस्स अब्भन्तरे सुगतधातुनि-धानं पूजनीयं चेतियञ्च कारापेत्वा महुस्सवदिवसे महासङ्घस्स तं दस्सेत्वा "एसो भन्ते, सिरिसङ्घबोधिमहाराजा पुब्बे एकच्छत्तेन लङ्कातले रज्जं

कारेसि। इदानि मया तस्स रञ्ञो चेतियरूपस्स कित्तिमयसरीरस्स छत्ताधि-**छत्तं विय द्विभूमकं** वट्टुलविमानं कारेत्वा चेतियसीसे किरीटं विय कनक-**मयं थूपिकं च योजेत्वा सब्बेहि देवमनुस्सेहि माननीयतं वन्दनीयतञ्च पापितो" ति वत्वा चेतियघरस्स अनेकानि गामक्खेत्तानि परोसहस्सं परिवारजनञ्च** निय्यातेत्वा पब्बतपादे अनेकसतपासादपरिवेणचङ्कमनरत्तिट्ठान-दिवाट्ठानधम्मसालागोपुरपाकारादिअवयवसहिते विविधे सङ्घारामे कारेत्वा तत्थ वसन्तस्स अनेकसहस्सस्स भिक्खुसङ्घस्स निच्चं पच्चयला-भाय अनेकानि सपरिजनानि गामक्खेत्तानि दत्वा "महालेखरट्ठस्स समुस्सितधजायमानो अयं महाविहारो लङ्काभूमिसामिकानं खत्तियजनानं कुलधनभूतो सब्बेहि खत्तियेहि अपरिहापनीयविभवो निच्चं पालनीयो"ति महाजनकायस्स मज्झे खत्तियकुमारानं आदिसित्वा अनुराधपुरं गतो पि तस्सेव पापकम्मस्स निराकरणाय तेसु तेसु विहारेसु महन्तानि पुञ्ञ-कम्मानि कारापेसि। ततोप्पभुति लङ्काधिपच्चमुपगतेहि खत्तियेहि महा-मच्चादीहि सो **हत्थवनगल्लविहारो** अन्तरन्तरा पटिसङ्खरियमाणो अपरि-हीनपरिहारो पवत्तति।

इति वट्टुलविमानुप्पत्तिपरिच्छेदो नवमो।

पासादुप्पत्ति नाम दसमो परिच्छेदो

1) अथापरेन समयेन कदाचि तस्मिं विहारे निवसतो महाभिक्खुसङ्घस्स अन्तरे कोचि महाथेरो अब्भोकासिको हुत्वा अन्तोविहारे एकस्मिं पदेसे निसीदित्वा भावनमनुयुञ्जन्तो विपस्सनं वड्ढेत्वा महामेदिनिया निग्घोसेन आकासं पूरेन्तो अरहत्तं पापुणि। तदा **उपतिस्सो** नाम राजा रज्जं कारेन्तो निसिथसमये भयावहं तं पठविसद्दं सुत्वा किं वा मे भविस्सती ति सन्तापेन निद्दं अलभमानो सोकेन सन्तप्पति। अथ तं सेतच्छत्तं अधिवत्था देवता "मा भायि महाराज! इतो कारणा किञ्चि ते अमङ्गलं नत्थि, हत्थ-वनगल्लविहारे कोचि महाथेरो अरहत्तं पापुणी"ति आह! तस्स अरहत्तप्पत्तिकाले पठविनिग्घोसस्स कारणं किन्ति वुत्ते सो थेरो पुब्बे पुञ्ञ-कम्मं करोन्तो "आकासेन सद्धिं पठविं उन्नादेत्वा अरहा भवेय्य"न्ति पत्थनं ठपेसि। तस्स फलमिदन्ति समस्सासेसि।

2) तं सुत्वा राजा अवसेसभिक्खूनं अरहत्तप्पत्तितो विसिट्ठतरो तस्स किलेस-विजयो ति पसन्नहदयो तं महाथेरं नमस्सित्वा तस्स आसवक्खयमहुस्सवे आसनभूतं भूमिप्पदेसञ्च पासादकरणवसेन सम्मानिस्सामी ति चिन्तेत्वा महाबलकायमादाय तत्थ गन्त्वा तस्मिं पदेसे पञ्चभूमकं महापासादं कारेत्वा विविध चत्तकम्मेहि समलंकरित्वा कनकखचिततम्बमयपत्थरेहि छादेत्वा देवविमानं विय सज्जेत्वा तं खीणासवमहाथेरं सभिक्खुसङ्घं तत्थ वासेत्वा चतूहि पच्चयेहि पूजेत्वा सपरिजनानि गामक्खेत्तानि पासादसन्तकानि कत्वा पक्कामि ।

3) ततो दीघस्स अद्धुना अच्चयेन मलयदेसवासिनो केचि चोरा एकतो हुत्वा गामविलोपं कत्वा महन्तेन धनलाभेन मत्ता धनं दत्वा बलकायं उप्पादेत्वा येभुय्येन सब्बं जनपदं हत्थगतं कत्वा राजूनं बलञ्च अभिभुय्य सेरिनो हुत्वा महन्तमहन्ते विहारे च विलुम्पन्ता सुवण्णपत्थरच्छदनं गण्हन्ता महापासादं विद्धंसित्वा पातयिंसु । तदा **मोग्गल्लानो** नाम राजा रज्जं कारेन्तो तं पवत्तिं सुत्वा सेसं सन्तिके चरपुरिसे पेसेत्वा दानसामभेदेहि तिविधोपायेहि अञ्ञमञ्ञं भिन्दि । ते चोरा भिन्ना इतरितरेहि युज्झित्वा सयमेव दुब्बला अहेसुं । अथ सो राजा ते असमग्गे ञत्वा अत्तनो सेनं गहेत्वा तत्थ गन्त्वा ते विसुं विसुं गहेत्वा निग्गह्य रट्ठे अभयभेरिं चरापेत्वा जनपदं सुप्प-तिट्ठितं कत्वा तेहि अपविद्धविहारे पाकतिके कत्वा महापासादं सुवण्ण-गहणकाले पातेसुन्ति सुत्वा पुब्बे विय सुवण्णपत्तेहि छादिते पच्छापि ईदिसं विपत्ति जायिस्सती ति ञत्वा तेभूमकं कत्वा यथा पुरे पासादं निम्मापेत्वा मत्तिकपत्थरेहि छादेत्वा वट्टुलभवनं पटिसंखरित्वा सब्बसङ्घा-रामञ्च पाकतिकं कत्वा पक्कामि ।

इति पासादुप्पत्तिपरिच्छेदो दसमो ।

अट्ठंसविमानुप्पत्ति नाम एकादसो परिच्छेदो

1) अथ लङ्कालङ्कारभूतेसु विसालपुञ्ञद्धिविक्कमेसु रतनत्तयमामकेसु लङ्का-नाथेसु कित्तिपुञ्जावसेसेसु जातेसु, अपेतनीतिमग्गेसु रज्जपरि-पालनोचितविधानविरहितेसु मुदुभूतेसु निहीनभागधेय्येस्वेवामच्चजनेसु च येभुय्येन अञ्ञमञ्ञविरुद्धेसु लङ्कावासीनं पुराकतेन केनापि

दारुणेन पापकम्मुना नानादेसवासिनी अविदितसत्थुसमया पविट्ठ-**मिच्छादिट्ठिगहणा पच्चत्थिसेना** जम्बुदीपा इधागम्म **सकलल**ङ्का**दीपं अनेकातंकसङ्कुलमकासि। तदा ताय पच्चत्थिसेनाय** गाळ्हतरं निपीलय-**माना राजराजमहामत्तादयो अनेकसहस्सजनकाया च भयचकितहदया सकताणगवेसिनो** छड्डितगामनिगमनगरा तत्थ तत्थ गिरिदुग्गादो **किच्छेन** वासं कप्पेसुं। ततो सुगतदसनधातुरक्खाधिकता उत्तरमूलवासिनो महायतयो दन्तधातुञ्च पत्तधातुवरञ्च गहेत्वा कुन्तमलयाभिधानं गिरि-दुग्गं दुप्पवेसं जनपदमुपागम्म तत्थापि तं पटिजग्गितुमसमत्था भूमियं निदहित्वा यथाकामं गता।

2) ततो पुब्बे जयमहाबोधिदुमिन्देन सह सकलजम्बुदीपाधिपतिना दिनकर-कुलतिलकेन धम्मासोकनरिन्देन पेसितानं अत्तना समानगोत्तानं राजपुत्तानं नत्तपनत्तादिपरम्परागतस्स विजयमल्लनराधिपस्स ओरसपुत्तो **विजय-बाहुनरिन्दो** नाम राजा सुविञ्ञातसब्बसमयन्तरो सततसमाचिण्णसुनीति-पथो सम्पन्नबलवाहनो जम्बुद्दोणि नाम पुरवरं मापेत्वा तत्थ वसन्तो महता बलकायेन कतसकलपच्चत्थिविजयो मलयभूमिप्पदेसतो भगवतो दन्तधातु-भट्टारकं पत्तधातुवरञ्च आहरापेत्वा सुरसदनसदिसमतिविरोचमानं विमानं मापेत्वा तस्मिं तं धातुयुगलं निवेसेत्वा महता उपहारविधानेन सादर-मुपट्ठहन्तो भगवतो चतुरासीतिधम्मक्खन्धसहस्सानि तत्तकेहेव कहा-पणेहि सम्पूजेत्वा सुगतसासने महन्तं पुञ्ञापदानं जनयन्तो धम्मिकसिरि-सङ्घबोधिमहाराजसिरोदानपदानसिद्धक्खेत्तभूते अनेकखीणासवसहस्स-चरणरजोपरिपूतमनोहरभूमिभागे गोठाभयमहाराजेन कारिते हत्थवनगल्ल-महाविहारमण्डनायमाने वट्टुलविमाने पुरा रट्ठविलोपागताय चोलकेरलादि-काय तित्थियसेनाय महाचेतियं उदरे भिन्नमत्ते जीविते विय धातुभट्टारके अन्तरहिते हदयवत्थुमंसमिव सुवण्णरतनादिकमपहरित्वा विद्धस्त जिण्णु-द्धारविधिना पटिसङ्खरोन्तो पुप्फाधानत्तयतो पट्ठाय सक्कच्चं विनापेत्वा महन्तं सुवण्णथूपिकामहञ्च कारेत्वा सपरिजनानि गामक्खेत्तादीनि च दत्वा तत्थ निवसन्तानं भिक्खूनं निबद्धदानवट्टं ठपेत्वा तं **हत्थवनगल्ल-महाविहारं** सब्बथा समिद्धमकासि।

3) अथ तस्मिं लङ्कानाथे कित्तिसरीरावसेसे जाते तस्सत्रजवरो **परक्कमभुजो** नाम राजा अम्हाकं भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स बोधिमूले निसीदित्वा

मारबलं विधमेत्वा सम्बोधिरज्जप्पत्तितो पट्ठाय अट्ठसताधिकवस्ससहस्से चतुवीसतिया च वच्छरेसु अतिक्कन्तेसु सम्पत्तरज्जाभिसेको अनेकविध-सङ्गहवत्थूहि सङ्गहितमहाजनो चतुपच्चयदानेन सततसमाराधितानेक-सहस्सभिक्खुसङ्घो भुजबलविधूताराति राजकुलावलेपो अनेकमणिरतन-समुब्भासितरतनकरण्डकञ्च पञ्चहि सुवण्णसहस्सेहि सोवण्णकरण्डकञ्च पञ्चवीसतिया रजतसहस्सेहि रजतकरण्डकञ्च दाठाधातुभदन्तस्स कारापेत्वा अतीव पसन्नहदयो सुमुहुत्तेन तत्थ समप्पयन्तो अत्तनो नगरञ्च धातुमन्दिरञ्च सक्कच्चं समलंकारापेत्वा बहुमानपुरस्सरो दसनधातुवरमादाय अनेकानि भगवतो चरितापदानानि समनुस्सरित्वा "पुरानेकभूपतयो पाटिहीर-सन्दस्सनेन पसादिता इति पवत्तकथामतरसेनेव मे सवनयुगलं परिपीणित-मधुनापि केनचि पाटिहारियविसेसेन मम चक्खुपटिलाभो सफलो कातब्बो"ति सादरमाराधनमकासि ।

4) तस्मिं खणे दसनधातु तस्स करपङ्कजे राजहंसीविलासमातन्वती पाटि-हीरमकासि । कथन्ति चे ? यथा अन्तिमभवे मातुकुच्छितो जातमत्तोव बोधिसत्तो नरवरकरतोपनीतदुकूलचुम्बटकतो ओतरन्तोव बालो समानोपि सोलसवस्सुद्देसको विय अमण्डितोपि अनेकवत्थाभरणविभूसितो विय भूमिया गच्छन्तोपि आकासेन गच्छन्तो विय सब्बेसं जनानं पटिभासि, तथेव तत्थ तदा सा दन्तधातु सुगतबिम्बाकारेन सलक्खणावयवेन रूपेन भासमाना अनेकविधरंसिनिकरे विकिरन्ती तत्थ सन्निपतितानं जनानं माननं जनेसि । वुत्तं हि

5) लङ्काधिनाथकरपङ्कजराजहंसी,
निम्माय सा दसनधातुमुनिन्दरूपं ।
नेकेहि रंसिविसरेहि समुज्जलन्ती
सब्बादिसा च विदिसा समलङ्करित्थ ॥

6) दिस्वा तमब्भुतमतीव पसन्नचित्तो,
सम्पत्तचक्करतनो विय चक्कवत्ती ।
सेट्ठेहि नेकरतनाभरणादिकेहि,
पूजेसि धातुमसमं मनुजाधिनाथो ॥

7) ततो जिनदन्तधातुवरप्पसादकालम्हि तेजोबलपरक्कममहिमो **परक्कमबाहुमहानरिन्दो** पुलत्थिपुरनिवासिनिं कतलोकसासनविलोपं सराजिकमनेकसहस्ससङ्खं चोळकेरलवाहिनिञ्च नेकदेसमहीपालमत्तमातङ्गकेसरीविक्कमं दुरतिक्कमं लोकसासनसङ्गहकरणवसेन वञ्चितसकललोकं सम्पन्नबलवाहनं लङ्कारज्जगहनत्थिनं तम्बलिङ्गविसयागतमतिसाहसं चन्दभानुमनुजाधिपञ्च ससामन्तमन्तकभवनमुपनीय सकललङ्कादीपमेकच्छत्तं विधाय अत्तनो पितुमहाराजतो दिगुणं लोकसासनसङ्गहं करोन्तो कदाचि सङ्घस्स कठिनचीवरानि दातुकामो कप्पासपरिकम्मकन्तनादिकानि सब्बकरणीयानि एकाहेनेव निट्ठापेत्वा पच्चेकमनेकमहग्घगरुभण्डमण्डितानि ससामणिकपरिक्खारानि असीतिमत्तानि कठिनचीवरानि दापेत्वा लोकस्स साधुवादेन दसदिसं पूरेसि ।

8) एवमञ्ञानिपि बहूनि लोकविम्हयकरानि पुञ्ञापदानानि सम्पादेन्तो सो **परक्कमबाहु**नरिन्दो हत्थवनगल्लविहारे अत्तनो पितु महारञ्ञो आळाहनट्ठाने महाचेतियं बन्धापेत्वा तत्थेव अनेकखीणासवसहस्सपरिभुत्तं पासादवरं चिरकालविनट्ठं सुत्वा धनुकेतकीवत्थुवंसे जातं सद्धादिगुणसम्पत्तिसमुदितं **पतिराजदेवनामकं** अमच्चवरं पेसेत्वा तेन अनेकसहस्सधनपरिच्चागेन भूमित्तयपतिमण्डितं सुमनोहरं पुरं विय तं पासादं कारापेत्वा तत्थ निवसन्तानं अनेकेसं भिक्खूनं निबद्धपच्चयदानं पवत्तेसि ।

9) तत्थेव वट्टुलविमानस्स हेट्ठिमतले गोपानसियो ठपेत्वा, समन्ता छदनं कारेत्वा द्विभूमकं विमानं तिभूमकमकासि । तत्थेव लङ्कादीपे अभूतपुब्बं जिनमन्दिरं कारापेतुकामो वट्टुलविमानतो उत्तरदिसाभागे पठमं पोरिसप्पमाणं सिलातलपरियन्तं खणित्वा पंसूनि अपनेत्वा नदीवालुकाहि पूरेत्वा कुञ्जरराजिविराजित-आधारबन्धकतो पट्ठाय याव थूपिकं अट्ठंसं विभागेन भित्तिछदनानि विभत्तानि कत्वा पच्चेकं नानावण्णविचित्तानमट्ठंसविधानं भित्तिभागानमुपरि केळिपरिहासरसजनकनानावेसविलासविभूसितपहूतभूतकिङ्करपरिसोपरिगतविटङ्कमण्डलमण्डितं पमुखपरियन्ते विविधविचित्तरूपमनोहरमुच्चतरं इट्ठिकाहि निचितं कतसुधापरिकम्मं मकरतोरणमण्डलञ्च निम्मिनित्वा अन्तो विरचितातिमनोहरमालाकम्मलताकम्मादिनानाविधचित्तकम्मसमुज्जलं सुपिहितसोपानद्वारकवाटसमलंकतं ठानलीळ्ह-

मनोहर-सजीवजिनसंकासपटिबिम्बरूपविभूसितं पटिबिम्बस्स दक्खिणतो घनसिलाविहितसुगतरूपपतिमण्डितं तिभूमकं महाविमानं कारेसि ।

इति अट्ठंसविमानुप्पत्तिपरिच्छेदो एकादसमो ।

विद्धस्तसङ्खरणतो नवकम्मुनावा
खेत्तादिदानविधिना च अनागतेपि ।
ये साधवो परिहरन्ति इमं विहारं
नामञ्च कारमपि तेसमिहालिखन्तु ॥

हत्थवनवल्लविहारवंसो निट्ठितो ॥

अज्ञातकर्तृक

पञ्चगतिदीपनं

डॉ० कोमलचन्द्र जैन

प्राध्यापक, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

वाराणसी

पञ्चगतिदीपनं नामेदं पुस्तकं 'लियोन फिशर'महोदयेन सम्पादितं 'पालि टेक्स्ट सोसाइटी'-इत्याख्यया संस्थया १८८४ खीष्टाब्दे रोमनाक्षरैः प्रथमवारं प्रकाशितं च। इदमेव च रोमनसंस्करणम् अस्य प्रस्तुतस्य देवनागरीसंस्करणस्याधारभूतम्।

ग्रन्थोऽयं पालिभाषया विनिर्मितः सर्वथा लघुकायः। ११४ गाथामात्रमत्र संनिबद्धम्। गतयो जीवानां पञ्चैव भवन्ति, यथा—नारकाः, प्रेताः तिर्यञ्चः, मानुषाः, देवाश्च। कायवाङ्मनोभिः सम्पादितानां सुकृतदुष्कृतानां यथा इष्टानिष्टफलानि विभिन्नासु गतियोनिषु प्राप्यन्ते, तथा ग्रन्थेऽस्मिन् सरलया शोभनया च शैल्या प्रतिपादितानि सन्ति। ग्रन्थलेखकस्य नामकालादिविषयकः कश्चनापि परिचयो नाद्यावधि प्राप्तुं शक्यते।

प्राक्कथन

'पञ्चगतिदीपनं' का प्रकाशन पहली बार जर्नल आव द पालि टेक्स्ट सोसाइटी (पृ० १५२-१६१) १८८४ ई० में रोमन लिपि में हुआ था, जिसका सम्पादन लियोन फियर (Leon Fecr) ने किया था। उक्त रोमन लिपि के संस्करण को ही आधार बनाकर यह देवनागरी लिपि का संस्करण तैयार किया गया है।

पञ्चगतिदीपनं ११४ गाथाओं में निबद्ध पालि का एक लघु ग्रन्थ है। जैसा इसके नाम से प्रकट होता है, इसमें नरक, पशु, भूतप्रेतादि, मनुष्य एवं देव—इन पाँच गतियों का वर्णन है। प्राणी को अपने मन, वचन एवं काय द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मों से कौन-सी अच्छी या बुरी गति प्राप्त होती है तथा वहाँ उसे अपने पूर्वकृत कर्मों का किस प्रकार फल मिलता है—इसीका विस्तृत विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ में है। यद्यपि पेतवत्थु एवं विमानवत्थु में अच्छे या बुरे कर्मों के अच्छे या बुरे फल का वर्णन है, किन्तु पञ्चगतिदीपन में वही बात सरल एवं स्वाभाविक भाषा में कही गयी है। इसे पढ़ने से बुरे कर्मों से दूर रहकर अच्छे कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इसके लेखक एवं रचनाकाल के विषय में कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं है।

—कोमलचन्द्र जैन

अनुक्कमो

१.	नरककण्डं	गाथा	५-४४
२.	तिरच्छानकण्डं	गाथा	४५-५१
३.	पेतकण्डं	गाथा	५२-६९
४.	मनुस्सकण्डं	गाथा	७०-१०२
५.	देवकण्डं	गाथा	१०३-११४

पञ्चगतिदीपनं

नमत्थु

गुणिनो जितजेय्यस्स सम्माञाणावभासिनो ।
परत्थकारिनो निच्चं तिलोकगरुनो नमो ॥१॥

कायादीहि कतं कम्ममत्तना यं सुभासुभं ।
फलं तस्से'व भुञ्जन्ति कत्ता अञ्ञो न विज्जति ॥२॥

इति मन्त्वा दयापन्नो तिलोके कतरु सत्था ।
हितायावोच सत्तानं कम्मुनो यस्स यप्फलं ॥३॥

तं वक्खामि समासेन सुत्वा सम्बुद्धभासितं ।
सुभं वा असुभं कम्मं कातुं हातुञ्च वो'धुना ॥४॥

१. नरककण्डं

(१) अट्ठ महा-नरका

सञ्जीवो काळसुत्तो च सङ्घातो रोरुवो तथा ।
महारोरुवो तपो च महातपो च अवीचयो ॥५॥

लोभ-मोह-भय-क्कोधा ये नरा पाणघातिनो ।
वधयित्वान हिंसन्ति सञ्जीवं यन्ति ते धुवं ॥६॥

संवच्छरसहस्सानि बहूनि पि हता हता ।
सञ्जीवन्ति यतो तत्थ ततो सञ्जीवनामको ॥७॥

माता-पितु-सुहज्जादि-मित्त-दोसकरा नरा ।
पेसुञ्ञासच्चवादा च काळसुत्ताभिगामिनो ॥८॥

काळसुत्तानुसारेन फाल्यन्ते दारु व यतो ।
कक्कच्चेहि जलन्तेहि काळसुत्तं ततो मतं ॥९॥

अथे'ळकलिङ्गालादिससाखुमिगसूकरे ।
हनन्ति पाणिनो'ञ्ञे च सङ्घातं यन्ति ते नरा ॥१०॥

सङ्घाटा तत्थ घाट्यन्ते सम्मा हननतो यतो ।
तस्मा सङ्घातनामेन सम्मतो निरयो अयं ॥११॥

कायमानससन्तापं ये करोन्ति ह् देहिनं ।
कुटकापामका ये च रोरुवं यन्ति ते नरा ॥१२॥

तिब्बेन वण्हिना तत्थ दय्हमाना निरन्तरं ।
घोरं रवं विमुञ्चन्ति तस्मा स रोरुवो मतो ॥१३॥

देवद्विजगुरुदब्बं हटं येहि पि रक्खतो ।
ते महारोरुवं यन्ति ये च निक्खेप-हारिनो ॥१४॥

घोरता वुण्हितापस्स रवस्सापि महत्ततो ।
रोरुवो ति महा तस्स महत्तं रोरुवो अपि ॥१५॥

दावादि-दहने दाहं देहिनञ्च करोति यो ।
सो जलं जलने जन्तु तप्पते तापने रुदं ॥१६॥

तिब्बं तापनसन्तापं तनोतेव निरन्तरं ।
यतो ततो च लोकस्मि ख्यातो तापननामको ॥१७॥

धम्माधम्मविपल्लासं नत्थिको यो पकासति ।
सन्तापेति च सत्ते यो तप्पते स पतापने ॥१८॥

पतापयति तत्थ ते सत्ते तिब्बेन वुण्हिना ।
तपनातिसयेनायं तस्मा वुत्तो पतापनो ॥१९॥

कत्वा गणाधिके दोसं घातयित्वान सावके ।
मातापितुगुरू चापि अवीचिम्हि भवन्ति ते ॥२०॥

अट्ठीनि पि विलीयन्ते तत्थ घोरग्गितापतो ।
यतो न वीचि सुखस्स तेनावीचीति सम्मतो ॥२१॥

(२) निरयुस्सदा

निरयस्से'कमेकस्स चत्तारो निरयुस्सदा ।
मिळ्हकूपो कुक्कुलो च असिपत्तवनं नदी ॥२२॥

महानिरयतो सत्ता निक्खन्ता मिळ्हकासुयं ।
पतन्ति ये ते घोरेहि किमिव्यूहेहि विज्जरे ॥२३॥

निक्खन्ता मिळ्ह-कूपम्हा कुक्कुले च पतन्ति ते ।
पतिता तत्थ ते सत्था सासपा विय पच्चरे ॥२४॥

कुक्कुलम्हा च निक्खन्ता दुमे पस्सन्ति सोभणे ।
हरिते पत्तसम्पन्ने ते उपेन्ति सुखत्थिनो ॥२५॥

तत्थ काका च गिज्झा च सुनखोलुकसूकरा ।
वक-काकादयो भेस्मा लोहतुण्डा सुभेरवा ॥२६॥

ते सब्बे परिवारेत्वा तेसं मंसानि खादरे ।
पुन सञ्जातमंसा ते उट्ठहन्ति पतन्ति च ॥२७॥

अञ्ञमञ्ञं विनासाय पहरन्ति रणे च ये ।
पापेनासिनखा ते तु जायन्ते दुक्खभागिनो ॥२८॥

नखा येवासियो तेसं आयसा जलिता खरा ।
तेह'ञ्ञोञ्ञं निकन्तन्ति यन्तेनासिनखा मता ॥२९॥

लोहजलिततिक्खत्तं सोळसङ्गुलिकण्ठकं ।
बलेनारोपयन्ति तं सिम्बलिं पारदारिकं ॥३०॥

लोहदाठा महाकाया जलिता भेरवित्थियो ।
तमालिङ्गिय भक्खन्ति परदारापहारिनं ॥३१॥

आरदन्ते पि खादन्ति सा-गिज्झे लुकवायसा ।
असिपत्तवने छिन्ने नरे विस्सास-घाटिनो ॥३२॥

अयो-गुळानि भुञ्जन्ति ते तत्तानि पुनप्पुनं ।
पिवन्ति कुट्टितं तम्बं ये परत्थापहारिनो ॥३३॥

सोणा भेरवायोदाठा भुसं खादन्ति ते नरे ।
विस्सगोनं नदन्ते पि ये सदा खेटके रता ॥३४॥

मच्छादि जलजे हन्त्वा जलितम्बद्रवोदकं ।
यन्ति वेतरणिं घोरं वण्हिना डय्हते चिरं ॥३५॥

लद्धलोभेन सम्मूळ्हो यो वोहारमधम्मिकं ।
करोति नरके कण्डं सो चक्केन विहञ्ञते ॥३६॥

पीळा बहुविधाकारा कता येहीध देहिनं ।
पीळेन्ति ते चिरं तत्ता यन्तपब्बतमुग्गरा ॥३७॥

भेदका धम्मसेतूनं ये चासम्मग्गवादिनो ।
खुरधरापि तं मग्गं गन्त्वा कन्दन्ति ते नरा ॥३८॥

नखचुण्णितयुकादि कन्दन्ति चिरं नरा ।
पुनप्पुनम्महाकायमेससेलेहि चुण्णिता ॥३९॥

सीलं यो च समादाय सम्मानो परिरक्खति ।
विलीयमानमंसट्ठी कुक्कुले पच्चते चिरं ॥४०॥

अनुना पि च यो एको मिच्छाजीवेन जीवति ।
गूथमुग्गे निमुग्गो सो किमित्यूहेहि खज्जते ॥४१॥

दिस्वाविहिमज्झगते पाणिनो चुण्णयन्ति ते ।
तत्रयोमुसलेहेव ते चुण्णन्ति पुनप्पुनं ॥४२॥

कुरुराच्चन्तकोपना सदा हिंसरता नरा ।
परदुक्खपहट्ठा च जायन्ते यमरक्खसा ॥४३॥

सब्बेसमेव दुक्खानं भिज्जमुद्धादिभेदतो ।
कायवाचादि पापं यं तं दण्डापि न कारये ॥४४॥

नरककण्डं पठमं ॥

२. तिरच्छानकण्डं

हिंसपारापतादिनं खत्तानमतिरागिनं ।
जायन्ते योनियं रागा मूळ्हा कीटादियोनिसु ॥४५॥

सप्पा कोधोपनाहेहि मानत्थद्धा मित्ताधिपा ।
अतिमानेन जायन्ते गद्रभसोणयोनिसु ॥४६॥

मच्छेरोसुयको चापि होति वानरजातिको ।
मुखरा चपला लज्जा जायन्ते काकयोनिसु ॥४७॥

वध-बन्धन-मिद्धाहि हत्थ'स्समहिसादिनं ।
होन्ति कुरूरकम्मन्ता सुका खज्जरविच्छिका ॥४८॥

व्यग्घ-मज्जार-गोमायु-अच्छ-गिज्झ-वकादयो ।
जायन्ते पेच्च मंसदा कोधना मच्छरा नरा ॥४९॥

दातारो कोधना क्रूरा नरा नागा महिद्धिका ।
भवन्ति चागिनो कोधा दप्पा च गरुडिस्सरा ॥५०॥

कतं यं पापकं कम्मं मानसादिकमत्तना ।
तिरच्छानेसु जायन्ते तेन तं परिवज्जये ॥५१॥

तिरच्छानकण्डं दुतियं ॥

३. पेतकण्डं

(१) पेत

खज्जभोज्जापहत्तारो येहि उट्ठानवज्जिता ।
भवन्ति कुणपाहारा पेता ते कटपूटना ।।५२

विहेठयन्ति ये बाले लोभेन वञ्चयन्ति च ।
ते पि गब्भमलाहरा जायन्ते कटपूटना ॥५३॥

हीनाचारातिहीना च मच्छरा निच्चलोभिनो ।
ये नरा पेच्च जायन्ति पेता ते गलकण्टका ॥५४॥

परदानं निसेधेति न च किञ्चि ददाति,यो।
खुप्पिपासिकपेतो सो सूचिवत्तो महोदरो ॥५५॥

धनं भुञ्जति वंसत्थं न भुञ्जति न देति यो।
दत्तादायी ततो पेतो लद्धभोगी स जायते ॥५६॥

यो परत्थापहारिच्छो देवता चेवनुतप्पति।
सो गूथ-सेम्ह-वन्तानम्पेतो जायति भक्कको ॥५७॥

यो वदत्यप्पियो कोधा वाक्यमम्मावघतनं।
भवतु'क्कामुखो पेतो सो चिरं तेन कम्मुना ॥५८॥

कुरूरमानसो यो त्व दयो कलहकारको।
किमिकीटपटङ्गादो पेतो सो जोतिको भवे ॥५९॥

(२) कुम्भण्ड

गमकूटो ददात्येव यो दानं पीळयत्यपि।
कुम्भण्डो विकटाकारो पूजमानो सो जायते ॥६०॥

निद्दयो पाणिनो हन्त्वा भक्खितुं यो ददाति च।
खज्जभोज्जानि सो वस्स लभते पेच्च रक्खसो ॥६१॥

गन्ध-माला-रता निच्चं मन्दकोधा च दायका।
गन्धब्बा पेच्च जायन्ते देवानं रतिवद्धना ॥६२॥

कोधनो पिसुनो कोचि लोभत्थं यो पयच्छति।
पिसाचो दुट्ठचित्तो सो जायते विकटाननो ॥६३॥

निच्चप्पदुट्ठा चपला परपीळकरा नरा।
सम्पदानरता निच्चं भूता पेच्च भवन्ति ते ॥६४॥

घोरा कुद्धा पदातारो पियासवसुरा च ये।
जायन्ते पेच्च यक्खा ते घोराहारा सुरापिया ॥६५॥

ये नयन्तीध यानेहि माता-पितु-गुरुज्जने।
विमानचारिनो यक्खा ते होन्ति सुख-संयुता ॥६६॥

तण्हा-मच्छेर-दोसेन पेच्च पेतासुभेहि तु ।
यक्खादायो किलिट्ठेहि तस्मा तं परिवज्जये ॥६७॥

(३) असुर

सठो मायाविको निच्चं चरते नञ्ञपापको ।
कलिप्पियो पदाता च सो भवत्यसुरिस्सरो ॥६८॥

तावतिंसेसु देवेसु वेपचित्तासुरा गता ।
कालकञ्जासुरा नाम गता पेतेसु सङ्गहं ॥६९॥

पेतकण्डं ततियं ॥

४. मनुस्सकण्डं

देवासुरमनुस्सेसु हिंसायप्पायुको नरो ।
दीघायुको त्वहिंसाय तस्मा हिंसं विवज्जये ॥७०॥

कुट्ठक्खयजरुम्मादा ये (च) ञ्ञे रोगा पाणिनं ।
वधा-ताळन-बन्धेहि होन्ति ह तेसु जन्तुसु ॥७१॥

हारको यो परत्थानं न च किञ्चि पयच्छति ।
महता विरियेनापि धनं सो नाधिगच्छति ॥७२॥

अदिन्नं धनमादाय दानानि च ददाति यो ।
सो पेच्च धनवा हुत्वा पुन जायति निद्धनो ॥७३॥

न हारको न दाता यो न ह'तिकपणो जनो ।
किच्छेन महता दब्बं थिरं सो लभते धुवं ॥७४॥

हारको न परत्थानं चागवा वीतमच्छरो ।
अहारियं बहु वित्तं इद्धं सो लभते नरो ॥७५॥

आयु-वण्ण-बलूपेतो धीमारोगविवज्जितो ।
सुखी पजायते निच्चं यो ददाति ह भोजनं ॥७६॥

सलज्जो रूपवा होति सुछायो जनतापियो ।
सो भवे वत्थलाभी च यो वत्थानि पयच्छति ॥७७॥

आवासं यो ददाति ह विप्पसन्नेन चेतसा ।
पसादा सब्बकामिद्धा जायन्ते तस्स देहिनो ॥७८॥

सङ्कमपाहनादीनि ये पयच्छन्ति मानवा ।
भवन्ति सुखिनो निच्चं लभन्ते यानमुत्तमं ॥७९॥

पपा-कूपा-तळाकानि कारयित्वा जलासये ।
सुखिनो वीतसन्तापा निप्पिपासा भवन्ति ते ॥८०॥

पुप्फेहि पूजितो निच्चं समिद्धो सिरिमा भवे ।
सरणं सब्बदेहीनं आरामं यो पयच्छति ॥८१॥

विज्जादानेन पण्डिच्चं पञ्ञा-व्यासेन लब्भते ।
भेसज्जाभयदानेन रोगमुत्तो तु जायते ॥८२॥

चक्खुमा दीपदानेन वाळदानेन सुस्सरो ।
सयनासनदानेन सुखं लभति मानवो ॥८३॥

गवादिं यो ददाति ह भोज्जं खीरादि-संयुतं ।
बलवा वण्णवा भोगी होति दीघायुको च सो ॥८४॥

कञ्ञादानेन कामानं लाभी च परिवारवा ।
धनधञ्ञसमिद्धो तु भूमिदानेन जायते ॥८५॥

पत्तं पुप्फं फलं तोयमत्थापि वाहनम्पियं ।
यं यं यत्थेच्छितं भत्यं दातब्बं तं तदत्थिना ॥८६॥

केसयित्वा ददाति ह सग्गत्थं वा भयेन वा ।
यसत्थं वा सुखत्थं वा किलिट्ठं सो फलं लभे ॥८७॥

सकत्थ-निरपेक्खेन दया-युत्तेन चेतसा ।
परत्थं देति यो सो यं अकिलिट्ठं फलं लभे ॥८८॥

यं किञ्चि दीयतेऽञ्ञस्स यथाकालं यथाविधि ।
तेन तेन पकारेण तं सब्बं उपतिट्ठति ॥८९॥

परे अबाधयित्वान सयं काले यथेच्छितं ।
अकेसयित्वा दातब्बं तं हि धम्माविरोधितं ॥९०॥

एवम्पि दियमानस्स दानस्से'व फलु'ब्भवो ।
दानं सब्बसुखानं हि परमं कारणं मतं ॥९१॥

विरतो यो परदारेहि दारे सो सुन्दरे लभे ।
स्नेहप्पदेसकालादि वज्जन्तो पुरिसो भवे ॥९२॥

परदारेसु संसट्ठं यो न वारेति मानसं ।
सारज्जति च'नङ्गेसु नारित्तं याति सो पुमा ॥९३॥

या जिगुच्छति नरत्तं सुसीला मन्दरागिनी ।
निच्चम्पत्थेति पुंभावं सा नारी नरत्तं वजे ॥९४॥

यो तु सम्मा निवातङ्कं ब्रह्मचरियं निवेसति ।
तेजस्सी सुगुणो भोगी देवेहि पि सम्पूजितो ॥९५॥

दळ्हस्सति असम्मूळ्हो विरतो मज्जपानतो ।
जायते सच्चवादी च यसस्सी सुखसंयुतो ॥९६॥

भिन्नानमपि सत्तानं भेदन्नेव करोति यो ।
अभेज्जपरिवारो सो जायते थिरमानसो ॥९७॥

आणात्ति कुरुतो निच्चं गुरूनं हट्ठमानसो ।
हिताहिताभिधायी च सो आदेय्य-वचनो भवे ॥९८॥

नीचा परावमानेन विपल्लासेन तुन्नता ।
भरन्ति सुखिनो दत्वा सुखं दुक्खं च दक्खिनो ॥९९॥

परवम्भनभिरता सठा हसच्चवादिनो ।
खुज्जवामनत्तं यन्ति ते च रूपाभिमानिनो ॥१००॥

जळो विज्जासु मच्छेरो भवे मूगो पियाप्पियो ।
जायते बधिरो मूळ्हो हितवाक्यब्भुसूयको ॥१०१॥

दुक्खं पापस्स पुञ्ञस्स सुखं मिस्सस्स मिस्सकं ।
ञेय्यं सदिसनिस्सन्दं कम्मानं सकलं फलं ॥१०२॥

मनुस्सकण्डं चतुत्थं ॥

५. देवकण्डं

(१)

नेवत्तनो सुखापेक्खी न च हट्ठो परिग्गहे ।
गहानं पमुखो वायं महाराजिकतं वजे ॥१०३॥

माता-पितु-कुलेजेट्ठ-पूजको चागवा खमी ।
तुस्सति यो न कलहे तावतिंसेसु सो भवे ॥१०४॥

न विग्गहे रता नेव कलहे हट्ठमानसा ।
एकन्तकुसले युत्ता ये ते यामोपगा नरा ॥१०५॥

बहुस्सुता धम्मधरा सुपञ्ञा मोक्खकङ्खिनो ।
गुणेहि परितुट्ठा ये नरा ते तुस्सितोपगा ॥१०६॥

सीलप्पदानविनये पवत्ता ये सयं नरा ।
महुस्साहा च ते वस्सं निम्मानरति-गामिनो ॥१०७॥

अलीनमानसा सत्ता पदान-दम-सञ्ञमे ।
गुणाधिका च होन्ति ते परिनिम्मित्तवत्तिनो ॥१०८॥

सीलेन तिदिवं याति ञानेन ब्रह्म-सम्पदं ।
यथाभूत-परिञ्ञानं निब्बानमधिगच्छति ॥१०९॥

(२)

सब्बासुभं कम्मफलं मयेतं कथितं फलं ।
सुभेने'व सुखं याति दुक्खञ्चासुभसम्भवं ॥११०॥

मच्चु-रोग-जरा-त्वेव चिन्तनीयमिदं तयं ।
विप्पयोगो पियेहासि कम्मनो तस्स तं फलं ॥१११॥

पप्पोत्येवं विरागं यो विरत्तो पुञ्ञमिच्छति ।
पापञ्च वज्जयत्येवं तं सुणाथ समासतो ॥११२॥

सम्मापरत्थकरणं परानत्थ विवज्जनं ।
पुञ्ञपापविपल्लासो वुत्तमेतं महेसिना ॥११३॥

देवा चेव मनुस्सा च तिस्सो पापा या भूमियो ।
गतियो पञ्च निद्दिट्ठा बुद्धेनेव तयो भवा ॥११४॥

॥ देवकण्डं पञ्चमं ॥

॥ पञ्चगतिदीपनं समत्तं ॥

TACCAVIYĀRO

[A Jaina Philosophical Text in Prakrit]

OF

VASUNANDI SŪKI

Edited by

Dr. Gokul Chandra Jain

Head of the

Department of Prakrit & Jaināgama

Faculty of Śramaṇa-Vidyā

Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya

Varanasi

वसुनन्दिसूरिविरचितः

तच्चवियारो

[प्राकृतभाषानिबद्धो जैनसिद्धान्तग्रन्थः]

सम्पादकः

डॉ. गोकुलचन्द्रजैनः

प्राकृत एवं जैनागमविभागाध्यक्षः

श्रमणविद्यासङ्कायः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

पुरोवाक्

'तच्चवियारो' प्राकृतभाषानिबद्धो जैनसिद्धान्तग्रन्थः, विशेषतस्तु श्रावकाचार-विषयकः । ग्रन्थस्य प्रथमगाथायां 'तच्चवियारो' इति ग्रन्थनामनिर्देशः तथा चान्ते ग्रन्थकर्तुर्नाम 'वसुनन्दिसूरि' (गाथा 294) इत्युल्लिखितम् । 295 पद्यात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे 287 प्राकृत-गाथाः तथा च अष्ट अपभ्रंशपद्यानि प्राप्यन्ते । ग्रन्थस्य विभागः विषयानुसारम् 11 एकादशप्रकरणेषु कृतः । तद्यथा—

1. नवकारप्रकरणम् ।
2. धर्मप्रकरणम् ।
3. भावनाप्रकरणम् ।
4. सम्यक्त्वप्रकरणम् ।
5. पूजाप्रकरणम् ।
6. विनयप्रकरणम् ।
7. वैय्यावृत्यप्रकरणम् ।
8. श्रावकस्थानप्रकरणम् ।
9. जीवदयाप्रकरणम् ।
10. श्रावकविधिप्रकरणम् ।
11. दानविधिप्रकरणम् ।

अस्त्येतादृशानां नैतिकमूल्यानां सार्वजनीनं महत्त्वम् । स्वस्य विकाशे परेषां च कृते नियमानामेषामनुपालनं सर्वथा महनीयतां भजते ।

अस्य ग्रन्थस्य रचयिता वसुनन्दिः शौरसेनीप्राकृतागमपरम्परायां संजातः । अस्य वैदुष्यं समाजस्य विकाशाय च प्रयत्नाः तत्त्वविचारे ग्रन्थान्तरेषु च दृश्यन्ते । 'उवासयज्झयणं' इति नाम्ना प्राकृते श्रावकाचारः तथा च मूलाचारनामकस्य मुनेराचारग्रन्थस्य संस्कृतवृत्तिः, समन्तभद्रस्वामिनः देवागमाख्यग्रन्थस्य संस्कृतवृत्तिः, स्तुतिशतकस्य च संस्कृतवृत्तिः वसुनन्दि-सूरेः प्राकृतसंस्कृतयोः महत्त्वं ख्यापयन्ति । प्रतिष्ठासारः, अस्य एका अन्या संस्कृतकृतिः ।

तत्त्वविचारः अत्र प्रथमवारं प्रकाश्यत इत्यस्य प्रथमं वैशिष्टयम् । ततश्च परमं महत्त्वं प्राचीनजैनागमपरम्परायाः नैतिकमूल्यानां संरक्षणम् । पूर्वमनीषिभिः प्राकृतागमेषु ये महान्तः नैतिकनियमाः आदर्शाश्च संग्रथिताः, ते श्रुतपरम्परया प्रायः विस्मृताः परिवर्तिताश्च ।

अत एव वसुनन्दिना पुनरपि प्राचीनागमपरम्परामनुसृत्यैव द्वौ प्राकृतग्रन्थौ निर्मितौ। एवं दीर्घकालावधौ त्रुटितप्रायां प्राचीनां परम्परां पुनरुज्जीव्य वसुनन्दिना बहूपकृतम्। एतत् तस्य महाविदुषः महत्त्वपूर्णमवदानम्।

आशासे तत्त्वविचारस्य प्रकाशनेन प्राकृतवाङ्मये एका नवीना श्रीवृद्धिर्भविष्यतीति।

वाराणसी।

गोकुलचन्द्रजैनः
प्राकृत एव जैनागमविभागाध्यक्षः

Preface

1. Taccaviyāro is a Prakrit treatise dealing with the Jaina philosophical doctrines perticularly with some of the religio-philosopical concepts and code of conduct of a house-holder. It consists of two hundred and Ninety Five verses in gāthā metre, including eight verses in Apabhraṁśa.

2. The title of the treatise is mentioned in the opening as well as in concluding verses as follows :—

"vocchaṁ tacca-viyāraṁ........" (1)
"eso tattaviyāro.................." (294)

3. In the concluding verse of the text the name of the author is also mentioned in the following words :—

"vasunandi-sūri-raio............" (294).

Thus the present treatise is entitled as Taccaviyāro, and it is prepared by Vasunandi Sūri.

4. Taccaviyāro opens with a salutery verse vowing to the feet of Pārśva Jina. Then the object of the treatise is mentioned in one verse. Rest of the verses deal with the following chapters called *payaraṇa*, each of which is an independent tract in itself.

1. Navakāra-payaraṇaṁ.
2. Dhamma-payaraṇaṁ.
3. Bhāvanā-payaraṇaṁ.
4. Sammatta-payaraṇaṁ.
5. Pujjā-payaraṇaṁ.
6. Viṇaya-payaraṇaṁ.
7. Veyāvacca-payaraṇaṁ.
8. Sāvayaṭṭhāṇa payaraṇaṁ.
9. Jīvadayā-payaraṇaṁ.
10. Sāvaya-vihi-payaraṇaṁ.
11. Dāṇa-vihi-payaraṇaṁ.

Each chapter provides good many details about one independent topic. Thus Taccaviyāro can be called a collection of 11 small tracts.

5. The topics delt in Taccaviyāro, are very important in Jaina Ethics and elaborately discribed in ancient Prakrit, Sanskrit Apabhraṁśa texts. A close study of Taccaviyāro reveals that Vasunandi has chosen some important topics and presented a handy manual of law for a house holder, under a new title.

6. It is not very difficult for a penerating student of ancient Jaina literature to find many of the verses common in Taccaviyāro and other works. About 100 verses are common with Vasunandi's another Prakrit work *uvāsayajjhayaṇa* papularly known as Vasunandi-Śrāvakācāra. Some verses are common in the Kattigeyāṇuvekkhā of Svāmi Kārtikeya and Bhāva-Saṁgaha of Devasena. Some verses are also common in Jivadayā-prakaraṇa, Śrāvaka-pratikramaṇa and other works.

7. It is quite consistant to prepare such a small collection on some highly important topics to fulfil the need of the time and society. It is a part of the duties of a monk to educate the society, and to provide guidelines for the spritual and social development of the members of the society. Not Vesunandi alone, but other enlightened Ācāryas also prepared such collections, and in other words they did their humble duty as a *Uvajjhāya Parameṣṭhī* the teacher-monk.

8. In this connection my attention is once again drawn to the fact that many verses and prose portions are commonly found in Ardhamāgadhī and Śaurasenī Prakrit Āgamas. The tradition continued in later sanskrit literature too. Dialectical and some other changes are natural. A study of such common heritage may explore a new vista in Prakrit studies in general and Jainological Studies in perticular. To may mind, such passages belong to ancient main stream of the Tradition being preserved by words of mouth through precepter to pupil.

9. Taccaviyāro is also importent for interdesciplinary studies. For instance the topices delt in the text are common in Pali literature dealing with vinaya. A comparative and critical study will prove to be very useful for furtherance study of two living Śramaṇa traditions.

10. It is also a matter of serious consideration that now a days no study is taken as complete in isolation. It should be undertaken in relation to the other related subjects of humanities and social sciences. In this connection the attention of scholars should be drawn to the fect that the

study of ancient religio-philosophical texts of various schools may prove to be of high importance in relation to sociology and anthropology.

11. Philology and linguistics have played a very important part for the study of world lauguages, literature and cultu-e. Taccaviyāro provides a good deal of different forms of the language. The language used in Taccaviyāro, is Prakrit in general and Śaurasenī in perticular with frequent uses of Ardhamāgadhī. According to Pischel it may be called Jaina-Saurasenī. Besides Prakrit some Apabhraṁśa verses are also found. Vasunandi has given different forms of the same word. Perhaps, he has honestly put the words, he found, making no change for uniformity.

12. Vasunandi's contribution gets more importance and weightage when we take stock of the Śaurasenī Prakrit treatises dealing with *sāvaya-damma or Śrāvakācāra.* Kundakunda narrates the Śrāvakācāra in six verses only (Cāritta-Pāhuda, 21-26) where he indicats eleven steps (ṭhāṇa) of a Sāvaya, five aṇuvvayas, three guṇavvayas and four sikkhāvayas. After Kundakunda, in Śauraseni Kārtikeya in his Kattigeyāṇuvekkhā and Devasena in his Bhāva-saṁgaho give details of Śrāvakācāra. Vasunandi's Uvāsayajjhayaṇa is a single and the only independent work in Śauraseni Prakrit tradition, dealing exclusively with Śrāvakācāra. Taccaviyāro in the light of these facts, deserves to be taken as an important contribution to Prakrit literature in general and Śauraseni Prakrit in particular.

13. Vasunandi Sūri and his Prakrit works are important for the histary of Jaina church. Some efforts have been made to decide his date and cronology, but the entire details furnished in this connection are based on presumptions and deserve to be reconsidered. The most important factor is to consider Vasunandi and his Prakrit works in the light of Śramaṇa-Tradition. At the end of Uvāsayajjhayaṇaṁ Vasunandi himself has given the following cronology :—

Siriṇaṁdi was born in the tradition of Sirikuṁdakuṁda. Ṇayaṇaṁdi-Muṇi was his disciple and his disciple was Ṇemicandu whose blessings led Vasunandi to write the traditional scripture uvāsayājjhayaṇaṁ. The relevent verses run like this :—

आसी ससमयपरसमलविदू सिरिकुंदकुंदसंताणे ।
भव्वयणकुमुयवणसिसिरयरो सिरिणंदिणामेण ॥५४०॥
सिस्सो तस्स ······ णयणंदिणाममुणि ······ ॥५४२॥

सिस्सो तस्स ··· ·········· णेमिचन्दु त्ति ॥५४३॥

तस्स पसाएण मए ·· रइयं ··· उवासयज्झयणं ॥५४४॥

—उवासयाज्झयणं ।

The names Vasunandi and Nayanandi clearly speak that they belong to Nandi Saṁgha, which is a scion of Mūla Saṁgha to which the great ācārya Kuṁdakuṁda, also known as Padmanandi, and his ancestors Dharasena and Guṇadhara the History making ācāryas, belong.

14. Besides Taccaviyāro and Uvāsayajjhayaṇa following works are assigned to Vasunandi :—

1-3 Sanskrit commentaries on (1) Mūlācāra (2) Devāgama-Stotram and (3) Jinaśatakam. (4) Pratiṣṭhāsāroddhāra.

In these works Vasunandi has mentioned his name in the last verses. He has not given more informations about his personal life and works but from his above mentioned works, it is clear without doubt that he was very much enthusiastic to keep the tradition of Prakrit, continued, although he was well versed in Sanskrit. He was more conscious to keep the ideals alive in the society for which he tried his best to convey the religio-philosophical concepts and code of conduct to a lay man as well as to a monk in the most simple language and style, understandable by a common man. He no where claims to be addressed as Siddhānta-cakravarti or Ubhaya-bhāṣā-kavi-cakravarti. On the other hand he speaks of him as śrutavismaraṇaśila, jaḍamati (DV, last verse) etc.

15. While deciding the date and cronology of Vasunandi the editor[1] of Uvāsayajjhayana has presumed that Sirinaṁdi mentioned by Vasunaṁdi should be Rāmanaṁdi mentioned by Nayanaṁdi in his Apabhraṁśa Sudaṁsaṇa-cariu composed in Vikrama 1100. Then Nayanaṁdi mentioned by Vasunaṁdi is taken for granted as the author of the above Apabhraṁśa text. He left aside the name of Māṇikyanandi to whom Nayanaṁdi, the author of the above text mentions his direct teacher. The editor did not say a single word about Nemicanda mentioned by Vasunaṁdi but others have taken above Nemicand as the author of Gommaṭa-Sāra[2]. Vasunaṁdi

1. See Hindi Introduction of Vasunandi Śrāvakācāra pp. 19.
2. See Hindi Introduction of Dravyasaṁgraha, by Pt. Kothia, pp. 31.

did not mention Nemicanda as his teacher, as he did mention Srinaṁdi and Mānikyanandi, and their direct pupil Nayanandī and Nemicanda. Vasunaṁdi has mentioned his name in his each work but no where he has used *Siddhānti* as his epithet, where as the epithet is invariably used for the author of Gommaṭasāra. In my view, it will not be justified, without clear evidence (i) to take Sirinaṁdi as Ramanaṁdi, (ii) to identify the author of Apabhraṁśa Sudaṁsaṇa-cariu with Nayanaṁdi mentioned by Vasunaṁdi and (iii) to take above Nemicanda as the author of Gommatasāra. On the contrary Vasunandi seems much earlier then the presumed date 12th centuary for the following reasons:—(i) Vasunandi follows earlier tradition in dealing sāvaya-dhamma, which was commonly accepted in the tradition of Mahāvīra. Uvāsayajjhayaṇa, the seventh of the twelve secred books of the Jainas, is said to deal exclusively with the eleven steps of the householder[3]. At present the available seventh Ardhamāgadhī Āgama Uvāsagadasā narrates the stories of 10 upāsakas of Mahāvīra, who adopt 11 steps of house holder. Dasāśrutaskandha (sixth uddese) furnishes further details of these 11 steps. (ii) Kuṁdakuṁda, Kārtikeya and Devasena followed the tradition in their works. A critical and comparative study of Vasunandi's Uvāsayajjhayaṇa and these works may prove very important for the history of Sāvaya-Dhamma.

16. Taccaviyāro is being published here for the first time in the first volume of the Faculty Journal Saṁkāya-patrikā–Śramaṇa-vidyā, and also independently. The Prakrit text has been edited from a single manuscript preserved in Elaka Pannalal Sarasvati Bhavan, Beaor (Rajsthan). I am thankful to the authorities of the Bhavan for landing me the MSS for some times.

Dr. Prem Suman Jain and his student Nirmala Āchalia deserve my thanks, whose efforts to evaluate the text, inspired me to edit it. I am also thankful to the authorities of Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi to include it as the second volume of Prakrit and Jaina-vidyā Series.

I will be failing in may duty if I do not record my most humble thanks and gratitude to Prof. Jagannath Upadhyay who is a kalyāṇamitra

3. (a) Saṭkhaṇḍāgama, Vol. 1, pp. 102.
   (b) Kaṣāyapāhuda, Vol. 1, pp. 130.

to one and all. Dr. Phool Chandra Jain, my younger Colleague, deserves my thanks and best wishes for helping me in various way.

17. Lastly I hope, some young scholar may undertake such works for critical and comparative study.

Śruta-Pañcamī
1982

—Gokul Chandra Jain
Editor

प्रस्तावना

1. सम्पादन परिचय

'तच्चवियारो' प्राकृत में निबद्ध एक जैन सिद्धान्त ग्रन्थ है। प्रस्तुत संस्करण में इस ग्रन्थ का प्रथम बार प्रकाशन किया जा रहा है। इसके पूर्व इसका प्रकाशन किसी भी लिपि या भाषा में नहीं हुआ।

'तच्चवियारो' की कागज पर लिखी एक पाण्डुलिपि श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, ब्यावर (राजस्थान) में सुरक्षित है। यह प्रतिलिपि किस प्राचीन पाण्डुलिपि से की गयी है, इसकी जानकारी प्रति में नहीं दी गयी है। ब्यावर की यह प्रति प्रस्तुत संस्करण का मूल आधार है।

'तच्चवियारो' की अनेक गाथाएँ प्राकृत के ग्रन्थान्तरों में उपलब्ध हैं, और संयोग से वे ग्रन्थ प्रकाशित भी हैं। इन ग्रन्थों से भी 'तच्चवियारो' की गाथाओं को संशोधित करने में अत्यधिक सहायता मिली है।

2. ग्रन्थपरिचय

'तच्चवियारो' में आठ अपभ्रंश दोहे तथा 287 प्राकृत-गाथाएँ हैं। ग्रन्थ मंगलाचरण के अतिरिक्त विषय के अनुसार 11 प्रकरणों में विभाजित है। प्रत्येक प्रकरण अपने में एक पूर्ण और स्वतन्त्र इकाई है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ संक्षेप में जैनसिद्धान्त–विशेषकर धार्मिक-दार्शनिक अवधारणाओं और उपासक या श्रावक की आचारसंहिता का प्रतिपादन करने वाला एक महत्त्वपूर्ण संग्रह ग्रन्थ है।

नाम—ग्रन्थ के नाम का निर्देश प्रथम तथा 294 पद्य में इस प्रकार किया गया है—

"वोच्छं तच्चवियारं .... ।" (गाथा 1)

"एसो तच्चवियारो .... ।" (गाथा 294)

उक्त दूसरी गाथा में ग्रन्थ के रचयिता का नाम इस प्रकार निर्दिष्ट है—

"वसुनन्दिसूरिरइओ .... ।" (गाथा 294)

उपर्युक्त उल्लेखों से ग्रन्थ का प्राकृत नाम 'तच्चवियारो' अर्थात् तत्त्वविचार तथा इसके रचयिता का नाम वसुनन्दिसूरि स्पष्ट है।

विषयवस्तु, उसकी पृष्ठभूमि और महत्त्व

तच्चवियारो की प्रथम गाथा में विघ्ननिवारक तथा वाञ्छित पद के प्रदाता पार्श्व जिन के चरणों में नमन करके संक्षेप में तत्त्वविचार कहने का उद्देश्य कथन है। दूसरी गाथा में अपार श्रुतसागर में से अल्पमति जीवों को वह अल्प सीखने की सलाह है, जो कार्यकारी हो। आगे की गाथाएँ विषय के अनुसार निम्नलिखित प्रकरणों में विभक्त हैं—

1. णवकारपयरणं।
2. धम्मपयरणं।
3. भावनापयरणं।
4. सम्मत्तपयरणं।
5. पुज्जापयरणं।
6. विनयपयरणं।
7. वेयावच्चपयरणं।
8. सावयट्ठाणपयरणं।
9. जीवदयापयरणं।
10. सावयविहिपयरणं।
11. दाणविहिपयरणं।

इस प्रकार ग्यारह प्रकरणों में, जैनसिद्धान्तों की प्राचीन आगम परम्परा के अनुसार, एक-एक विषय का प्रतिपादन किया गया है। अंतिम दो गाथाओं में ग्रन्थ के नाम, रचयिता तथा ग्रन्थ के पढ़ने, पढ़ाने, उपदेश देने के फल का निर्देश है।

उक्त प्रकरणों में प्रतिपादित विषय वस्तु जैन सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्येताओं के लिए अपरिचित नहीं है। णवकार या णमोकार मन्त्र, धर्म, भावना, सम्यक्त्व, पूजा, विनय, वैय्यावृत्य, श्रावक के ग्यारह स्थान, जीवदया, श्रावकविधि और दान ऐसे विषय हैं, जो व्यक्ति और समाज के अभ्युदय तथा निश्रेयस की सिद्धि के लिए दैनन्दिन जीवन में उपादेय हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए व्यक्तिगत साधना और सामाजिक जीवन की प्रयोगशाला में हजारों-हजार वर्षों से उक्त आदर्शों-अवधारणाओं को जांचा-परखा जाता रहा है। चिन्तकों साधकों और दार्शनिक मनीषियों ने जीवन और तर्क की दुधारी धार पर इन्हें अखण्ड पाया है। प्राकृत की प्राचीन आगम परम्परा से लेकर संस्कृत, अपभ्रंश और अनेक भारतीय जन-भाषाओं—राजस्थानी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल आदि में इन विषयों पर विपुल मात्रा में ग्रन्थ रचना हुई। उस सब का लेखा-जोखा यहाँ अभीष्ट नहीं है। यहाँ आगमों की उस प्राचीन परम्परा का संकेत करना उपयुक्त होगा, जो तच्चवियारो की पृष्ठभूमि है। आचार्य धरसेन के षट्खंडागम तथा गुणधर भट्टारक के कसायपाहुड के बाद उनकी शौरसेनी आगम परम्परा को आचार्य कुन्दकुन्द ने पाहुडों की रचना करके अत्यन्त सशक्त रूप से आगे बढ़ाया, किन्तु जैन

आचार्यों द्वारा संस्कृत को लेखन के माध्यम के रूप में अपना लेने के साथ ही यह परम्परा अविच्छिन्न नहीं रह पायी। यही कारण है कि कुन्दकुन्द के बाद शौरसेनी प्राकृत में बहुत कम ग्रन्थ रखे गये। मूलाचार, भगवती आराधना, तिलोयपण्णत्ति, तिलोयसारो, गोम्मटसार. कत्तिगेयाणुवेक्खा, तथा भावसंगहो आदि ग्रन्थों को संस्कृत तथा देश्य भाषाओं की तुलना में देखा जाये तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि शौरसेनी की आगम परम्परा की प्राकृत मूलधारा आगे चलकर अनेक धाराओं में प्रवाहित होने लगी और मूलधारा का जैसे स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह गया। इस संदर्भ में वसुनन्दि जैसे कतिपय आचार्यों का कार्य ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। वसुनन्दि ने तत्त्वविचार में जो विषय संकलित किये हैं, वे विषय तथा उनका प्रतिपाद्य सीधा शौरसेनी आगम परम्परा से जुड़ता है। वसुनन्दि के दूसरे ग्रन्थ उवासयज्झयण[1] को देखने से यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

सम्यक्त्व जैन आचार की दार्शनिक आधारशिला है, जिसपर श्रावक और साधु की आचारसंहिता का महाप्रासाद निर्मित होता है। सम्यक्त्व के अभाव में चरित्र सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता है। इसलिए आचारग्रन्थों में सर्वप्रथम सम्यक्त्व का निरूपण किया गया है। वसुनन्दि ने भी श्रावक के आचार का प्रतिपादन करने के पूर्व सम्यक्त्व का निरूपण किया है। उसके बाद श्रावकाचार का निरूपण किया है। श्रावकाचार का निरूपण भी प्राचीन आगम परम्परा के ही अनुसार किया है। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का संकलन जिस द्वादशांग श्रुत में किया गया था, उसमें सातवें अंग को उवासयज्झयण कहा गया है। आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम[2] की धवला टीका में इस अंग का परिचय निम्न प्रकार दिया है—

"उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारसलक्खसत्तरिसहस्सपदेहिं 1170000—

दंसण-वद-समाइय-पोसइ-सच्चित्त-राइभत्ते य।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरदी य॥

इदि एक्कारसविहउवासगाणं लक्खणं तेसिं च वदारोपणविहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि।"

—षट्खंडागम धवलाटीका भाग 1, पृ० 103।

कसायपाहुड[3] की जयधवला टीका में भी उवासयज्झयण में उक्त ग्यारह प्रकार के श्रावक धर्म का उल्लेख बताया गया है।

---

१. वसुनन्दिश्रावकाचार नाम से भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा सन् 1952 में प्रकाशित।
2. षट्खंडागमः, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, द्वि० सं० 1973।
3. कसायपाहुड भाग, पृ० 130, जैन संघ चौरासी, मथुरा।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चरितपाहुड (गाथा 21-26) में इन्हीं ग्यारह श्रावक स्थानों का उल्लेख करके श्रावकाचार का कथन किया है।

कुन्दकुन्द के बाद स्वामी कार्तिकेय की अनुप्रेक्षा तथा देवसेन के भावसंग्रह में ठीक इसी क्रम से उपासकाचार का वर्णन है।

वसुनन्दि का उवासयाज्झयण उक्त परम्परा के अनुसार ही सम्यक्त्व तथा श्रावक के ग्यारह स्थानों का विवेचन करता है। तच्चवियारो का प्रतिपादन ठीक इसी प्रकार का है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का एक विशिष्ट महत्त्व है।

वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगम उवासगदसाओ[४] में तीर्थंकर महावीर के १० प्रमुख उपासकों की कथाएँ हैं। ये उपासक उपर्युक्त ११ श्रावकस्थानों, जिन्हें प्रतिमा कहा गया है, का पालन करते हैं।

तच्चवियारो की एक सौ से अधिक गाथाएँ वसुनन्दि के उवासयज्झयण में लगभग ज्यों की त्यों उपलब्ध हैं। धर्म प्रकरण की गाथाएँ कत्तिगेयाणुवेक्खा की धर्मानुप्रेक्षा के अन्तर्गत विद्यमान हैं। देवसेन के भावसंग्रह में भी कई गाथाएँ समानरूप से प्राप्त हैं। जीवदया प्रकरण तथा लघुनवकारफल आदि की भी कतिपय गाथाओं से समानता है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वसुनन्दि को जो परम्परागत आगमिक गाथा सुत्त उपलब्ध हुए, उनमें से उन्होंने श्रावक के लिए विशेष महत्त्व के उपयोगी गाथा सुत्तों का एक संक्षिप्त संकलन निबद्ध कर दिया।

प्राचीन श्रुत परम्परा से चले आ रहे गाथा सुत्त संकलित करके निबद्ध करने का कार्य आचार्य धरसेन के समय से ही प्रारंभ हो गया था। कुन्दकुन्द के पाहुड सुत्त ग्रन्थों में कितने पारम्परिक गाथा सुत्त हैं और कितने उनके द्वारा स्वरचित, इनका अनुसन्धान एक ऐतिहासिक गवेषणा का विषय है। मूलाचार और भगवती आराधना तथा अर्द्धमागधी आगम और आगमिक ग्रन्थों में समान रूप से उपलब्ध होने वाले गाथा सुत्त इस बात को पुष्ट करते हैं कि तीर्थंकर महावीर के बाद श्रुत परम्परा से जो गाथा सुत्त मौखिक चले आ रहे थे, उनमें से अनेक शौरसेनी और अर्द्धमागधी दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में समान रूप से शब्दान्तर के साथ संकलित हुए। आगे चलकर उनके रूपान्तर-अर्थान्तर भी किये गये। बाद में शौरसेनी आगम परम्परा में इस प्रकार के संकलन का सबसे बड़ा कार्य

४. उवासगदसाओ, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०।
५. मूलाचार, मा० च० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७।
६. भगवती आराधना, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, दिल्ली १९७८।

नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती ने तिलोयसारो[७], पंचसंगहो[८], गोम्मटसारो[९] लद्धि-खपणासारो आदि विशालकाय ग्रन्थ रचकर किया। परिमाण की दृष्टि से विशाल न होने पर भी स्वामी कार्तिकेय का अनुप्रेक्षा[१०] ग्रन्थ तथा देवसेन का भावसंग्रह अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। वसुनन्दि के उवासयज्झयन तथा तच्चवियारो का मूल्यांकन इसी संदर्भ में किया जाना चाहिए। शौरसेनी आगमिक परम्परा के प्रति सचेष्ट और प्रयत्नशील वसुनन्दि ने उवासयज्झयण और तच्चवियारो के द्वारा इस आगमिक परम्परा में एक नयी कड़ी को जोड़ा और उपासकों तक प्राचीन आगमिक मूल्यों को प्रसारित कर एक सच्चे उपाध्याय परमेष्ठी के कर्तव्य का पूरे दायित्व के साथ निर्वाह किया।

3. ग्रन्थकार

i) तच्चवियारो की २९४ वीं गाथा में इसे वसुनन्दिसूरिरचित कहा गया है। ग्रन्थ की विषयवस्तु और उसकी पृष्ठभूमि को देखते हुए, इसे वसुनन्दि द्वारा रचित या दूसरे शब्दों में उनके द्वारा निबद्ध या संकलित मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

ii) यह वसुनन्दि उवासयज्झयण के रचयिता से अभिन्न हैं, इसे मानने में भी कोई बाधक कारण नहीं है।

iii) मूलाचारवृत्ति, देवागमवृत्ति तथा स्तुतिविद्या या जिनशतक की वृत्ति के रचयिता एक ही वसुनन्दि हैं तथा वे पूर्वोक्त दो ग्रन्थों के रचयिता से भिन्न नहीं हैं।

iv) वसुनन्दि जैन आगमों की प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के पक्षधर थे। उक्त आधार-विन्दुओं को दृष्टिगत रखकर वसुनन्दि के समय और उनके अवदान पर विचार करना होगा।

v) तच्चवियारो में वसुनन्दि ने नाम निर्देश के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्तिगत जानकारी नहीं दी।

vi) मूलाचार वृत्ति के अन्त में निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

"वृत्तिः सर्वार्थसिद्धिः सकलगुणनिधिः सूक्ष्मभावानुवृत्ति-
राचारस्यात्तनीतेः परमजिनपतेः ख्यातनिर्देशवृत्तेः।
शुद्धैर्वर्यैः सुसिद्धा कलिमलमथनी कार्यसिद्धिर्मुनीनां
स्थेयाज्जैनेन्द्रमार्गे चिरतरमवनौ वासुनन्दी शुभा वः॥"

---

७. त्रिलोकसार, मा० च० ग्रन्थमाला, बम्बई वी० नि० सं० २४४४।

८. पंचसंग्रह, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६०।

९. गोम्मटसार, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् १९८०-८१।

१०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास, सन् १९६०।

vii) देवागमवृत्ति के अन्त में वसुनन्दि ने लिखा है—

"श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य त्रिभुवनलब्धजयपताकस्य प्रमाणनयचक्षुषः स्याद्वाद-शरीरस्य देवागमाख्यकृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनात्मोपकाराय ।

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पने । समन्तभद्रदेवाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥
सुखाय जायते लोके वसुनन्दिसमागमः । तस्मान्निसेव्यतां भव्यैर्वसुनन्दिसमागमः ॥
इति वसुनन्द्याचार्यकृता देवागमवृत्तिः समाप्ता ॥"[११]

viii) स्तुतिविद्या या जिनशतक की वृत्ति के प्रारम्भ (श्लोक ६) में वसुनन्दि ने अपने नाम का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।
तद्वृत्तिं येन जाड्ये तु कुरुते वसुनन्द्यपि ॥"[१२]

उपर्युक्त सन्दर्भों से वसुनन्दि के वैदुष्य और सरल स्वभाव का पता चलता है, किन्तु व्यक्तिगत जीवन के विषय में अन्य जानकारी नहीं मिलती । देवागमवृत्ति के अन्य सन्दर्भों से जो तथ्य सामने आते हैं, उनके विषय में आगे चर्चा करेंगे ।

vix) वसुनन्दि ने उवासयज्झयण के अन्त में जो प्रशस्ति दी है, उसमें कहा है कि स्वसमय और परसमय के ज्ञाता कुन्दकुन्द की परम्परा में श्रीनन्दि हुए, जिनके शिष्य नयनन्दि नामक मुनि हुए । उनके शिष्य नेमिचन्द हुए । उनके प्रसाद से उवासयज्झयण रचा गया । प्रशस्ति का सम्बद्ध अंश निम्नप्रकार है ।

"आसी ससमयपरसमयविदू सिरिकुंदकुंदसंताणे ।
भव्वयणकुमुयवणसिसिरयरो सिरिणंदिणामेण ॥५४०॥
सिस्सो तस्स........संजाओ णयणंदिणाममुणिणो ॥५४२॥
सिस्सो तस्स..........................णेमिचन्दु त्ति ॥५४३॥
तस्स पसाएण मया आइरियपरंपरागयं सत्थं ।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं ॥५४४॥"[१३]

णयणंदि द्वारा रचित अपभ्रंश सुदंसणचरिउ की प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ को धारा नरेश भोजदेव के समय वि० संवत् ११०० में रचा गया बताया है तथा अपने

---

११. समन्तभद्रग्रन्थावलि, देवागम पुष्पिका वाक्य ।
१२. स्तुतिविद्या, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली, सन् १९५० ।
१३. वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२ ।

को माणिक्कणंदी का प्रथम शिष्य बताया है। दादागुरु का नाम रामणंदी तथा उनके गुरु का नाम विसहणंदी लिखा है।[१४]

वसुनन्दि श्रावकाचार के सम्पादक ने वसुनन्दि द्वारा उल्लिखित श्रीनन्दि को रामनन्दि मान लेने का विचार व्यक्त किया है और नयनन्दि को वसुनन्दि का दादागुरु मानकर वसुनन्दि का समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध अनुमानित किया है।[१५] समय निर्धारण के लिए उन्होंने कल्पना और अनुमान के अतिरिक्त कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये।

अब तक जितनी जानकारी प्रकाश में आ चुकी है उसके आधार पर वसुनन्दि का समय १२ वीं शती से पर्याप्त पहले होना चाहिए। इस सन्दर्भ में विचारणीय तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) वसुनन्दि ने णयणन्दि को श्रीनन्दि का शिष्य बताया है। जबकि स्वयं नयनन्दि अपने को माणिक्यनन्दि का प्रथम शिष्य लिखते हैं।[१६] ऐसी स्थिति में मात्र नाम की समानता के कारण वसुनन्दि द्वारा उल्लिखित णयनन्दि को सुदंसणचरिउ का रचयिता मान लेना उपयुक्त नहीं है।

(२) वसुनन्दि ने नेमिचन्द को णयनन्दि का शिष्य कहा है। गोम्मटसार के रचयिता नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती ने णयणंदि का कहीं अपने गुरु रूप से स्मरण नहीं किया। अन्य किसी प्रमाण से भी इस बात की जानकारी नहीं मिलती कि णयणंदि नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती के गुरु थे। इस तरह यह मान लेने का कोई आधार नहीं है कि वसुनन्दि द्वारा उल्लिखित नेमिचन्द और गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती दोनों एक ही व्यक्ति थे।

इस प्रकार वसुनन्दि के समय के विषय में आधार रहित अनुमान पर चली आ रही धारणा से मुक्त होकर उपलब्ध साक्ष्यों पर विचार करना होगा।

(३) वसुनन्दि ने समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र पर देवागमवृत्ति लिखी है। देवागम पर भट्ट अकलंक ने आप्तमीमांसा भाष्य तथा विद्यानन्द ने आप्तमीमांसालंकृति नामक टीकाएँ लिखीं। विद्यानन्द ने अपनी टीका में अकलंक के भाष्य को सम्पूर्ण रूप से समाहित कर लिया है।

---

१४. सुदंसणचरिउ, इन्स्टीटयूट ऑव प्राकृत, जैनोलॉजी एण्ड अहिंसा, वैशाली, सन् १९७०।

१५. वसुनन्दि श्रावकाचार, प्रस्तावना पृ० १९।

१६. सुदंसणचरिउ प्रशस्ति।

वसुनन्दि कृत देवागमवृत्ति में समन्तभद्रकृत देवागमस्तोत्र की ११४ कारिकाओं के साथ निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

"जयति जयति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥"

वसुनन्दि ने अन्य कारिकाओं की तरह इस पद्य पर भी वृत्ति लिखी है। अकलंक ने इस पद्य पर भाष्य नहीं लिखा। विद्यानन्द ने इस पद्य को अपनी आप्तमीमांसालंकृति में उद्धत करते हुए कहा है—

"अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यन्ते ।"

दक्षिण भारत में ताड़पत्रों पर उत्कीर्ण आप्तमीमांसा या देवागम की जितनी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, उन सभी में यह पद्य पाया जाता है। यह वहाँ की पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण करते समय मैंने स्वयं पाया।

इस विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अकलंक देव के समय तक देवागम में यह पद्य नहीं था। यह भी हो सकता है कि आप्तमीमांसा भाष्य लिखते समय अकलंक को जो प्रति उपलब्ध थी, उसमें यह पद्य नहीं था। अभी भी उत्तर भारत में कागज पर लिखी हुई देवागमस्तोत्र की जितनी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, उनमें यह पद्य नहीं है।

विद्यानन्द के समय यह पद्य देवागम में सम्मिलित हो चुका था, इसलिए आप्तमीमांसालंकृति में उन्होंने इसका समावेश किया।

इससे यह विचारणीय हो सकता है कि वसुनन्दि का समय अकलंक (विक्रम की ७वीं शती) के बाद और विद्यानन्द से पूर्व माना जाये।

(४) वसुनन्दि नन्दिसंघ के आचार्य थे। नन्दिसंघ कुन्दकुन्द के मूलसंघ की एक महत्त्वपूर्ण शाखा थी। श्रवणवेलगोल के विन्ध्यगिरि नामक पर्वत पर सिद्धरवस्ती में उत्तर की ओर एक पाषाण स्तंभ पर शक सं० १३२० का विस्तृत लेख उत्कीर्ण है। इसमें भगवान् महावीर से लेकर गणधर, श्रुतकेवली तथा आचार्यों की परम्परा विस्तार से दी गयी है। इसमें अर्हद्बलिद्वारा मूल संघ को देश भेद से चार संघों—सेन,

---

१७. समन्तभद्रग्रन्थावलि, डॉ० गोकुलचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित।

१८. अष्टसहस्री पृ० २९४, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१५।

नन्दि. त्रिदिवेश और सिंह संघ के रूप में चार भागों में विभक्त करने की बात कही गयी है। इसमें नन्दि नामान्त आचार्यों में विद्यानन्दि, दामनन्दि, इन्द्रनन्दि, पद्मनन्दि, अमरनन्दि, वसुनन्दि, गुणनन्दि और माणिक्यनन्दि के नाम आये हैं। इनमें विद्यानन्दि का नाम सर्वप्रथम है। उसके बाद चार अन्य आचार्यों के नाम के बाद वसुनन्दि का उल्लेख है। यहाँ श्रीनन्दि, रामनन्दि, नयनन्दि आदि का उल्लेख नहीं है।

श्रवणवेलगोल के शक संवत् १०४७ के लेख क्रमांक ४९३ में श्रीनन्दि आचार्य का उल्लेख है, किन्तु उनके बाद सिंहनन्दि के अतिरिक्त अन्य नन्दिनामान्त किसी आचार्य का उल्लेख नहीं है।

(५) वसुनन्दि के उवासयाज्झयण तथा तच्चवियारो की प्राकृत गाथाओं में से कितनी परम्परागत हैं और उसका प्राचीन स्रोत क्या है, यह कहना कठिन है, किन्तु यह असंदिग्ध है कि वसुनन्दि प्राचीन शौरसेनी आगम परम्परा को मानते हैं। ऊपर उवासक के ग्यारह स्थानों की चर्चा करते हुए धवला टीका में वीरसेन द्वारा तथा कुन्दकुन्द, कार्तिकेय और देवसेन द्वारा निर्दिष्ट ग्यारह स्थानों का सन्दर्भ दिया गया है। वीरसेन ने धवला टीका में उक्तं च कहकर निम्नांकित दो गाथाएँ दी हैं—

"दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते।
णव केवलल्द्धीओ दंसण-णाणं चरित्ते य॥"

—षट्खण्डागम धवलाटीका १. १. १. पृ० ६५।

"देसकुलजाइसुद्धो सोमंगो संग-भंग उम्मुक्को।
गयणव्व णिरुवलेवो आइरियो ऐरिसो होई॥"

—वही, पृ० ५०।

उक्त दोनों गाथाएँ वसुनन्दि के उवासयज्झयण में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त तीन अन्य गाथाएँ भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार पाँच गाथाएँ उपलब्ध हैं।[२०]

वसुनन्दि का समय निर्धारण उपर्युक्त सभी सन्दर्भों के आलोक में किया जाना चाहिए।

ऊपर लिखा गया है कि वसुनन्दि द्वारा रचित प्राकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त मूलाचार, आप्तमीमांसा तथा जिनशतक पर लिखित संस्कृत वृत्ति और प्रतिष्ठासार-संग्रह वसुनन्दि कृत माने जाते हैं। तीनों ग्रन्थों की संस्कृत वृत्ति समानान्तर रखकर सूक्ष्मता से परखने पर

१९. जैन शिलालेख संग्रह भाग १, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् १९२८।

२०. षट्खण्डागम धवलाटीका गाथा ३०, ५८, ७४, १६७, १६८।

उनमें एकरूपता का ठीक वैसा ही दर्शन होता है, जैसा उवासयाज्झयण और तच्चवियारो में। सभी ग्रन्थों को एक शृंखला में रखकर देखने से यह भी ज्ञात होता है कि वसुनन्दि के सम्पूर्ण प्रयत्न समाज को पारम्परिक धार्मिक और दार्शनिक आदर्शों का सम्यग्ज्ञान कराने और सामाजिक जीवन को सुसंस्कृत बनाने की दिशा में थे। सच्चे अर्थों में वे उपाध्याय परमेष्ठी थे। ज्ञान के अहंकार से मुक्त रहकर शब्दाडम्बर रहित सरल तथा सहज ग्राह्य भाषा और शैली में शास्त्रीय चिन्तन को जन मानस तक पहुँचाना ही उन्हें अभीष्ट था। अपने इस कार्य में वसुनन्दि को अद्भुत् सफलता मिली, यह उनकी रचनाओं से प्रमाणित है।

4. तच्चवियारो की भाषा

प्राकृत भाषा की दृष्टि से भी तच्चवियारो महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रायः शौरसेनी प्राकृत व्यवहृत है, किन्तु अर्धमागधी का भी प्रयोग है। पिशेल ने जैन आचार्यों के ग्रन्थों की भाषा में उक्त सम्मिश्रण को दृष्टिगत रखकर उसे जैन शौरसेनी नाम दिया है। तच्चवियारो की भाषा का भी यही रूप है। पारम्परिक गाथाओं का संकलन होने के कारण यह और अधिक स्वाभाविक था।

यह होते हुए भी तच्चवियारो में शब्दों और धातुओं के विविध रूप उपलब्ध होते हैं, जो प्राकृत भाषा के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं।

इसके अतिरिक्त अपभ्रंश के जो आठ दोहे उपलब्ध हैं, उनसे अपभ्रंश के भाषागठन और उसके उत्कृष्ट साहित्यिक स्वरूप का पता चलता है।

5. अन्तर्शास्त्रीय अध्ययन की संभावनाएँ

प्राकृत और जैनविद्या के सन्दर्भ में 'तच्चवियारो' का अनुशीलन करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। अनुसन्धाताओं का ध्यान कुछेक बातों की ओर अब विशेष रूप से आकृष्ट होना चाहिए।

i) उदाहरणार्थ महावीर के उपदेशों की परम्परा को लें। जैन परम्परा की दोनों प्रमुख धाराओं—दिगम्बर और श्वेताम्बर, के प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थों में अनेक गाथाएँ समान रूप से उपलब्ध होती हैं। देश, काल के अनुसार उनमें शब्दान्तर भी हुए हैं और आगे चलकर टीकाकारों ने उनके अर्थान्तर भी किये हैं, पर इसके बाद भी उनमें अनुस्यूत सैद्धान्तिक चिन्तन का सूत्र अब भी सुरक्षित है, जो उन्हें सीधे वर्द्धमान महावीर के उपदेशों की श्रुत परम्मरा से जोड़ता है। सावधानी से अन्वेषण करने पर आगे संस्कृत और देश्य भाषाओं में लिखे गये सिद्धान्त ग्रन्थों में भी यह सूत्र अनुस्यूत दिखाई दे जाता है। उन अनुसन्धाताओं के लिए यह कार्य

और अधिक महत्त्व का सिद्ध होगा जो अनुसन्धान के क्षेत्र में किसी परम्परा से आबद्ध नहीं हैं तथा अठारह देश्य भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी अर्धमागधी में दिये गये महावीर के उपदेशों की तात्त्विक गवेषणा में गहरे पैठना चाहते हैं।

ii) दूसरी बात यह कि आचार विषयक सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन अब मात्र धार्मिक परिसीमा में न होकर समाजवैज्ञानिक सन्दर्भों में किया जाना चाहिए। जैन परम्परा में उपासक या श्रावक के लिए आचार संहिता का निर्देश करने वाले जो भी ग्रन्थ लिखे गए, उनके आधार पर व्यक्ति और समाज के लिए नियम और उपनियमों की धाराओं का एक विशिष्ट दस्तावेज तैयार किया जा सकता है और उनका उल्लंघन करने वाले के लिए दण्ड संहिता का एक व्यवस्थित संविधान प्रस्तुत हो सकता है। उपासक या श्रावक साधु संस्था का भी उस हद तक नियामक था और अब भी है, जहाँ तक साधु एक सामाजिक इकाई के रूप में है। इसलिए मुनि या साधु के आचार का प्रतिपादन करने वाले सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार पर मुनि की आचारसहिता का सुव्यवस्थित संविधान निर्मित करना भी कठिन नहीं होगा।

iii) जैन आचार्यों द्वारा संयोजित, संकलित और लिखित आचार विषयक सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुशीलन से एक यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर होता है कि आचार्य एक ओर परम्परागत मूल्यों के संरक्षण के प्रति सावधान है, दूसरी ओर देश, काल और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार नियमों और उपनियमों की मौलिक व्याख्या भी प्रस्तुत करता है तथा नयी धारायें भी निर्मित करता है। व्यक्ति और समाज के अभ्युदय के लिए साधनों की पवित्रता का जो दर्शन उसे पूर्वाचार्य परम्परा से प्राप्त है, वह उसको नयी व्याख्या देने और नयी धाराओं को निर्मित करने में मार्गदर्शन करता है। इस सन्दर्भ में एक ही परम्परा के आचार विषयक ग्रन्थों में निर्दिष्ट नियमों और उपनियमों को सतही तौर पर देखने से उनमें अन्तर्विरोध दिखाई देता है, किन्तु सावधानी से उस अन्तर का अनुशीलन करने पर उसका समाधान प्राप्त हो जाता है और उक्त तथ्य उजागर होता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वर्द्धमान महावीर ने या उसके पूर्व पार्श्व ने अथवा उससे बहुत पहले ऋषभदेव ने जो आचार संहिता दी, वही ईसा की बीसवीं शती के उत्तरार्ध में चल रही है, या चलना चाहिए, ऐसा कहना चिन्तक और अनुसन्धाता दोनों के क्षेत्र में नहीं आता। समाजवैज्ञानिक इसे आचारसंहिता के विकास क्रम के सन्दर्भ में जाँचे-परखेगा।

उपर्युक्त दृष्टियों से तच्चवियारो का एक विशिष्ट महत्त्व है। वसुनन्दि ने यह एक ऐसी सरल और संक्षिप्त "मेनुअल ऑव ला" प्रस्तुत कर दी जो समाज के हर व्यक्ति को मौखिक याद रहना चाहिए। प्रथम चार प्रकरण व्यक्ति के भीतर सीधे झाँकते हैं, और आगे के सात प्रकरण उसके सामाजिक आचारण-व्यवहार में प्रतिविम्बित होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रथम चार व्यक्ति का आध्यात्मिक धरातल निर्मित करते हैं, और आगे के सात उस पर व्यक्ति के सामाजिक जीवन का भव्य प्रासाद निर्मित करते हैं।

प्रस्तुत संस्करण

तच्चवियारो का प्रस्तुत संस्करण कई दृष्टियों से अपना विशेष महत्त्व रखता है। सबसे प्रमुख बात तो यही है कि प्राकृत का एक नया ग्रन्थ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। इस संग्रह ग्रन्थ के प्रकाशन से वसुनन्दि के अध्ययन की नयी संभावनाएँ मुखरित होती हैं। वसुनन्दि के समय के विषय में जो प्रश्न उठाये गये हैं, भविष्य में उनके समाधान खोजने के प्रयत्न होना चाहिए। तच्चवियारो जैसे संक्षिप्त संग्रह ग्रन्थ पठन-पाठन की दृष्टि से विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। भविष्य के पाठ्यक्रमों में ऐसे ग्रन्थों का समावेश किया जाना चाहिए।

प्राचीन वाङ्मय के अप्रकाशित ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन की शृंखला में सत्यशासन-परीक्षा, कर्मप्रकृति, प्रमेयकण्ठिका, परमागमसारो के बाद एक और नयी कड़ी जोड़ने का यह मेरा विनम्र प्रयत्न है। ज्ञान का क्षेत्र अपार है। मुझे अपनी सीमाओं का परिज्ञान है। ऐसे में त्रुटियाँ सहज सम्भाव्य हैं। विद्वज्जगत ने जिस प्रकार मेरे पूर्व ग्रन्थों को सराहा, यदि ऐसा कुछ इस कृति का सौभाग्य हुआ तो मैं अपने प्रयत्नों को सार्थक मानूंगा।

प्रस्तुत कृति के सम्पादन में अनेक स्नेहीजनों का सहयोग और प्रेरणा रही है। इसके प्रकाशन से डॉ० प्रेमसुमन जैन उदयपुर, प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, डॉ० फूलचन्द्र जैन को इस बात का विशेष संतोष होगा कि उनकी अनुज्ञा और सस्नेह आग्रह का पालन हो गया। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के अधिकारियों ने इसका प्रकाशन करके प्राच्यविद्या के कार्य को आगे बढ़ाया है। मैं सभी का हृदय से आभारी हूँ।

गोकुलचन्द्र जैन
अध्यक्ष
प्राकृत एवं जैनागम विभाग

वाराणसी

वसुनंदिसूरिरइयो

तच्चवियारो

विसयानुक्कमो

	मंगलायरणं			गाहा 1
1.	णवकारपयरणं	....	...	3-28
2.	धम्मपयरणं	....	....	29-41
3.	भावनापयरणं	....	....	42-70
4.	सम्मत्तपयरणं	....	...	71-91
5.	पुज्जापयरणं	....	....	92-112
6.	विणयपयरणं	....	....	113-128
7.	वेयावच्चपयरणं	....	....	129-142
8.	सावयट्ठाणपयरणं	....	....	143-195
9.	जीवदयापयरणं	....	....	196-217
10.	सावयविहिपयरणं	....	....	218-234
11.	दाणविहिपयरणं	....	....	235-292
	अंतमंगलं	....	....	293
	गंथपसत्थि	....	....	294-295

———

मंगलायरणं

1) णमियं जिणपासपयं विग्घहरं पणय वंछियत्थपयं ।
बोच्छं तच्चवियारं संखेवेणं निसामेह ॥

2) सुयसायरो अपारो आकुंथोव्वं वयं च दुम्मेहा ।
तं किंपि सिक्खियव्वं जं कज्जकरं च थोवं च ॥

1. णवकारपयरणं

3) घणघाइकम्ममुक्का अरहंता तह य सव्व सिद्धा य ।
आइरिया उवज्झाया पवरा य तह य सव्व साहू य ॥

4) एयाण णमोयारो पंचण्हं पवरलक्खणधराणं ।
भवियाण होइ सरणं संसारे संसरंताणं ॥ [जुगवं]

5) उड्ढमहोतिरियम्मि य जिणणवकारो पहाणओ णवरं ।
णरसुरसिवसुक्खाणं कारणं इत्थ भुवणम्मि ॥

6) तेण इमो णिच्चम्मि य पढिज्जइ सुत्तुट्ठिएहिं अणवरयं ।
होहंचि य दुहदलणो सुहजणओ भवियलोयस्स ॥

7) एगो वि णमोयारो जेण कओ भत्तिणिब्भरमणेण ।
खविऊण कम्मरासी पत्ता मुक्खफलं ते वि ॥

8) जाए वि जो पढिज्जइ जेण विजायस्स होइ फलरिद्धि ।
अवसाणं हि पढिज्जइ जेण मओ सुग्गइं जाइ ॥

9) आवइहिं पि पढिज्जइ जेण लंघेइ आवइसयाइं ।
रिद्धिहिं पि पढिज्जइ जेण वि सा जाइ वित्थारं ॥

10) नरसिरि हुंति सिराणं विज्जाहरणेइ सुरवरिन्दाणं ।
जाण इमो णवकारो सा सुव्वए इट्ठिओ कंठे ॥

11) तह अहिणा दट्ठाणं गारुडमंतो विसं पणासेइ ।
तह णवकारो मंतो पावविसं णासये असेसं ॥

12) किं एस महारयणं किं वा चिंतामणिव्व णवकारो ।
कप्पदुमसरिसा ण हु ण हु ताण वि अहिययरो ॥

13) चिंतामणिरयणाइ कप्पतरु एगजम्मसुहहेउ ।
णवयारो पुणु पवरो सग्गपवग्गाण दायारो ॥

14) जं किंचि परमतत्तं परमप्पयकारणं पि जं किंपि ।
तत्थ इमो णवयारो झाइज्जइ परमजोइहिं ॥

15) जो गुणइ लक्खमेगं पूइविही जिणणमोक्कारं ।
तित्थयरनामगोत्तं सो बंधइ णत्थि संदेहो ॥

16) सट्ठिसयं विजयाणं पवराणं जत्थ सासओ कालो ।
तत्थ वि जिणणवकारो एसो वि पढिज्जए णवरं ॥

17) ऐरावएहिं पंचहि पंचहि भरहेहिं सुच्चय पेठंति ।
जिणणवकारो एसो सासयसिवसुक्खदायारो ॥

18) जेण मरंतेण इमो णवकारो पाविओ कयत्थेण ।
सो देवलोए गंतु परमपयं तं च पावेइ ॥

19) एसो अणाइकालो अणाइजीवो अणाइजिणधम्मो ।
तइआ वि ते पढंता एसोच्चिय जिणणमोक्कारो ॥

20) जे के वि गया मोक्खं गच्छंति य जे केइ कम्ममलमुक्का ।
ते सव्वं वि य जाणसु जिणणवकारप्पभावेण ॥

21) इह एसो णवकारो भणिओ सुरसिद्धखयरपमुहेहिं ।
जो पढइ भत्तिजुत्तो सो पावइ सासयं ठाणं ॥

22) अडविगिरिरलमज्झे भयं पणासेइ चिंतिउं संतो ।
रक्खइ भवियसयाइं माया जह पुत्तडिंभाइं ॥

23) थंभेइ जलं जलणं चिंतियमेत्तो य पंच णवकारो ।
अरिमारिचोरराउलघोरुवसग्गं पणासेइ ॥

24) ण य किंचि तस्स पहवइ डाइणिवेयालरक्खमारिभयं ।
णवकारपभावेण णासंति सयलदुरियाइं ॥

25) वाहिजलजलणतक्करहरिकरिसंगामविसहरभयाइं ।
णासंति तक्खणेण जिणणवकारप्पभावेण ॥

26) हियएगुहाये णवकारकेसरी जाण संढिओ णिच्चं ।
कम्मट्ठगंठिओ वड्ढव्वयं ताण पण्णट्ठं ॥

27) तवसंजमणियमरहो पंचणमोकारसारहिणिउत्तो ।
णाणतुरंगमजुत्तो णेइ फुडं परमणिव्वाणं ॥

28) जिणसासणस्स सारो चउदसपुव्वाण जो समुद्धारो ।
जस्स मणे णवकारो संसारो तस्स किं कुणइ ॥

इदि णवकारपयरणं ।

2. धम्मपयरणं

29) कोहेण जो ण तप्पदि सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खमा णिम्मला होइ ॥

30) उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि ।
अप्पाणं जो हीयदि मद्दवरयणं हवे तस्स ॥

31) जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपए वंकं ।
ण वि गोवदि णियदोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥

32) समसंतोसजलेणं जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं ।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥

2. cf. कत्ति० गा० 394-405.

33) जिण वयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
ववहारेण वि अलियं जो ण चवइ सच्चवाई सो ॥

34) जो जीवरक्खणपरो गमणागमणाइ सव्वकज्जेसु।
तिणछेयं पि ण इच्छदि संजमभावो हवे तस्स ॥

35) इहपरलोयसुहाणं णिरविक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स ॥

36) चइऊण मिट्ठभोजं उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसति य ममत्तहेदुं चाय गुणो सो हवे तस्स ॥

37) तिविहं च जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं।
लोयववहारविरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स ॥

38) जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पेक्खये रूवं।
कामकहाइणिवित्तो णव विह बंभं हवे तस्स ॥

39) जो णवि जादि वियारं तरुणीणयणकडक्खवाणविद्धो वि।
सो चेव सूरसूरो रणसूरो ण हवे सूरो ॥

40) नयणाण मोकलाणं खणिखणि जोवंति परकलत्ताणं।
गलइ सुसंचियधम्मं जलभरियं तस्स जज्जरियं ॥

41) एसो दहप्पयारो धम्मो दहलक्खणो हवे णियमा।
अण्णो ण हवइ धम्मो हिंसासुहमा वि जत्थत्थि ॥

इदि धम्मपयरणं।

3. भावनापयरणं

42) संसारम्मि असारे णत्थि सुहं वाहिवेयणापउरे।
जाणंतो य हु जीवो ण कुणइ जिणदेसियं धम्मं ॥

43) अथिरं जीवं रिद्धी चंचलजुव्वणं पि घणसरिसं ।
पचक्खं पिक्खंतो तह वि हु वंचिज्जए जीवो ॥

44) घरवासे वामूढो अच्छइ आसासयाइं चिंतंतं ।
तो ण कुणइ परत्तहियं जो ण हओ मच्चुसीहेण ॥

45) वाही इट्ठविओगो दारिद्दं तह जरा महादुक्खं ।
एएहिं परिग्गहिओ तइ वि हु धम्मं ण किं करइ ॥

46) लहिऊण माणुसत्तं कह वि अइदुल्लहं पि रे जीव ।
लग्गसु जिणवरधम्मे अचिंतचिंतामणीकप्पे ॥

47) जीव तुमं णवमासे वसिओ असुहम्मि गब्भमज्झम्मि ।
संकोडियंगवंगो विसहंतो णारयं दुक्खं ॥

48) रे जीव संपयं चिय वीसरियं तुब्भ तं महादुक्खं ।
थोवं पि जे ण कुणहसि जिणंदवरदेसियं धम्मं ॥

49) जं मारेसि रसंते जीवा रे जीव णिरवराहे व ।
उवभुंजसि तं दुक्खं पत्तो अइदारुणे णरए ॥

50) जं हरसि परधणाइं जं च वियारेसि परकलत्ताइं ।
तं जीव पाव णरए अइघोरे सहसि दुक्खाइं ॥

51) अथिराण चंचलाण य खणमित्तसुहंकराण पावाणं ।
दुग्गइ णिबंधणाणं विरमसु एयाण भोयाणं ॥

52) कोहो माणो माया लोहो तहेव पंचमो मोहो ।
एए णिज्जरिऊणं वच्चसि अजरामरं ठाणं ॥

53) इय णाऊण असारे संसारे दुल्लहं पि मणुयत्तं ।
तह करि जिणवरधम्मं जह सिद्धं पावए अजरा ॥

---

53. cf. जी० प्र० गा० 85.

54) रे जीव पावणिग्घिण दुलहं लहिऊण माणुसं जम्मं ।
जो ण कुणसि जिणधम्मं हा पच्छा तं विसूरिहसि ॥

55) जो ण कयं अण्णभवे धम्मं रे जीव सुंदरं विमलं ।
अणुहवसि ताइं पुरुआ दुक्खाइं अणंतसंसारे ॥

56) ण परो करेइ दुक्खं णेव सुहं कोइ कस्सइ वेह ।
जं पुग सुचरिय दुचरिय परिणवइ पुराकयं कम्मं ॥

57) जइ पइससि पायाले अडविइं अह महासमुद्दं वा ।
पुव्वकयाइं ण छुट्टसि अप्पाणं घायसे जइवि ॥

58) जं चेव कयं तं चेव भुंजसि णत्थि एत्थ संदेहो ।
अकयं कत्तो पावसि जइवि समो देवराएण ॥

59) किससि सुससि सूससि दीहं णीससि वहसि संतावं ।
धम्मेण विणा सोक्खं कत्तो रे जीव पाविहसि ॥

60) धम्मेण विणा जइ चिंतियाइं लब्भंते जीव सोक्खाइं ।
तो तिहुवणम्मि सयले मणु को वि ण दुक्खिओ हुज्ज ॥

61) धम्मेण कुलपसंसइ धम्मेण य दिव्वरूवसंपत्ति ।
धम्मेण धणसमिद्धी धम्मेण वि वित्थरा कित्ती ॥

62) धम्मो मंगलमूलं ओसहमूलं च सव्व दुक्खाणं ।
धम्मो धणं च विमलं धम्मो ताणं च सरणं च ॥

63) किं जंपिएण बहुणा जं जं दीसइ समत्थ तियलोए ।
इंदियमणाभिरामं तं तं धम्मो फलं सव्वं ॥

64) आरंभसयाइं जणो करेइ रिद्धीए कारणे मूढो ।
एगं ण कुणइ धम्मं जेण व लहइंति रिद्धीओ ॥

65) इह लोयम्मि वि कज्जे सव्वारंभे जह जणो कुणइ ।
तह जइ लक्खंसे ण वि परलोए ता सुही होइ ॥

66) धम्मेण धणं विमलं आउ दीहं च कंति सोहग्गं ।
दालिद्दं दोहग्गं अकालमरणं च अहम्मेण ॥

67) दीहरपवाससहयरपंथिएण धम्मेण कुणह संसग्गं ।
सव्वो जणो णिवट्टइ तए सहत्तेण गंतव्वं ॥

68) पणयजणपूरियासा एगे दीसंति कप्परुक्खव्वा ।
णियपुट्टं पिय अण्णे कइ कहवि भरंति रंकुव्वं ॥

69) एगे दीघदघडारहेहिं जंपाण वाहणारूढो ।
वच्चंति सुकयपुण्णा अण्णे धावंति से पुरुओ ॥

70) इय जाणिऊण एयं धम्माइत्ताइं सव्वकज्जाइं ।
तं तह करेइ तुरियं जह मुच्चइ सव्व दुक्खाइं ॥

इदि भावनापयरणं ।

4. सम्मत्तपयरणं

71) ते धण्णा ते धणिणो ते पुण् जीवंति माणुसे लोए ।
सम्मत्तं जाह थिरं भत्ती जिणसासणे णूणं ॥

72) गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं ।
तं झागे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥

73) किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥

74) ते धण्णा सुकियत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥

75) हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिये देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥

76) संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥

77) तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाण होइ सदहणं ।
परमप्पयकहियाणं परमप्पा दोसपरिचित्तो ॥

78) छुहतण्हाभयदोसो राओ मोहो जरा रुजा चिंता ।
मच्चू खेओ सेओ अरइ मओ विम्हओ जम्मं ॥

79) णिद्दा तहा विसाओ दोसा एएहिं वज्जिओ अत्ता ।
वयणं तस्स पमाणं सत्तच्चपयत्थयं जम्हा ॥

80) जीवाजीवा आसव-बंध-संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो ।
एयाणि सत्त तच्चा सद्दहणं तस्स सम्मत्तं ॥

81) तेणुत्तणवपयत्था अण्णे पंचत्थिकाय छद्दव्वा ।
आणाए अधिगमेण य सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥

82) जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वं ॥

83) संकाइदोसरहियं णिस्संकाइ गुणसंजुयं परमं ।
कम्मणिज्जरणहेउं तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥

84) रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ ।
चंपाए णिक्कंखा वणिधूवाणंतमइ णामा ॥

85) णिव्विदिगिंछो राओ उज्जायणो णाम रउरवे णयरे ।
रेवइ महुराणयरे अमूढदिट्ठी मुणेयव्वा ॥

---

76. cf. उवा० 49.
77. cf. भाव० 272.
78-79. cf. उवा० 9-10.
80. cf. Ibid 17.
83. cf. Ibid 51.
84. cf. उवा० 52, भाव० 280.
85. cf. Ibid 53, 281.

86) ठिदिकरणगुणपउत्तो मगहाणयरम्मि वारिसेणो हु।
हत्थिणपुरम्मि णयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं ॥

87) उवगूहणगुणजुत्तो जिणदत्तो तामलित्तणयरीए।
वज्जकुमारेण कया पहावणा चेव महुराए।

88) एरिसगुण अट्ठजुदं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थे य ॥

89) एरिसगुण अट्ठजुवं सम्मत्तं विसोहिकारणा भणिया।
जो उज्जमेदि एदे समादिट्ठी जिणक्खादो ॥

90) बारह मिच्छावायइ तिहुदेवह सतियाह सट्पुढवी।
सम्मत्तसिहुनहु उप्पत्ति नराइ संडे य णारी य ॥

91) पंचवि थावरवियले असणिणिगोये य मिच्छकुभोगभोए।
सम्माइट्ठीजीवा ण हु जम्मंति कहिय मुणिणाहे ॥

इति सम्मत्तपयरणं।

5. पुज्जापयरणं

92) पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता होइ देवपूजा य।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए ॥

93) फासुयजलेण ण्हाइय णिवसिय सुइवच्छगंपितं ठाणं।
इरियावहि पंच सोहिय उववेसिय पडिमाससेण ॥

---

86. cf. Ibid 54, 282.
87. cf. Ibid 55, 283.
88. cf. Ibid 56, 284.
91. cf. भाव० 425.
92. cf. Ibid 426.
93. cf. Ibid 441.

94) उच्चारिऊण मंतं अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स।
णीरघयखीरदहियं खिवेउ अणुकमेण जिणसीसे ॥

95) न्हवणं काऊण पुणो अमलं गंधो य पंच वि दित्ता।
सवलहूणं च जिणिंदे कुणोज्ज कास्मीरमलएहिं ॥

96) इय संखेवं कहियं जो पुज्जइ गंधधूवदीवेहिं।
कुसुमेहिं जवइ णिच्चं सो हणइ पुराकयं पावं ॥

97) जलधाराणिक्खेवेण पावमलं सोहणं हवे णियमं।
चंदणलेवेण नरो जायइ सोहग्गसंपण्णो ॥

98) चंदनसुयंधलेवो जिणवरचरणेसु कुणइ जो भविओ।
लहइ तणुं विक्किरियं सहावसुयंधयं धवलं ॥

99) जायदि अक्खयणिहिरयणसामिओ अक्खएहिं अक्खोहो।
अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ॥

100) कुसुमेहिं कुसेसयवयणतरुणिजणणयणकुसुमवरमाला-।
बलएणच्चियदेहो जायइ कुसुमाउहो चेव ॥

101) जायइ णिवज्जदाणिहिं संतिगोकंतितेयसंपण्ण।
लायण्णजलहिवेलातरंगितं पावियसरीरो ॥

102) दीवेहिं दीवियासेसजीवदव्वाइं तच्चसब्भावो।
सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो ॥

103) धूवेण सिसिरकरधवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो।
जाइइ फलेण संपत्तपंचमणिव्वाणसोक्खफलो ॥

104) घंटाहिं घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराण मज्झम्मि।
संकीडइ सुरसंघायसेविओ वरविमाणेसु ॥

---

94. cf. Ibid 442.
95. cf. Ibid 447.
96. cf. उवा० 483.
97. cf. 471.

105) छत्तेहिं एयछत्तं भुंजइ पुहवीसवत्तपरिहीणो ।
चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं ॥

106) अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं ।
खीरोयजलेण सुरिंदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए ॥

107) विजयपडाएहिं णरो संगामे सुविजइओ होइ ।
छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो यसस्सी य ॥

108) कुत्थुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं ।
सरिसवमेत्तं लहइ सो वि नरो तित्थयरं पुण्णं ॥

109) जो पुणु जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहितोरणसमग्गं ।
णिम्मावइ तस्सफलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥

110) जो पुज्जइ अणवरयं पावं णिद्दहइ आसिभवबद्धं ।
पडिदिणकयं च विहुणइ बंधइ पवराइं पुण्णाइं ॥

111) किं जंपिएण बहुणा तीसुवि लोएसु किं पि जं सुक्खं ।
पुज्जाफलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥

112) एयारसंगधारी जीहसहस्सेण सुरवरिंदो वि ।
पुज्जाफलं ण सक्कइ णिस्सेसं वण्णिउं जम्हा ॥

इदि पुज्जापयरणं ।

98-105. cf. उवा० 484-91.
106. cf. उवा० 493.
107-8. cf. Ibid 481, 482.
109. cf. भाव० 456.
110. cf. उवा० 493.
111. cf. Ibid 479.

6. विणयपयरणं

113) दंसणणाणचरित्ते तवोवयारं पि पंचविहविणओ।
पंचमगइगमणट्ठं कायव्वो देसविरएण ॥

114) णिस्संकियसंवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए पुव्वं।
तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ ॥

115) णाणे णाणुवयरणे य णाणजुत्तम्मि तह य भत्तीए।
जं पडिचरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु ॥

116) पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स।
जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो ॥

117) बालोयं बुड्ढोयं संकप्पं विज्जिऊण तवसीण।
जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि ॥

118) उवयारओ वि विणओ मणवयकायेण होइ तिवियप्पो।
सो पुण दुविहो णेओ पच्चक्खपरोक्खभेएण ॥

119) जं दुप्परिणामाओ मणं णियत्ताविऊण सुहयोगे।
ठविज्जइ सो विणयो जिणेहि माणस्सिओ भणिओ ॥

120) हियमियपुज्जं सुत्ताणुवीचि अफरुसमकक्कसं वयणं।
संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं सो वाचिओ विणओ ॥

121) कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडिचरणं।
संथारभणियकरणं उवकरणाणं च पडिलिहणं ॥

122) इच्चेवमाइ काइयविणओ रिसि-सावयाण कायव्वो।
जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहाजोग्गं ॥

123) इति पच्चक्खा एसो भणिदो गुरुणा विणा विआणाए।
अणुवट्टज्जदि जं तं परुक्खविणओ त्ति विण्णेओ ॥

---

6. उवा० 321-336.

124) अमयसमो णत्थि रसो ण तरु कप्पदुमेण परितुल्लो ।
विणयसमो णत्थि गुणो ण मणि चिंतामणि सरिसो ॥

125) विणएण ससंकुज्जलजसोहधवलियदियंतओ पुरिसो ।
सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य ॥

126) जे केइ वि उवएसा इह परलोए सुहावहा संति ।
विणएण गुरुजणाणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसो ॥

127) देविंदचक्कहरमंडलीयरायाइ जं सुहं लोए ।
तं सव्वं विणयफलं णिव्वाणसुहं तहच्चेव ॥

128) सत्तू वि मित्तभावं जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स ।
विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण ॥

इदि विणयपयरणं ।

7. वेयावच्चपयरणं

129) अइबालबुड्ढरोगाभिभूयतणुकिलेससत्ताणं ।
चाउव्वण्णे संघे जहजोग्गं तह मणुण्णाणं ॥

130) करचरणपिट्ठसिरसामणद्दणअब्भंगसेवकिरियाहिं
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाकुंचणाईहिं ॥

131) पडिजग्गणेहिं तणुयोगभत्तपाणेहिं भेसजेहिं तहा ।
उच्चाराईणिक्खेवणेहिं तणुधोवणेहिं च ॥

132) संथारसोहणेहि य वेइयावच्चं सया पयत्तेण ।
कायव्वं सत्तीए णिव्विदिगिच्छेण भावेण ॥

7. cf. उवा० 337-350.

133) णिस्संकियसंवेगाई जे गुणा वण्णिदा मणोविसया ।
ते होंति पायडा पुण विज्जावच्चं कुणंतस्स ॥

134) देहतवणियमसंयमसीलसमाही य अभयदाणं च ।
गइ मइ बलं च दिण्णं वेय्यावच्चं करंतेण ॥

135) सुभपरिणामो जायइ जिणिंदआणा य पालिया होइ ।
जिणसमयतिलयभूओ लब्भइ यत्तो वि गुणरासी ॥

136) भमइ जए जसकित्ती सज्जणसुहहिययणयणसुहजणणी ।
अण्णे वि य होंति गुणा विज्जावच्चेण इह लोए ॥

137) परलोगे वि सरूओ चिराउगो रोयसोयपरिहीणो ।
बलतेजसत्तजुत्तो जाइय अखिलप्पभाओ य ॥

138) जल्लोसहि सव्वोसहि अक्खीणमहाणसाइ रिद्धीओ ।
अणिमाइ गुणा य तहा विज्जावच्चेण पाउणइ ॥

139) किं जंपिएण बहुणा तिलोयसंखोहकारयमहंतं ।
तित्थयरणामपुण्णं विज्जावच्चेण अज्जेदि ॥

140) तरुणिजणणयणमणहारिरूवबलतेजसत्तसंपण्णो ।
जाओ वेज्जावच्चं पुव्वं काऊण वसुदेवो ॥

141) वारवईए विज्जावच्चं किच्चा असंजदेणावि ।
तित्थयरणामपुण्णं समज्जियं वासुदेवेण ॥

142) एवं णाऊण फलं वेयावच्चस्स परमभत्तीए ।
णिच्छयजुत्तेण सया कायव्वं देसविरएण ॥

इदि वेयावच्चपयरणं ।

8. सावयट्ठाणपयरणं

143) पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेदि ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥

144) उंबरबटपिप्पलपिंपरीयसंधाणतरुपसूणाइं ।
णिच्चं तससिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं ॥

145) जूयं मज्जं मंसं वेसा पारिद्धि चोर परयारा ।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूयाणि पावाणि ॥

146) रज्जब्भंसं वसणं बारहसंवच्छराणि वणवासे ।
पत्तो तहावमाणं जूएण जुहिट्ठिलो राया ॥

147) उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जलं त्ति णाऊण
पिविऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते जादवा तेण ॥

148) मंसासणेण गिद्धो वगरक्खो एयचक्कणयरम्मि ।
रज्जाओ पब्भट्ठो अयसेण मओ गओ णिरयं ॥

149) सव्वत्थणिउणबुद्धि वेसासंगेण चारुदत्तो वि ।
खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेसगमणं च ॥

150) होऊण चक्कवट्टी चउदसरयणाहिवो वि संपत्तो ।
मरिऊण बंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण ॥

151) णासावहारदोसेण दंडण पाविऊण सिरिभूई ।
मरिऊण अट्टझाणेण हिंडिओ दीहसंसारे ॥

152) होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कवट्टी वि ।
मरिऊण गयउ णिरयं परित्थिहरणेण लंकेसो ॥

---

8. cf. उवा० 57-59, 127-133.

153) एए महाणुभावा दोसं एक्केक्कविसणसेवाओ।
पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वण्णिज्जए किं सो ॥

154) साकेते संवेतो सत्त वि वसणाइं रुद्ददत्तो वि।
मरिऊण गओ णिरयं भमिओ पुण दीहसंसारे।

155) एवं बहुप्पयारं दुक्खं संसारसायरे घोरे।
जीवो सरणविहीणो वसणस्स फलेण पाउणई ॥

156) एवं दंसणसावयठाणं पढमं समासओ भणियं।
वयसावयगुणठाणं एत्तो विदियं पवक्खामि ॥

157) पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावयाइं चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि ॥

158) हिंसाविरई सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं।
परमहिलापरिहारो परिमाणं परिग्गहस्से य ॥

159) दिसि विदिसि पच्चक्खाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो।
भोओवभोयसंखा एएह गुणव्वया तिण्णि ॥

160) देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे य पोसहोवासं।
अतिहीण संविभाओ मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥

161) एवं बारसभेयं वयठाणं वण्णियं मए विदियं।
सामाइयं तइज्जं ठाणं संखेवओ वोच्छं ॥

162) होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो।
अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा ॥

163) जिणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं करेइ सामाइयं तं खु ॥ [जुगवं]

156-57. cf. उवा० 206-207.
158-160. cf. भाव० सं० 353-355.
161-194. cf. उवा० 273-313.

164) काउस्सग्गम्हि ठिओ लाहालाहं च सत्तुमित्तं च ।
संजोयविप्पजोयं तिणकंचणचंदणं वासि ॥

165) जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंच णवयारं ।
वर अट्ठपाडिहारेहिं संजुयं जिणसरूवं च ॥

166) सिद्धसरूवं झायइ अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं ।
खणमेक्कमविचलंगो उत्तमसामाइयं तस्स ॥

167) एवं तइयं ठाणं भणियं सामाइयं समासेण ।
पोसहविहिं चउत्थं ठाणं एत्तो पवक्खामि ॥

168) उत्तममज्झजहण्णं तिविहं पोसहविहाणमुदिट्ठं ।
सगसत्तीए मासम्मि चउस्सु पव्वेसु कायव्वं ॥

169) सत्तमि तेरसि दिवसम्मि अतिहिजनभोयणावसाणम्मि
भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं ॥

170) पक्खालिऊण वयणं करचरणं णियमिऊण तत्थेव ।
पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता ॥

171) गुरुपुरओ किदियम्मं वंदणपुव्वं कमेण काऊण ।
गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ॥

172) वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं ।
णेऊण दिवससेसं अवराण्हियवंदणं किच्चा ॥

173) रयणिसमयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए ।
पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं ॥

174) दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण जिणालए णियघरे वा ।
अहवा सयलं रत्तिं काऊस्सग्गेण णेऊण ॥

175) पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता ।
तह दव्व-भावपुज्जं जिण-सुय-साहूण काऊण ॥

176) उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण ।
पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व ॥

177) गंतूण णिययगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊण ।
जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होति ॥

178) जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं ।
णवरविसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं ॥

179) मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं ।
जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं ॥

180) आयंबिलणिव्वयडी एयट्ठाणं वा एयभत्तं वा ।
जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ॥

181) सिरण्हाणुव्वट्टणगंधमल्लकेसाइदेहसंकप्पं ।
अण्णं पि रागहेउं विवज्जए पोसहदिणम्मि ॥

182) एवं चउत्थठाणं विवण्णियं पोसहं समासेण ।
एत्तो कमेण सेसाणि सुणह संखेवओ वोच्छं ॥

183) जं वज्जिज्जइ हरियं तुयपत्तपवालकंदफलवीयं ।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वत्ति तं ठाणं ॥

184) मणवयणकायकयकारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा ।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥

185) पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो ।
इत्थिकहाइणिवित्तो सत्तमगुणबंभयारी सो ॥

186) जं किंचि गिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेदि ।
आरंभणियत्तमई सो अट्ठम सावओ भणिओ ॥

187) मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं ।
तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो ॥

188) पुट्ठो वा पुट्ठो वा णियगेहिं परेहिं च सगिहकज्जम्मि ।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥

189) एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो ।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ ॥

190) धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरिछुरेण वा पढमो ।
ठाणं सुप्पडिलेहइ मिओवकरणेण पयडप्पा ॥

191) भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वासइ समुवविट्ठो ।
उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥

192) पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा ।
भणिऊण धम्मलाहं जाचइ भिक्खं सयं चेव ॥

193) जं किंपि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जुत्तेण ।
पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि ॥

194) उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण ।
एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण ॥

195) जं सक्कइ तं कीरई जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणा ।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥

इदि सावयट्ठाणपयरणं ।

9. जीवदयापयरणं

196) देविंदचक्कवट्टित्तणाइं भोत्तूण सिवसुहमणंतं ।
पत्ता अणंतसत्ता अभयं दाऊण जीवाणं ॥

197) जे पुण छज्जीववहं कुणंति असंजया णिरणुकंपा ।
ते दुहलक्खाभिहया भमंति संसारकांतारे ॥

9. cf. जीवदयाप्र. ।

198) णाऊण दुहमणंतं जिणोवएसाओ जीववहयाणं ।
होज्ज अहिंसाणिरओ जह्हि णिव्वेओ भवदुहेसु ।।

199) जो देइ परे दुक्खं तं चिय सो लहइ लक्खसयगुणियं ।
वीयं जहा सुखित्ते विवाइयं बहुफलं होइ ।।

200) इक्कंच्चिय जीवदया जणेइ लोयम्मि सयलसोक्खाइं ।
जइ सलिलं धरणिगयं णिप्पावइ सव्व सस्साइं ।।

201) णिंबाओ ण होइ गुलो उच्छू ण य होंति निंत्रगुलियाओ ।
हिंसाओ न होइ सुहं ण य दुक्खं अभयदाणेण ।।

202) जो देइ अभयदाणं देइ य सोक्खाइं सव्वजीवाणं ।
उत्तमठाणम्मि ठिओ भुंजइ सव्वोत्तमं सोक्खं ।।

203) लोभाओ आरम्भो आरम्भाओ य पाणिवहो ।
लोभारंभणियत्ते णपरं अह होइ जीवदया ।।

204) धम्मं करेइ तुरिया धम्मेण य होंति सव्व सुक्खाइं ।
जीवदयामूलेण य पंचेंदियणिग्गहेणं च ।।

205) जं किंचि णाम दुक्खं णारयतिरियाण तह य मणुयाणं ।
तं सव्वं पावेणं तम्हा पावं विवज्जेह ।

206) नरणरवइदेवाणं जं सुक्खं सव्व उत्तमं होइ ।
तं धम्मेण विहप्पइ तम्हा धम्मं सया कुणह ।।

207) सो दाया सो तवसी सो य सुही पंडिओ य सो चेव ।
जो सयलसुक्खवीयं जीवदयं कुणइ खंति च ।।

208) मा कीरउ पाणिवहो मा जंपह मूढ अलियवयणाइं ।
मा हरह परधणाइं मा परदारे मइं कुणह ।।

209) जो कुणइ मणे खंती जीवदया मद्दवज्जुवं भावं ।
सो पावइ णिव्वाणं ण य इंदियलंपडो लोओ ।।

210) जो पहरइ जीवाणं पहरइ सो अप्पणो सगत्तेसु ।
अप्पाणं जो वइरी दुक्खसहस्साण सो भागी ॥

211) जो कुणइ जणो धम्मं अप्पाणं सो सया सुहं कुणइ ।
संचयपरो य सुच्चिय संचयसुहसंचओ जेण ॥

212) जो देइ अभयदाणं सो सोक्खसयाइं अप्पणो देइ ।
जेण ण पीडेइ परं तेण ण दुक्खं पुणो तस्स ॥

213) जीवदया सच्चवयणं परधणपरिवज्जणं सुसीलं च ।
खंती पंचेंदियणिग्गहो य धम्मस्स मूलाइं ॥

214) जस्स दया तस्स गुणा जस्स दया तस्स उत्तमो धम्मो ।
जस्स दया सो पत्तं जस्स दया सो जए पुज्जो ॥

215) जस्स दया सो तवसी जस्स दया सो य सीलसंजुत्तो ।
जस्स दया सो णाणी जस्स दया तस्स णिव्वाणं ॥

216) जो जीवदयाजुत्तो तस्स सुलद्धो य माणुजो जम्मो ।
जो जीवदयारहिओ माणुसवेसेण सो पसवो ॥

217) कल्लाणकोडिजणणी दुरितदुरियारिवग्गणिट्ठवणी ।
संसारजलहितरणी इक्कु चिय होइ जीवदया ॥

इदि जीवदयापयरणं ।

10. सावयविहिपयरणं

218) जीवियजलबिंदुसमं संपत्ती तरंगलोलाओ ।
सुविणंतरं च पिम्मं जं जाणहि तं कुणिज्जासु ॥

219) जत्थपुरे जिणभवणं समयविउ साहु सावया जत्थ ।
तत्थ सया वसियव्वं पवरजलं इंधणं जत्थ ॥

220) विणओ वेय्यावच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं ।
सत्तीए जहाजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ।।

221) हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।

222) महुमज्जमंसविरइ चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेव सुमूलगुणा हुंवति फुडु देसविरयम्मि ।।

223) भवणं जिणस्स ण कयं ण य बिबं णेय पूइया साहू ।
दुद्धरवयं न धरियं जम्मो परिहारिओ तेहिं ।।

224) भावहु अणुव्वयाइं पालहु सीलं च कुणहु उववासं ।
पव्वे पव्वे णियमं देहीं अणवरयदाणाइं ।।

225) जह गेहेसु पलित्ते कूवं खणिऊण पारयंते ण ।
तह संपत्ते मरणे धम्मं कह कीरए जीव ।।

226) खणभंगुरे सरीरे मणुयभवे अब्भपडलसारिच्छे ।
सारं इत्तियमित्तं जं कीरइ सोहणो धम्मो ।।

227) जिणवंदण गुणविणउ तव संयम तह उवयारु ।
जं किज्जइ खणभंगुरे देहे इत्तिउ सारु ।।

228) जो संतावइ अणुदिहु छव्विहु जीव णिकाउ ।
णिरय णिबंधण कम्मउ बलि किज्जइ सो काउ ।।

229) णिग्घिण णिट्ठुर दुट्ठमण जे पाणिबहं करंति ।
ते आवज्जिय पाव मरु णिच्छय नरय पडंति ।।

---

220. cf. उवा० 319.
221. cf. मोक्खपा० 90, भावसं० 262.
222. cf. भावसं० 356.
224. cf. भावसं० 488.

230) अलिउं जंपहु दुव्वयणु पुरु दुम्मिज्जइ जेण ।
वसु णरवइ णरयं गयउ अलियब्भवदोसेण ॥

231) जइ पाणहिं संसइ चढहि जइ णिव्वाहु ण अत्थि ।
तह वि अदिणुमसंगहहि जहसिउ जिणसच्छि ॥

232) जइ णिव्विउ दुहपवरिणि णिवसंतउ संसारि ।
मेहणु सुहि सुमणंतर विमणसरंतु णिवारि ॥

233) गाढ परिग्गह गहिउ णरु हारइ सो अपवग्गु ।
मिल्लि परिग्गह दुव्वसणु सिवसुह कारणि लग्गु ॥

234) जे जिणणाहं मुहकमलि अवलोयण कय तेसु ।
धण्ण तिलोयह लोयणइ मुहमंडल परसेसु ॥

इदि सावयविहिपयरणं ।

11. दाणपयरणं

235) अभयपयाणं पढमं विदियं तह होइ सत्थदाणं च ।
तइयं ओसहदाणं आहारदाणं चउत्थं तु ॥

236) सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभेत्तूणं ।
सो णिब्भओ तिलोए उत्तस्सो होइ सव्वेसिं ॥

237) सुयदाणेण य लब्भइ मइसुइणाणं च ओहिमणणाणं ।
बुद्धितवेण य सहियं पच्छा वर केवलं णाणं ॥

238) ओसहदाणेण णरो अतुलिमबलपरक्कमो महासत्तो ।
वाहिविमुक्कसरीरो चिराउसो होइ तेयट्ठो ॥

---

11. cf. भावसं० 489 to 688.

239) दाणस्साहारफलं को सक्कइ वण्णिउं भुवणयले।
दिण्णेण जेण भोया लब्भंति मणच्छिया सव्वे ।।

240) दायारो उवसंतो मणवयकायेण संजुवो दच्छो।
दाणे कय उच्छाहो पयडिय वच्छल्लगुणो य मइं ।।

241) भत्ती सद्धा य खमा सत्तं चिय तह य लोहपरिचाओ।
विण्णाणं तह काले छग्गुणा होंति दायारे ।।

242) जह नीरं उच्छुगयं काले परिणवइ अमियरूवेण।
तह दाणं वरपत्ते फलेइ भोएहिं विविहेहिं ।।

243) देहो पाणा रूअं विज्जा धम्मं तवो सुअं मोक्खं।
सव्वं दिण्णं णियमा हवेइ आहारदाणेण ।।

244) भुक्खसमा ण हु वाही अण्णसमा णं च ओसहं अत्थि।
तम्हा तं दाणेण य आरोयत्तं हवे दिण्णं ।।

245) आहारमओ देहो आहारविणा पडेइ णियमेण।
तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवइ तेण ।।

246) ता देहा ता पाणा तत्त तवो जाणविण्णाणं।
जावाहारो पविसइ देहे जीवाण सोक्खयरो ।।

247) आहारासणे देहो देहेण तवो तवेण रयसडणं।
रयणासे वरणाणं णाणिणमोक्खो जिणो भणइ ।।

248) भुक्खाकयमरणभयं णासइ जीवाण तेण तं अभयं।
सो एव हणइ वाही ओसदं तेण अत्थि आहारो ।।

249) आयाराइं सत्थं आहारबलेण पढइ णिस्सेसं।
तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण ।।

250) महिसीए तिणदिण्णं पत्तविसेसेण होइ खीरफलं।
सप्पस्स पुणो दिण्णं खीरं पि विसत्तणं कुणई ।।

251) जं रयणत्तयरहियं मिच्छामइकहिय धम्म अणुलग्गं ।
जइ वि हु तवइ सुघोरं तहावि तं कुच्छियं पत्तं ॥

252) जस्स ण तवो ण चरणं ण चापि जस्सत्थि वरगुणो कोई ।
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कथं तस्स ॥

253) ऊसरखेत्ते वीयं सुक्खे रुक्खे य णीरअहिसेओ ।
जह तह दाणमपत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होइ ॥

254) चाण्डालभिल्लछिप्पय डोंवय कल्लाल एवमाईणि ।
दीसंति रिद्धिपत्ता कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥

255) पत्थरमया वि दोणी पत्थरमप्पाणयं च बोलेइ ।
जह तह कुच्छियपत्तं संसारे चेव बोलेइ ॥

256) किविणेण संचियघणं ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।
महुयरियसंचियं महु हरंति अण्णे सपाणेहिं ॥

257) कस्सत्थि चिरा लच्छी कस्स थिरं जोवणं जीयं ।
इय मुणिऊण सुपुरिसा दिंति सुपत्तेसु दाणाइं ॥

258) दुक्खेण लहइ वित्तं वित्ते लद्धे वि दुल्लहं चित्तं ।
लद्धे वित्ते चित्ते सुदुल्लहो पत्तलाभो य ॥

259) वित्तं चित्तं पत्तं तिण्णि वि पावेइ कहइ जइ पुरिसो ।
तो ण लहइ अनुकूलं सयणं पुत्तं कलत्तं च ॥

260) पडिकूलियाउ काउ विग्घं कुव्वंति धम्मदाणस्स ।
उवएसंति दुबुद्धि दुग्गइगमकारया असुहा ॥

261) सो किह सयणो मण्णइ विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स ।
दाऊण पावबुद्धि पाडइ दुक्खायरे णिरए ॥

262) सो सयणो सो बंधू सो मित्तो जो सहिज्जओ धम्मो ।
जो धम्मविग्घयारी सो सत्तू णत्थि संदेहो ॥

263) ते धण्णा लोयतए तेहिं णिरुद्धाइं कुगइ गमणाइं ।
वित्तं चित्तं पत्तं पाविय जेहिं दिण्णं दाणाइं ॥

264) मुणिभोयणेण दव्वं जस्स गयं जोवणं च तवयरणे ।
सण्णासेण य जीवं जस्स गयं किं गयं तस्स ॥

265) जेहि ण दिण्णं दाणं ण च वि पुज्जा किया जिणिंदस्स ।
ते हीण-दीण-दुग्गय भिक्खं ण लंहति जायंता ॥

266) पुण्णेण कुलं विउलं कित्ति पुण्णेण भमइ तियलोए ।
पुण्णेग रूवमतुलं सोहग्गं जोव्वणं तेयं ॥

267) सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउ जइ वि णिदाणं ण सो कुणई ॥

268) अकय निदाणो सम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो ।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥

269) अंतरमुहुत्तमज्झे देहं चइऊण माणुसं कुणिमं ।
गेण्हइ उत्तमदेहं सुचरियकम्माणुभावेण ॥

270) चम्मं रुहिरं मंसं मेहं अट्ठिं तह वसा सोक्कं ।
सेम्मं पित्तं अंत्तं मुत्तं पुरिसं च रोमाणि ।

271) णह दंत सिरण्हारु लाला सेयं च णिमिस आलस्स ।
णिद्दा तण्हा य जरा अंगे देवाण ण हु अत्थि ॥

272) सुइ अमलो वरवण्णो देहो सुहफासगंधसंपण्णो ।
वालरवितेजसरिसो चारुसरूवो सया तरुणो ॥

273) अणिमा महिमा लहिमा पावइ पागम्म तह य ईसत्तं ।
वसियत्तकामरूवं इत्तिय गुणेहिं संजुत्तो ॥

274) देवाण होइ देवो अइउत्तमपुग्गलेण संपुण्णो ।
सहजाहरणणिउत्तो अइरम्मो होइ पुण्णेण ॥

275) उप्पण्णो रयणमए कायं कंतीए भासियब्भवणे ।
पिच्छंतो रयणमयं पासायं कणयदित्तिल्लं ।।

276) अनुकूलं परियणयं तरलियणयणं च अच्छराणिवहं ।
पिच्छंतो णमियसिरं थिरकरकायंजली देवो ।।

277) णिसुणंतो थोत्तसए सुरवरसच्छेण विरहए ललिए ।
तुंबरु गाइय गीए वीणासद्देण सुह सुहिए ।।

278) चिंतइ किं एवडत्तं मज्झपहुत्तणं इमं जायं ।
किं ओलग्गइ एसो अमरगणो विणयसंपण्णो ।।

279) कोहं इह कत्थाओ केण विहाणेण इयं पयं पत्तो ।
तविओ को उग्गतवं केरिसयं संजमं विहिओ ।।

280) किं दाणं मे दिण्णो केरिसपत्ताण काए भत्तीए ।
जेणाहं कयपुण्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ।।

281) इय चिंतंतो पसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण ।
जाणइ सो आसिभवं विहियं धम्मपहावं च ।।

282) पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो ।
वंदेइ जिणहराणं णंदीसरपहुइसव्वाइं ।।

283) इय बहुकालं सग्गे भोए भुंजिसु विविहरमणीए ।
चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ।

284) उत्तमकुले महल्लो बहुजणणमणीय संपयापउरे ।
होऊण अहियरूवो बलजोव्वणरिद्धिसंपत्तो ।।

285) तत्थवि सुहाइं भुत्तं दिक्खा गहिऊण भविय णिग्गंथो ।
सुक्कं झाणं पाविय कम्मं हणिऊण सिज्झेहि ।।

286) आहारासणणिद्दाविजओ तह इंदियाण पंचण्हं ।
वावीसपरिसहाणं कोहाईणं कसायाणं ॥

287) णिस्संगो णिम्मोहो णिग्गय वात्राकरणसुत्तट्ठो ।
दिढकाउ थिरचित्तो एरिसओ होइ झायारो ॥

288) लहिऊण सोक्कझाणं उप्पाइय केवलं वरं णाणं ।
सिज्झाइ णट्ठकम्मे अहिसेयं लहिय मेरुम्मि ॥

289) जाणंतो पेछंतो कालत्तयवट्टियाइं दव्वाइं ।
उत्तो सो सव्वण्हू परमप्पा परमजोईहिं ॥

290) णट्ठट्ठपयडिबंधो चरमसरीरेण होइ किंचूणो ।
उड्ढं गमणसहावो समएणिक्केण पावेइ ॥

291) लोयग्गसिहरखित्तं जावं तणुपवण उवरिमं भायं ।
गच्छइ ताम अथक्को धम्मत्थितेण आयासो ॥

292) चलणं वलणं चिंता करणीयं किंपि णत्थि सिद्धाणं ।
जम्हा अइंदियत्तं कम्माभावे समुप्पण्णं ॥

इदि दाणविहिपयरणं ।

293) नट्ठट्ठ कम्मबंधण जाइ जरा मरणविप्पमुक्काणं ।
अट्ठवरिट्ठगुणाणं णमो णमो सव्व सिद्धाणं ॥

294) एसो तच्चवियारो सारो सज्जणजणाण सिवसुहदो ।
वसुनंदिसूरिरइओ भव्वाण पवोहणट्ठं खु ॥

295) जो पढइ सुणइ अक्खइ अण्णं पाढाइ देइ उवएसं ।
सो हणइ नियकम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ॥

इदि तच्चवियारो ॥

गाहानुक्कमणिआ

पढमं पादं	गाहाकमो	पढमं पादं	गाहाकमो
अइबालवुड्ढरोगाभिभूय	129	इह परलोयसुहाणं	35
अकय णिदाणो सम्मो	268	इह लोयम्मि वि कज्जे	65
अडविगिरिरलमज्झे	22	उच्चारिऊण मंतं	94
अणिमा महिमा लहिमा	273	उज्जाणम्मि रमंता	147
अनुकूलं परियणयं	276	उड्ढमहोतिरियम्हि	5
अथिरं जीवं रिद्धि	43	उत्तमकुले महल्लो	284
अथिराण चंचलाण य	51	उत्तमणाणपहाणो	30
अभयपयाणं पढमं	235	उत्तममज्झजहण्णं	168
अमयसमो णत्थि रसो	124	उत्तविहाणेण तहा	176
अहिंसेयफलेण णरो	106	उद्दिट्ठपिंडविरओ	194
अंतरमुहुत्तमज्झे	269	उप्पण्णो रयणमए	275
आरंभसयाइं जणो	64	उंबरबटपिंपलपिंप-	144
आयाराइं सत्थं	249	उवगूहणगुणजुत्तो	87
आयंबिलणिव्वियडी	180	उवयारओ वि विणओ	118
अलिउं जंपहु दुव्वयणु	230	ऊसरखेत्ते बीयं	253
आवईहिं पि पढिज्जइ	9	एए महाणुभावा	153
आहारमओ देहो	245	एगो वि णमोयारो	7
आहारासणे देहो	247	एगे दोघदघडारहेहिं	69
आहारासणणिद्दा	286	एयाण णमोयारो	4
इक्कं चिय जीवदया	200	एयारसम्मि ठाणे	189
इच्चेवमाह काइय	122	एयारसंगधारी	112
इति पच्चक्खा एसो	123	एरिसगुण अट्ठजुदं	88
इय एसो णवकारो	21	एरिसगुण अट्ठजुवं	89
इय चिंतंतो पसरइ	281	एवं चउत्थ ठाणं	182
इय जाणिऊण एयं	70	एवं णाऊण फलं	142
इय णाऊण असारे	53	एवं तइयं ठाणं	167
इय बहुकालं सग्गे	283	एवं दंसणसावय	156
इय संखेवं कहियं	96	एवं बहुप्पयारं	155

पढमं पादं	गाहाकमो
एवं बारसभेयं	161
एसो अणाइकालो	19
एसो तच्चवियारो	294
एसो दहम्पयारो	41
ऐरावएहि पंचहि	17
ओसहदाणेण णरो	238
करचरणपिट्ठसिरसाणं	130
कल्लाणकोडिजणणी	217
कस्सत्थि चिरा लच्छी	257
काउस्सग्गम्मि ठिओ	164
कायाणुरूवमद्दण	121
किवणेण संचियधणं	256
किं एस महारयणं	12
किं जंपिएण बहुणा	63
किं जंपिएण बहुणा	139
किं जंपिएण बहुणा	111
किं दाणं मे दिण्णो	280
किं बहुणा भणिएणं	73
किससि सुससि सूससि	59
कुसुमेहिं कुसेसयवयण	100
कुंथुंभरिदलमेत्ते	108
कोहं इह कच्छाउ	279
कोहेण जो ण तप्पदि	29
कोहो माणो माया	52
खणभंगुरे सरीरे	226
गहिऊण य सम्मत्तं	72
गंतूण णिययगेहं	177
गाढपरिग्गह गहिउ णरु	233
गुरुपुरओ किदियम्मं	171
घणघाइकम्ममुक्का	3
घंटाहिं घंटसद्दाउलेसु	104

पढमं पादं	गाहाकमो
घरवासे वा मूढो	44
चइऊण मिट्ठभोजं	36
चंडालमिल्लछिपय	254
चंदनसुयंधलेवो	98
चम्मं रुहिरं मंसं	270
चलणं वलणं चिंता	297
चिंतइ किं एवडत्तं	278
चिंतामणिरयणाइ	13
छत्तेहिं एयछत्तं	105
छुह तण्हा भयदोसो	78
जइ णिव्विउ दुह पवरिणि	232
जइ पइससि पायाले	57
जइ पाणहिं संसइ चढहि	231
जत्थ पुरे जिणभवणं	219
जलधाराणिक्खेवेण	97
जल्लोसहि सव्वोसहि	138
जस्स ण तवो ण चरणं	152
जस्स दया सो तवसी	215
जस्स दया तस्स गुणा	214
जह अहिणा दट्ठाणं	11
जह उक्कस्सं तह	178
जह गेहेसु पलित्ते	225
जह नीरं उच्छुगयं	242
जं किंचि गिहारंभं	186
जं किंचि णाम दुक्खं	205
जं किंचि परमतत्तं	14
जं किंपि पडियभिक्खं	193
जं चेव कयं तं चेव	58
जं दुप्परिणामाओ	119
जं वज्जिज्जइ हरियं	183
जं मारेसि रसंते	49
जं रयणत्तयरहियं	251

पढमं पादं	गाहाकमो	पढमं पादं	गाहाकमो
जं सक्कइ तं कीरई	195	जो देइ परे दुक्खं	199
जं हरसि परधणाइं	50	जो पढइ सुणइ अक्खइ	295
जाए वि जो पढिज्जइ	8	जो पस्सइ समभावं	165
जाणंतो पेछंतो	289	जो परिहरेदि संगं	38
जायइ णिवज्जदाणिहि	101	जो पहरइ जीवाणं	210
जायदि अक्खयणिहि	99	जो पुज्जइ अणवरयं	110
जिणवंदण गुणविणउ	227	जो पुणु जिणिंदभवणं	109
जिणवयणधम्मचेइय	163	जो संतावइ अणुदिह	228
जिणवयणमेव भासदि	33	ठिदिकरणगुणपउत्तो	86
जिणसासणस्स सारो	28	णट्ठुपयडिबंधो	290
जीव तुमं णवमासे	47	ण परो करेइ दुक्खं	56
जीवाजीवा आसवबंध-	80	णमियं जिणपासपयं	1
जीवदया सच्चवयणं	213	ण य किंचि तस्स पहवइ	24
जीवियजलबिंदु समं	218	णहदंतसिरण्हारु	271
जूयं मज्जं मंसं	145	णाऊण दुहमणंतं	198
जे केइ वि उवएसा	126	णासाव्हारदोसेण	151
जे के वि गया मोक्खं	20	णाणे णाणुवयरणे	115
जे जिणणाहं मुहकमलि	234	णिग्घिण णिट्ठुर दुट्ठर	229
जेण मरंतेण इमो	18	णिद्दा तहा विसाओ	79
जे पुण छज्जीववहं	197	णिंबाओ ण होइ गुलो	201
जेहि ण दिण्णं दाणं	265	णिव्विदिगिंछो राओ	85
जो कुणइ जणो धम्मं	211	णिस्संकियसंवेगाइ	114
जो कुणइ मणे खंती	209	णिस्संकिय संवेगाइ	133
जो गुणइ लक्खमेगं	15	णिस्संगो णिम्मोहो	287
जो चिंतेइ ण वंकं	31	णिसुणंतो थोत्तसए	277
जो जीवदया जुत्तो	216	तत्थवि सुहाइं भुत्तं	285
जो जीव रक्खण परो	34	तरुणिजणणयणमणहारि	140
जो ण कयं अण्णभवे	55	तवसंजमणियमरहो	27
जो णवि जादि वियारं	39	तं सम्मत्तं उत्तं	77
जो दु ण करेदि कंखं	82	ता देहा ता पाणा	246
जो देइ अभयदाणं	202	तिविहं च जो विवज्जदि	37
जो देइ अभयदाणं	212	तेण इमो णिच्चम्मि य	6

पढमं पादं	गाहाकमो	पढमं पादं	गाहाकमो
ते धण्णा लोयतए	263	पक्खालिऊण वयणं	170
तेणुत्त णव पयत्था	81	पत्थरमया वि दोणी	255
ते धण्णा ते धणिणो	71	पच्चूसे उट्ठित्ता	175
ते धण्णा सुकियत्था	74	पडिकूलयाउ काउ	260
थंभेइ जलं जलणं	23	पडिजग्गणेहिं तणु-	131
दंसणणाणचरित्ते	113	पणयजणपूरियासा	68
दाऊण किंचि रत्ति	174	परलोगे वि सरूवो	137
दाणस्साहारफलं	239	पंचविहं चारित्तं	116
दायारो उवसंतो	240	पंचुबरसहियाइं	143
दिसि विदिसि पच्चक्खाणं	159	पंचेव अणुव्वयाइं	157
दीवेहिं दीवियासा-	102	पंच वि थावरवियले	91
दीहरपवाससहयर	67	पुट्ठो वा अपुट्ठो वा	188
दुक्खेण लहइ वित्तं	258	पुणरवि तमेव धम्मं	282
देवाण होइ देवो	274	पुण्णेण कुल विउलं	266
देविंदचक्कवट्टि	196	पुण्णस्स कारणं फुडु	92
देविंदचक्कहरमंडलीय	127	पुव्वुत्तणवविहाणं	185
देवे थुवइ तियाले	160	फासुयजलेण ण्हाइय	93
देहतवणियमसंयम	134	बारह मिच्छावायइ	90
देहो पाणा रूअं	243	बालोयं बुड्ढोयं	117
धम्मं करेइ तुरिया	204	भत्ती सद्धा य खमा	241
धम्मेण कुलपसंसइ	61	भमइ जए जसकित्ती	136
धम्मेण धणं विमलं	56	भवणं जिणस्स ण कयं	223
धम्मेण विणा जइ चिंतियाइं	60	भावहु अणुव्वयाइं	224
धम्मो मंगलमूलं	62	भुक्खाकयमरणभयं	248
धूम्मिल्लाणं चयणं	190	मुक्खसमा ण हु वाही	244
धूवेण सिसिरकरधवल	103	भुंजेइ पाणिपत्तम्मि	191
नट्ठट्ठ कम्मबंधण	293	मणवयणकायकारिय	184
नयणाण मोकलाणं	40	मंसासणेण गिद्धो	148
नरणरवइदेवाणं	206	महिसीए तिणदिण्णं	250
नरसिरि हुंति सिराणं	10	महुमज्जमंसविरई	222
न्हवणं काऊण पुणो	95	मा कीरउ पाणिवहो	208
पक्खालिऊण पत्तं	192	मुणिऊण गरुवकज्जं	179

पढमं पादं	गाहाकमो
मुणिभोयणेण दव्वं	264
मोत्तूण वत्थमेत्तं	187
रज्जब्भंसं वसणं	146
रयणिसमयम्मि ठिच्चा	173
रायगिहे णिस्संको	84
रे जीव पावणिग्घिण	54
रे जीव संपयं चिय	48
लहिऊण माणुसत्तं	46
लहिऊण सोक्कझाणं	288
लोभाओ आरंभो	203
लोयग्गसिहरसित्तं	291
वायणकहाणुपेहण	172
वारवईए विज्जा-	141
वाहिजलजलणतक्कर	25
वाही इट्ठवियोगो	45
विजयपडाएहिं णरो	107
विणओ वेय्यावच्चं	220
विणएण ससंकुज्जल	125
वित्तं चित्तं पत्तं	259
सत्तू वि मित्तभावं	128
सत्तमि तेरसि दिवसम्मि	169
संथारसोहणेहि य	132
समसंतोसजलेणं	32
सम्मादिट्ठि पुण्णं	267
सव्वत्थणिउणबुद्धि	149
सव्वेसिं जीवाणं	236
सट्ठिसयं विजयाणं	16
संकाइ दोसरहियं	83
संवेओ णिव्वेओ	76
संसारम्मि असारे	42
साकेते सेवंतो	154
सिद्धसरूवं झायइ	166
सिरण्हाणुव्वट्टण	181
सुइ अमलो वरवण्णो	272
सुभपरिणामो जायइ	135
सुयदाणेण य लब्भइ	237
सुयसायरो अपारो	2
सो किह सयणो भण्णइ	261
सो दाया सो तवसी	207
सो सयणो सो वंधू	262
हियए गुहाये णवकार	26
हियमियपुज्जं सुत्ता	120
हिंसारहिए धम्मे	75
हिंसारहिए धम्मे	221
हिंसाविरई सच्चं	158
होऊण सुइ चेइय	162
होऊण खयरणाहो	152
होऊण चक्कवट्टी	150

लोकोत्तरधर्मदाने

बुद्धस्य द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि अशीत्यनुव्यञ्जनानि च

सम्पादक
डॉ. ना. हे. साम्ताणी
अध्यक्ष
पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लोकोत्तरधर्मदाने बुद्धस्य द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि अशीत्यनुव्यञ्जनानि च सम्यक्प्रकारेण सम्पाद्य आङ्लभाषया लिखिता प्रस्तावनासहितोऽयं ग्रन्थांशः प्रथमवारमत्र प्रकाश्यते। सम्पादकमहोदयेन नेपालदेशस्य अध्ययन-यात्रायां काठमाण्डूनगरस्थिते दरबारपुस्तकालये समुपलब्धः अयं लघुरूपोऽपि ग्रन्थः महत्त्वं भजते। यतः भगवतः बुद्धस्य महापुरुषलक्षणानि अनुव्यञ्जनानि च व्यवस्थितरूपेण अत्र संस्कृतगिरा समुपनिबद्धानि।

MAHĀPURUṢALAKṢAṆAS AND ANUVYAÑJANAS OF THE BUDDHA IN THE

LOKOTTARADHARMADĀNAṂ

Edited by

DR. N. H. SAMTANI

Head

Department of Pali & Buddhist Studies

Banaras Hindu University

Contents

1. Introduction २०७
2. Special Features of the Edition २११
3. Abbreviations २१२
4. द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि २१३
5. महापुरुषलक्षणानां पूर्वनिमित्तानि २१६
6. अशीत्यनुव्यञ्जनानि २१९

INTRODUCTION

During my visit to Nepal in search of some additional manuscripts of the *Arthaviniścayasūtra*[1] and its Commentary *(Nibandhana)* in 1960, I had come across a small manuscript named *Lokottaradharmadānaṃ*[2] in the then known Darbar Library, Kathmandu. The details of the manuscript as recorded by me are as follows : No. 154, size : 14″×6″, script : Devanāgari, folios : 7, lines : 12 to a page, written on Nepalese handpaper, no colophon.

I examined the Ms. cursorily and found it quite an important one as it explained some important Buddhist terms and concepts. Among the sections that this text includes are six *abhijñās*, four *pratisaṃvids*, ten *vaśitās*, eight *vimokṣas*, four *smṛtyupasthānas*, eight *abhibhvāyatanas*, ten *tathāgatabalas*, etc. As I was particularly interested in the study of *mahāpuruṣalakṣaṇas* and *anuvyañjanas* of the Buddha at that time, I copied the material on these two categories. The text has some corrupt and indistinct readings. However, I am publishing the relevant extracts from the *Lokottaradharmadāna* explaining the *lakṣaṇas* and *anuvyañjanas* for the scholars interested in the comparative studies of these special characteristics which make the Buddha a superman. The lists and explanations are found in many other Buddhist texts both in Pali and Sanskrit but they vary in order, terminology and explanation in not a few cases.[3]

---

1. The texts have been published now under the title *The Arthaviniścaya-sūtra & Its Commentary*, edited by the present writer, (Patna, K. P. Jayaswal Research Institute, 1971).
2. To my knowledge, this text has not been published so far. Neither have I come across any reference to or quotation from this text (which is obviously a Mahāyānic text) in any other treatise or modern work. The present writer will be thankful to readers for any further information on this text.
3. For *lakṣaṇas*, see *Lakkhaṇa-sutta*, DN. II, pp. 110 ff.; MN. II, pp. 384 ff.; *Lalitavistara* (Darbhanga ed.) pp. 74-75; *Arthaviniścaya-sūtra*, pp. 53-66; *Āloka* (Commy. on *Āṣṭasāhsrikā Prajñāpāramītā*, pp. 537 ff.; *Abhidharmadīpavṛtti*, pp. 187 ff.; *Dharmasaṅgraha*, section 83. For *anuvyañjanas*, see all the Sanskrit texts quoted above; but for the Pali list, see *Milinda-ṭīkā* (PTS), pp. 17-18.

The thirty-two *mahāpuruṣalakṣaṇas* and the eighty *anuvyañjanas* of the Buddha are of the great interest not only from the point of view of the study of Buddhist art and sculpture—they are represented in many images of the Buddha—but also from the view-point of the Buddhist theory of the inviolability of karmic results of good and bad actions. It is believed by the Buddhists that every good deed brings forth good result not only in the mental but also in the physical realm. And this is what we find in the Buddhist concept of *mahāpuruṣa*. Every good action performed by the Buddha in the past as a *bodhisattva* gave rise to the appearance of beautiful physical marks on his body. The texts tell us that each mark is the result of a hundred merits done by the Buddha in the past (*ekaikaṃ puṇyaśatajaṃ*[4]).

The Mahāyāna Buddhism attaches greater importance to these categories and in its concept of the *Trikāya* (three bodies of the Buddha), the *lakṣaṇas* and *anuvyañjanas* receive special importance in the *sambhogakāya*.[5] Although the concept of the *sambhogakāya* is purely Mahāyānic, the seeds of the theory of the *mahāpuruṣalakṣaṇas* can be traced back to the early Pali texts also. In the *Dighanikāya*, the *Lakkhaṇa-sutta* deals specifically with the concept of *Mahāpuruṣa* possessing the thirty-two signs. In this *sutta* it has been clearly stated that if a person is endowed with the thirty-two marks of a great man and lives the life of householder he becomes a righteous king and *cakravartī* ruler and if he goes in the state of homelessness (*anagāriyaṃ*), he becomes an *arahant* and a *sammāsambuddha*.[6] In the *Pabbajāsutta* of the *Suttanipāta* also there is a reference to the Buddha being endowed with *lakṣaṇas* although the number of the *lakṣaṇas* (32) is not mentioned.[7] But in the *Vatthugāthā* in the same text, there is a reference to the number thirty-two.[8]

In the various other *suttas* also the thirty-two *lakṣaṇas* are mentioned but there are no references to the eighty *anuvyañjanas* in the canonical

4. *Abhidharmakośa*, IV. 110a. Cf. also : *Saikapuṇyaśatodbhūtaṃ ekaikaṃ lakṣaṇaṃ muneḥ—Abhidharmadīpa, kārikā* 242.
5. Cf. *Dvātriṃsallaksaṇāśītivyañjanātmā muner ayaṃ|*
   Sāṃbhogiko mataḥ kāyo mahāyānopabhogataḥ|| Āloka, p. 537
6. Cf. DN. Vol. III, p. 110.
7. Cf. *Pabbajjā-sutta*, verse 5, *Suttanipāta*, p. 329.
8. Cf. *Vatthugāthā*, verse 25. *Ibid*, p. 421.

texts.[9] Hence the list of the *anuvyañjanas* is not found. It is mostly in the later Pali commentaries that the references to *anuvyañjanas* are given.[10] The Mahāyāna texts, on the other hand, are full of references to the list of *lakṣaṇas* and *anuvyañjanas* along with their explanations.[11]

Along with the theory of the *mahāpuruṣalakṣaṇas* and *anuvyañjanas* (minor physical marks), as stated above, is associated the concept of the reward of meritorious deeds which produce the special marks of a great man on the person of the Buddha. It is by constant performance of various *kuśala* or *puṇya karmas* during many *kalpas* that a Buddha comes to possess the special marks. According to the Mahāyāna, Buddha's body, called *sambhogakāya* (body of enjoyment or bliss) is always radiant and glorious and bears thirty-two special marks and eighty minor signs. It is the result of past meritorious actions but it is visible only to the faithful *bodhisattvas* who assemble to hear a Buddha preach his sermon.[12]

Har Dayal is of the opinion that the *sambhogakāya* was added subsequently to the *dharmakāya* in order to give the Buddhas something like celestial abodes of Hindu *devas*. It belongs to the stage of deification, not to that of spiritualisation and unification[13].

---

9. Cf. *Mahāpadāna-sutta*, DN. Vol. II, pp. 15 ff; *Brahmāyu-sutta*, MN. Vol. II, pp. 384 ff. These *suttas* are apart from the *Lakkhaṇa-sutta* mentioned above.
10. References to *anuvyañjanas* are found mostly in Commentaries *(aṭṭhakathās)*. Cf. *Sumaṅgalavilāsinī*, Vol. III, p. 246 (Nalanda ed.), *Udānaṭṭhakathā* (PTS ed.), p. 87. Also see *Milindapañha* (Bombay Devanagari ed.), p. 78. It is only in *Milinda-ṭīkā* (PTS), pp. 17-18 that the list of 80 *anuvyañjanas* is found. There is also reference to the fact that the list is found only in the *Jinālaṅkāra-ṭīkā* and the author of the *Milinda-ṭīkā* has borrowed it from the same. See p. 17, *ibid.*
11. See fn. no. 3, above.
12. Cf. Har Dayal, *The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature*, p. 27. Also cf. *Mahāyānasūtrālaṅkāra*, (Darbhanga ed.), p. 180.
13. Har Dayal, *loc. cit.*

On the *sambhogakāya*, Bhikshu Sangharakshita in *The Three Jewels*, makes this observation :

> "According to one explantion the *sambhogakāya*, or 'Body of Mutual Enjoyment', is so called because the vision of it is enjoyed by the Bodhisattvas, those highly advanced beings who in both this world and other higher realms of existence practice the Six or Ten Perfections, including *dhyānapāramitā*, the Perfection of Concentration. According to another it is the body 'enjoyed' by the Buddha Himself as the result of all the good deeds He had performed and the knowledge He had accumulated during His countless lives as a Bodhisattva."[14]

Sangharakshita thinks that the rendering of *sambhogakāya* as 'Glorious Body' is better than 'Body of Bliss'. He further says that the yogin, in his meditation sees the Buddha "in a glorious form which though human, is infinitely more majestic, brilliant and beautiful than any mortal frame. This form is adorned with the thirty-two major and eighty minor 'marks', two standard sets embodying an ancient Indian conception of ideal beauty which the Buddhists, at an early date, took over from traditions concerning the *mahāpuruṣa* or superman and applied to their own more spiritual purposes."[15]

It is interesting to study how Buddhists conceived the past good deeds and associated them with the major and minor marks on the body of the Buddha. The subject is of special importance in view of its ethical undertone. The explanation of these *lakṣaṇas* in the Buddhist texts sometimes vary and so also the respective past meritorious deeds. How the Buddhists have been adding the different items of *kuśala karmas* to each *lakṣaṇa* and *anuvyañjana* is itself a field of independent study which may require a writing of a separate monograph on the subject. For the present, I am publishing the relevant text from the *Lokottaradharmadāna*. Those who are interested in further studies may also read the relevant portions in other texts.[16]

14. Bhikkhu Sangharakshita, *The Three Jewels*, (London, Rider & Co., 1967), pp. 37-38.
15. *Ibid.*, p. 38.
16. For reference to the texts, see above fn. no. 3. However, among the Mahayana texts, I find the *Āloka* (Commentary on *Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā*) has closer resemblance to the explanation of these categories in the present text than that we find in the other texts.

Now, a few remarks on editing and special features of the present text :

(1) I have closed the sentence with the consonant *ṃ* (म्) where the Ms. generally closes the sentence with *anusvāra* (ं) as is the common practice in the edition of the modern Sanskrit texts, e. g. °निमित्तम् । for °निमित्तं ।

(2) I have made changes in punctuation wherever it is necessary—especially using commas—to make the sense more clear.

(3) It will be observed that there is no uniformity in style. Sometimes a *lakṣaṇa* is followed by *iti kīdṛśā* interrogative phrase and sometimes by *iti kathaṃ* or sometimes by none.

(4) Sometimes the explanation of *lakṣaṇa* and its past deed is long and at times very short or practically no explanation at all.

(5) In the case of *anuvyañjanas* sometimes explanation does not add anything substantially.

(6) There are references to the Abhidharmic concepts like *pratītya-samutpāda*, *kāyalāghava*, *darśanabhāvanāheya-anuśayas*, etc., in the explanation of *anuvyañjanas* (see items nos. 32, 43, and 75).

(7) I have only occasionally referred to the corresponding explanations in the other texts.

N. H. Samtani
Editor

Abbreviations

Āloka = Commentary of Haribhadra published with *Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā*, Mithila Institute, Darbhanga, 1960.

Asū. = The *Arthaviniścaya-sūtra* published along with the Commentary under the title *The Arthaviniścaya-sūtra* & Its Commentary (*Nibandhana*), K. P. Jayaswal Research Institute, Patna, 1971.

Asū. Nibandhana = The Commentary on the *Arthaviniścaya-sūtra*. See preceding entry.

BHSD = Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary by Franklin Edgerton.

DN. = *Dīghanikāya*.

Darbhanga ed. = Devanagari edition of the Mithila Institute, Darbhanga.

MN. = *Majjhimanikāya*.

Nalanda ed. = Nalanda Devanagari edition of the Pali Publication Board, Bihar Government.

PTS = Pali Text Society's edition.

PTSD = Pali Text Society's Pali-English Dictionary.

SED = Sanskrit English Dictionary by Monier Williams.

Note : References to Pali Nikāyas are to their Nalanda editions.

[लोकोत्तरधर्मदाने द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि]

(१) तत्र **चक्राङ्कहस्तपादता** इति कीदृशा ? चक्राणि तथागतस्य हस्तपादतलजातानि भवन्ति सहस्राणि सनेमिकानि सनाभिकानि सर्वाकारपरिपूर्णानि, तद्यथा अस्थिमयं वा दन्तमयं वा बिम्बमुत्कीर्णं स्यात् ।

(२) समं पाणि[1]तलाभ्यां पृथ्वीसंस्पर्शनादसंकुचितत्वात्पादयोः **सुप्रतिष्ठितपाणिपादता** ।

(३) **जालहस्तपादता** इति कीदृशा ? हंसराजस्येव जालपिनद्धाङ्गुलिपाणिपादत्वाज्जा**लहस्तपादता** ।

(४) **मृदुतरुणहस्तपादता** इति कीदृशा ? तूलपिचूपमतरुणसुकुमारता[2]लकोमलपाणिपादत्वात् मृदुतरुणहस्तपादता ।

(५) **समोच्छ्रयता**[3] इति कीदृशा ? समुच्छ्रितहस्तपादशिरोग्रीवाप्रदेशत्वात्समोच्छ्रयता[4] ।

(६) आयतहस्तपादाङ्गुलित्वात् **दीर्घाङ्गुलिः** ।

(७) **आयतपार्ष्णिता** इति कीदृशा ? दीर्घपार्ष्णित्वात् आयतपार्ष्णिः ।

(८) **बृहदृजुगात्रता** इति कीदृशा ? समार[5] (?)—त्युच्छ्रितत्वाद् बृहद्गात्रत्वात् बृहदृजुगात्रः ।

---

१. Ms. omits here पाद and gives पाणि only, although this लक्षण includes both. Note also the omission of the catechetical style in the explanation of this लक्षण. In many texts, this लक्षण does not include पाणि. Cf. *Asū.*, p.54; *Lakkhaṇasutta,* DN III, p. 110 (Nalanda ed.). But see *Dharmasangraha* (section 83) *Mahāyāna-sūtrasangraha* vol. I (ed. P.L. Vaidya) p. 334 which gives सुप्रतिष्ठितपाणिपादतलता as the second लक्षण.

२. Should it be °तल° ?

३. Ms. °छ्र°. It omits च्.

४. Ms. °छ्र°.

५. Doubtful reading. Meaning not clear.

(९) **उच्छङ्खपादता**[६] इति कीदृशा ? उच्चैः सुनिगूढजानुगुल्फत्वादुच्छङ्खपादः ।

(१०) **ऊर्ध्वाङ्गरोमता** इति कीदृशा ? ऊर्ध्वप्रदक्षिणावर्तकुण्डलरोमत्वादूर्ध्वाङ्गरोमः ।

(११) **एणेयजङ्घता** इति कीदृशा । शरभैणेयजङ्घत्वादनुपहतत्वादनुपूर्वोपचितवृत्त-जङ्घत्वाच्च एणेयजङ्घः ।

(१२) **पदूरुबाहुता** इति कीदृशा ? समोरुबाहुत्वाद[न[७]]वनतस्य पाणितलाभ्यां जानुमण्डलस्पर्शनात्पदूरुबाहुः ।

(१३) **कोशावहितवस्तिगुह्यता** इति कीदृशा ? परमाभिरूपकोशनिगूढसंहतत्वाद्व[८]स्त्य-श्वाज़ानेयवत् कोशावहितवस्तिगुह्यः ।

(१४) **सुवर्णवर्णता** इति कीदृशा ? उत्तप्तहाटकसुवर्णवर्णत्वात् सुवर्णवर्णता ।

(१५) **श्लक्ष्णछविता** इति कीदृशा ? रजतजातरूपसुपरिकर्मकृतश्लक्ष्णसमानछावि-त्वात् रजसानुपलिप्तगात्रत्वात्[९] श्लक्ष्णछविः ।

(१६) **एकैकप्रदक्षिणावर्तरोमता**[१०] इति कीदृशा ? सुविभक्तैकैको[ऽ] द्वितीयजातरोमत्वा-देकैकरोमः ।

(१७) **ऊर्णाङ्कितमुखता** इति कीदृशा ? अवदातकुन्देन्दुगोक्षीरतुषारवर्णचन्द्रसूर्यशताति-रेकप्रभया ऊर्णया भ्रुवोरन्तरे कृतालंकारत्वादास्यस्य ऊर्णाङ्कितमुखः ।

(१८) **सिंहपूर्वार्धकायता** इति । उपरिविपुलकायत्वात् सिंहपूर्वार्धकायः ।

(१९) **सुसंवृत्तस्कन्ध** इति सुश्लिष्टपरिमण्डलग्रीवत्वात् सुसंवृतस्कन्धः ।

(२०) **चितान्तरांसता** इति । काञ्चनपट्टसुविसृष्टोपचित[११]स्कन्धत्वाच्चितान्तरांसः ।

---

६. Ms. उच्छंग°.

७. Ms. omits °न°. Cf. ठितको व अनोनमन्तो उभोहि पाणितलेहि जण्णुकानि परिमसति परिमज्जति । DN. III, p. 111.

८. Ms. so. Should it be °द्ध° ? Reference may be to हस्तिन् also.

९. On "अनुपलिप्त 'undefiled", see BHSD, p. 29.

१०. °णा° omitted in Ms.

११. °चितो°—Ms.

(२१) **रसरसज्ञता** इति कथम् ?[१२] वातपितश्लेष्मभिरनुपहतरसतनु[13]त्वाद् रसरस-प्रतिभावनत्वात् सदृशविज्ञानत्वाच्च रसरसज्ञः ।

(२२) **न्यग्रोधपरिमण्डलता** इति कीदृशा ? कायस्य व्यामसमारोहपरिणाहप्रमाण-त्वान्न्यग्रोधपरिमण्डलः ।

(२३) **उष्णीषशिरस्कता** कथम् ? वृत्तपरिमण्डलदक्षिणावर्तोष्णीषसमानसुप्र[१४]हितदर्श-नीयशिरस्कत्वादुष्णीषशिरः ।

(२४) **पृथुतनुजिह्वता** इति । रक्तोत्पलपत्रसमवर्णायतत्वात्पृथुतनुजिह्वः ।

(२५) **ब्रह्मस्वरता** इति कीदृशा ? हिरण्यगर्भकलविङ्कशकुनिसदृशस्वरत्वात् सुस्वरः ।

(२६) **सिंहहनुता** इति । आदर्शमण्डलवत्सुपरिवृत्तोपचितदर्शनीयहनुत्वात् सिंहहनुः ।

(२७) **शुक्लदन्त** इति कथं ? कुन्देन्दुशङ्खावभेदक[१५]वत् सितदन्तत्वाच्छुक्लदन्तता ।

(२८) **समदन्तता** इति । अनुत्ततदन्तत्वात् समदन्तः ।

(२९) निरन्तरत्वा**दविरलदन्तः ।**

(३०) अध ऊर्ध्वं चानातिरिक्तत्वात् **समचत्वारिंशद्दन्तता** ।

(३१) कृष्णशुभ्रदेशानुपविलष्टसुविटत्वा[१६]ल्लोहितराज[१७]भिरपिनद्धत्वाच्च**।भिनीलनेत्रता** ।

(३२) अधस्थितानां ऊर्ध्वस्थितानां च सम्यगवनतत्वादसंलुडितत्वाच्च पक्ष्मणोः **गोपक्ष्मनेत्रता** ।

---

१२. Note here the change in catechetical style. Instead of "इति कीदृशा ?", we have "इति कथम् ?"

१३. °तन°—Ms. "तनु" here may mean "delicate", "refined".

१४. °सुपहत°—Ms.

१५. Ms. looks like ° वमेदकं.

१६. Can it be emended to °सुविटप° ?

१७. Is it wrong reading for °राजि° ?

[महापुरुषलक्षणानां पूर्वनिमित्तानि]

(१) ततः चक्राङ्कहस्तपादो भवति [।] गुरूणामनुग(म)[१८]नप्रत्युद्गमनाभ्यां धर्मश्रवणमाल्योपहारचैत्यानुदानप्रभृतिषु परिवारदानाच्चक्राङ्कहस्तपादो भवति, तत्पुनर्महापरिवारतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(२) दृढसमादानत्वात् **सुप्रतिष्ठितपार्णिपाद**स्तदकम्पनीयतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(३) चतुर्णां संग्रहवस्तूनां[१९] दानं प्रियवद्यार्थचर्यासमानर्थता[२०]नामासेवनाज्**जालहस्तपाद**स्तत्क्षिप्रसंग्रहतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(४-५) प्रणीतो नाम (?)[२१]सितपीतलीढखादितास्वादितानु[२२]दानात् **मृदुतरुणहस्तपादः सप्तोच्छ्रयश्च**, तदुभयं प्रणीतानामेवासितपीतलीढखादितास्वादितानि[२३] प्रतिलब्धये पूर्वनिमित्तम् ।

(६-८) बद्धपरिमोक्षणाज्जीवितानुग्रहकरणात्प्राणातिपाताच्च प्रतिविरतेरासेविताद्**दीर्घाङ्गुलिरायतपादपार्ष्णिर्बृहदृजुगात्रश्च**, तद्दीर्घायुष्कतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(९-१०) कुशलस्य धर्मसमादानस्योपात्तस्याभिवर्द्धनादपरिहाणाच्च **उच्छङ्खपादश्चोर्ध्वाङ्गरोमश्च**[२४], तदपरिहाणिधर्मताया विनये वा पूर्वनमित्तम् ।

(११) सत्कृत्यशिल्पविद्याकर्मणामुपप्रदानादुपादानप्रदानाच्च **एणेयजङ्घ**स्तत्क्षिप्रग्रहणतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(१२) स्वतः सम्विद्यमानस्यार्थस्य याचितेन दानादप्रत्याख्यानाच्च **पद्रूरुबाहु**स्तद्वशितायाः प्रदाने विनये वा पूर्वनिमित्तम्[२५] ।

---

१८. Ms. omits °म°, which is an obvious lapse.

१९. For the four संग्रहवस्तुs, see *Dharmasangraha*, item no. 19, *Mahāyāna-sūtra-sangraha*, Vol. I, p. 330. Also see DN. III, p. 118.

२०. Ms. separates समनार्थता and नामा°,

२१. Ms. Gives so. Reading doubtful.

२२. Ms. °न°

२३. Ms. °नी

२४. °रोमा च—Ms.

२५. Ms. here gives निमित्तः।

(१३) मित्रस्वजनसम्बन्धिसङ्घातानामन्योन्याविप्रयोजनाद् विप्रयुक्तनां च सत्त्वानां[२६] ब्रह्मचर्यं समादानाद् गुह्यमन्त्ररक्षणाच्च[२७] **कोशावहितवस्तिगुह्यस्तद्**बहुपुत्रतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(१४-१५) प्रणीतानामुपास्तरणप्रावरणनिवसनानां प्रसादविमानभवनानां च दाना**त्सुवर्णवर्णः श्लक्ष्णछविश्च**, तदुभयं प्रणीतानामेवोपास्तरणप्रावरणनिवसनानां प्रसादविमानभवनानां च प्रतिलब्धये पूर्वनिमित्तम्[२८] ।

(१६-१७) संगणिकापरिवर्जनादुपाध्यायाचार्यमातापितृभ्रातृप्रभृतीनां च गुरूणां यथानुरूपोपस्थाननिवेशनात्तदध्यक्षा(?)प्रदानाच्चाविकृताना**मेकैकप्रदक्षिणावर्तरोम**[२९] **ऊर्णाङ्कितमुखश्च,** तदप्रतिसमतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(१८-१९) अमुखरवचनादनवसादनात् प्रियवादित्वात् सुभाषितानुलोमत्वाच्च **सिंहपूर्वार्धकायः सुसंवृत्तस्कन्धश्च,** तदप्रतिहृनायाः[३०] पूर्वनिमित्तम् ।

(२०-२१) व्याधितेभ्यो भैषज्यपरिचारकचिकित्सकपथ्यभोजनानां प्रदानादुपस्थानाच्च **चितान्तरांसः रसरसज्ञश्च.** तदल्पाबाधतायाः[३१] पूर्वनिमित्तम् ।

---

२६. सत्वानां—Ms. here and at many places it gives 'सत्व' instead of 'सत्त्व' ।

२७. Is this Tantric influence ? Cf. also : कोशगतवस्तिगुह्यता तथागतस्येद महापुरुषस्य महापुरुषलक्षणं पूर्वं गुह्यमन्त्ररक्षणतया मैथुनधर्मप्रतिविसर्जनतया च निर्वृत्तम् । Asū, p. 57. Also cf. *Āloka*, Commentery on *Aṣṭasāhsrikaprajñāpārāmitā* p. 537 (P. L. Vaidya ed.)

२८. निमित्तः—Ms.

२९. °रोमा—Ms.

३०. Ms. *sic*. Meaning not clear. Ms. seems to be corrupt and some word or words seem to be missing.

३१. On अल्पाबाधता, see BHSD, p. 64 which renders it "state of being (almost) free from disease". See also Pali अप्पाबाधता "good health, freedom for illness". Genereally it comes with अप्पातङ्क, synonymous word. See PTSD, p. 56.

(२२-२३) आरामसमाश्र[३२]योद्यानदुर्गसंक्रमभक्तमाल्यविहारावसथविहारकरणप्रभृतिषु परेषामुत्साहनपूर्वंगमत्वात् परेभ्योऽभ्यधिकप्रदानाच्च **न्यग्रोधपरिमण्डल उष्णीषशिरश्च**[33] तदाधिपत्यप्रतिलम्भाय पूर्वनिमित्तम् ।

(२४-२५) दीर्घरात्रश्लक्ष्णप्रियमधुरवचनाभिधानात् **प्रभूतजिह्वो ब्रह्मस्वरश्च** तत्पञ्चाङ्गवाक्यथापेतः[34] पुनः स्वरः आज्ञयो (?) विज्ञेयः श्रवणीयो नप्रतिकूलः गम्भीरोऽनुनादी अनेलः कर्णसुखो विदुर[न][35]वकीर्ण इति ।

(२६) दीर्घरात्रं सम्भिन्नप्रलापविरतेः[३६] कालवादित्वाच्च **सिंहहनुस्तदादेयवाक्य**-[३७] तायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(२७-२८) सम्मानताऽधिकमानताभ्यां परिशुद्धा[३८]जीवत्वाच्च **सुशुक्लदन्तः समदन्तश्च,** तत्पूर्वोपचितपरिवारतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(२९-३०) दीर्घरात्रं सत्यस्यापिशुनस्य समुदाचाराद**विरलदन्तः समचत्वारिंशद्दन्तश्च,** तदभेद्यपरिवारतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

(३१-३२) परिपक्वमानस्येवानवसादयमानस्यारक्तेनाद्विष्टेनामूढेन[३९] चक्षुषा दर्शनाद**भिनीलनेत्रो गोपक्ष्मनेत्रश्च**, तत्समन्त[४०]प्रासादिकतायाः पूर्वनिमित्तम् ।

इमान्युच्यन्ते द्वात्रिंशत् महापुरुषलक्षणानि । एतैर्लक्षणैस्तथागतस्य कायः शोभति ।

---

३२. Ms. seems to read °सभाश्रय°

३३. °शिराश्च—Ms.

३४. Can it be separated: °वाक् + यथोपत. On पञ्चाङ्गस्वर of the Buddha, see *Abhidharmadipa-vṛtti* (ed. P. S. Jaini), p. 184 :— गम्भीरवल्गुहृदयङ्गमविस्पष्टश्रवणीयपञ्चाङ्गोपेतस्वरत्वाद् ब्रह्मस्वराः (बुद्धाः) ।

३५. Ms. omits "न".

३६. Ms. omits visarga.

३७. On आदेय, see आदेयवचन—"pleasing, agreeable speech", BHSD, p. 94.

३८. °द्धजीव°—Ms. Cf. *Aloka*, p. 534.

३९. °द्विष्टेनमूढेन—Ms.

४०. On समन्तप्रासादिकता, see *Asū. Nibandhana*, p. 306.

The *Arthaviniścaya-sūtra's* original Ms. contained महानारायणशरीरसमन्तप्रासादिकता as the 33rd लक्षण. See notes, Asū., pp. 55, 62.

[अशीत्यनुव्यञ्जनानि]

तथागतस्य अशीत्यनुव्यञ्जनानि कथ्यन्ते।

(१) **ताम्रनखा** बुद्धा भगवन्तो भवन्ति, सर्वसंस्कारविरक्तचित्ताः।

(२) **स्निग्धनखाश्च** भवन्ति, स्निग्धस्वजनवत्सर्वसत्त्वहितसुखाध्या[श]-यचित्ताः।

(३) **तुङ्गनखाश्च** भवन्ति, तुङ्गकुशलवंशप्रसूताः।

(४) **वृत्ताङ्गुलयश्च** भवन्ति, वृत्ततोऽनवद्याः।

(५) **चिताङ्ग[४१]लयश्च** भवन्ति, उपचितविपुलकुशलमूलाः।

(६) **अनुपूर्वाङ्गुलयश्च** भवन्ति, अनुपूर्वसमुपार्जितकुशलमूलाः।

(७) **गूढशिराश्च**—भवन्ति, सुनिगूढकायवाङ्मनस्कर्मान्ताजीवाः।

(८) **निर्ग्रन्थिशिराश्च** भवन्ति, क्लेशग्रन्थिभेदकराः।

(९) **गूढगुल्फाश्च** भवन्ति, सुनिगूढधर्ममतयः।

(१०) **अविषमपादाश्च** भवन्ति, सर्वविषमनिस्तारयितारः।

(११) **सिंहविक्रान्तगामिनश्च** बुद्धा भवन्ति, नरसिंहाः।

(१२) **नागविक्रान्तगामिनश्च** भवन्ति, नरनागाः।

(१३) **हंसविक्रान्तगामिनश्च** भवन्ति, राजहंससदृशवैहायसगामिनः।

(१४) **वृषभविक्रान्तगामिनश्च** भवन्ति, पुरुषर्षभाः।

(१५) **प्रदक्षिणवर्तगामिनश्च** भवन्ति, प्रदक्षिणमार्गाः।

(१६) **चारुगामिनश्च** भवन्ति, चारुदर्शनाः।

(१७) **अवक्रगात्राश्च** भवन्ति, नित्यमवक्रचित्ताः।

(१८) **वृत्तगात्राश्च** भवन्ति, विशुद्धगुणख्यापयितारः।

(१९) **मृष्टगात्राश्च** भवन्ति, प्रमृष्टपापधर्माणः।

---

४१. चित्ता°—Ms.

(२०) **अनुपूर्वगात्राश्च** भवन्ति, अनुपूर्वदेशिकाः ।

(२१) **शुचिगात्राश्च** बुद्धा भवन्ति, कायवाङ्मनःशौचसमन्वागताः ।

(२२) **मृदुगात्राश्च** भवन्ति, स्वभावमृदुचित्ताः ।

(२३) **विशुद्धगात्राश्च** भवन्ति, स्वभावविशुद्धचित्ताः ।

(२४) **परिपूर्णव्यञ्जनाश्च**[४२] भवन्ति, सुपरिपूर्णधर्मविनयाः ।

(२५) **पृथुचारुमण्डलगात्राश्च** भवन्ति, पृथुचारुगुणाख्यातारः ।

(२६) **समक्रमाश्च** भवन्ति, सर्वसत्त्वसमचित्ताः ।

(२७) **विशुद्धनेत्राश्च** भवन्ति, सुविशुद्धदर्शनाः ।

(२८) **सुकुमारगात्राश्च** भवन्ति, सुकुमारधर्मदेशिकाः ।

(२९) **अदीनगात्राश्च** भवन्ति, नित्यमदीनचित्ताः ।

(३०) **उत्सदगात्राश्च** भवन्ति, उत्सन्नाकुशलमूलाः ।

(३१) **सुसंहतना[भय]श्च** भवन्ति, क्षीण[४३]पुनर्भवसहगताः ।

(३२) **सुविभक्ताङ्गप्रत्याङ्गाश्च** भवन्ति, सुदेशितप्रतीत्यसमु[४४]त्पादाङ्गप्रत्यङ्गाः ।

(३३) **वितिम्रशुद्धालोकाश्च** भवन्ति, सुविशुद्धदर्शनाः ।

(३४) **वृत्तकुक्षयश्च** भवन्ति, वृत्तसम्पन्नशिष्याः ।

(३५) **मृष्टकुक्षयश्च** भवन्ति, प्रमृष्टसंसारदोषाः ।

(३६) **नभग्नकुक्षयश्च** भवन्ति, भग्नमानशृङ्गाः ।

(३७) **क्षामोदराश्च** भवन्ति, धर्मक्षयविनिवर्तयितारः ।

(३८) **गम्भीरनाभयश्च** भवन्ति, प्रतिविद्धपरमगम्भीरधर्माणः ।

---

४२. Edgerton translates परिपूर्णव्यञ्जन as "Sex organs complete". See अनुव्यञ्जन in BHSD, p. 34.

४३. क्षीन—Ms.

४४. It is interesting to find a reference to the preaching of *aṅgas* of प्रतीत्यसमुत्पाद in the expln. of this अनुव्यञ्जन. Cf. सुविभक्तप्रतीत्यसमुत्पाददेशकत्वेन सुविभक्ताङ्गप्रत्यङ्गता *Āloka*,, p. 539.

(३९) **प्रदक्षिणावर्तनाभयश्च** भवन्ति, प्रदक्षिणग्राह्यपपन्नशिष्याः ।

(४०) **समन्तप्रासादिकाश्च** भवन्ति, समन्तप्रासादिकशिष्यसंघाः ।

(४१) **शुचिसमाचाराश्च** तथागता भवन्ति, परमशुचिचित्ताः ।

(४२) **व्यपगततिलकगा[त्रा]श्च** भवन्ति, व्यपगताकालोपदेशधर्मविनयाः ।

(४३) **तूलसदृशसुकुमारपाणयश्च** भवन्ति, तूलसदृशकाय[४५]लाघवप्रतिलाभधर्मदेशिकाः ।

(४४) **स्निग्धपाणिलेखाश्च** भवन्ति, स्निग्धस्वजनभावप्रतिलब्धमहाश्रवणभावाः ।

(४५) **गम्भीरपाणिलेखाश्च** भवन्ति, परमगम्भीरधीरावस्थानाः ।

(४६) **आयतपाणिलेखाश्च** भवन्ति, आयति[४६]क्षमधर्माख्यातारः ।

(४७) **नात्यायतवदना[४७]श्च** भवन्ति, नात्यायतशिक्षापदप्रज्ञापयितारः ।

(४८) **बिम्बप्रतिबिम्बदर्शनवदनाश्च** भवन्ति, प्रतिबिम्ब[व][४८]द्विसर्जितसर्वलोकाः ।

(४९) **मृदुजिह्वाश्च** भवन्ति, मृदुपूर्वविनयितारः ।

(५०) **तनुजिह्वाश्च** भवन्ति, अतनुगुणोपपन्नाः ।

(५१) **रक्तजिह्वाश्च** बुद्धा भवन्ति, रक्तबालजनदुरवगाहधर्मविनयाः ।

(५२) **गजगर्जितजीमूतघोषाश्च** भवन्ति, गजगर्जितजीमूतघोषे[४९]स्वपरित्रासाः ।

---

४५. Cf. कायलहुता as one of the *kusala-cetasika* in Pali Abhidhamma. Cf. *Abhidhammatthasangaha* (Kosambi ed), p. 27. Cf. कायादिलाघवप्रापकधर्मदेशकत्वेन तूलसदृशसुकुमारपाणिता, *Ālokā*, p. 539.

४६. 'क्षम' here means 'endurance'. Is it a misreading for 'क्षय'? It may refer to [आयति]क्षयानुत्पादज्ञानलाभ. See *Asū. Nibandhana* on this term, p. 178.

४७. °वचना°—Ms.

४८. Ms. does not give 'व'. This is my emendation.

४९. Cf. *Anguttaranikaya*, Vol. 1. p. 72, where it is stated that a lion and a *Khināsava bhikkhu* do not fear the fall of thunderbolt (असनि). This fearlessness is a characteristic of Arhats and Buddhas. Cf. सर्वत्रासापगतत्वेन मेघगर्जितघोषता (text-wrongly °दोषता)—*Āloka*, p. 540.

(५३) **मधुरचारुमञ्जुस्वराश्च** भवन्ति, मधुरचारुमञ्जुस्वरप्रलापशिष्याः।

(५४) **वृत्तदंष्ट्राश्च** भवन्ति, वृत्तभवसमयोजनाः(?)।

(५५) **तीक्ष्णदंष्ट्राश्च** भवन्ति, तीक्ष्णजनविनयकुशलाः।

(५६) **शुक्लदंष्ट्राश्च** भवन्ति, परमशुक्लधर्मविनयाः।

(५७) **समदंष्ट्राश्च** भवन्ति, समभूमिभागप्रतिष्ठिताः।

(५८) **अनुपूर्वदंष्ट्राश्च** भवन्ति, अनुपूर्वाभिसमयदेशयितारः।

(५९) **उत्तुङ्गनासाश्च** भवन्ति, प्रज्ञा[५०]तुङ्गपर्वतस्थाः।

(६०) **शुचिनासाश्च** भवन्ति, शुचिनयजनसंप्रतिपन्नाः[?]।

(६१) **विशालनयना बुद्धा** भवन्ति, परमविशलेक्षणबुद्धधर्माणः।

(६२) **चितपक्ष्माणश्च** भवन्ति, चित[५१]सत्त्वकायाः।

(६३) **सितासितकमलनयनाश्च** भवन्ति, सितासितकमलदलनयनाभिः प्रबल-सुरासुरयुवतीभिरभिनन्दिताः।

(६४) **आयतभ्रुवश्च** [भवन्ति][५२], नित्यमायतिदर्शिनः।

(६५) **श्लक्ष्णभ्रुवः** [च भवन्ति], शुक्लविनयकुशलाः।

(६५) **समरोमभ्रुवश्च** भवन्ति, समन्तदोषज्ञाः।

(६७) **स्निग्धभ्रुवश्च** [भवन्ति], कुशलमूलोपस्नेहस्निग्धसन्तानजनविनयाः।

(६८) **पीनायतभुजा** भवन्ति, पर[५३](?)पीनायतबाहवः।

(६९) **समवर्णा** भवन्ति, जितसमराः।

---

५०. Cf. पञ्ञापासादमारुय्ह, असोको सोकिनं पजं।
पब्बतट्ठो व भूमट्ठे धीरो बाले अवेक्खति ॥ *Dhammapada*, गाथा २८. Cf. also प्रज्ञाप्रकर्षस्थापकत्वेन तुङ्गनासता, *Āloka*, p. 540.

५१. On 'चित', see BHSD, p. 229. Edgerton gives many meanings of this word e. g. 'piled up', 'thick', 'dense', 'stout', "full, large". Does it mean that the Buddhas have large or stout bodies (सत्त्वकाय) ?

५२. भवन्ति omitted here as in nos. 65, 67, 71, 74 also.

५३. Reading not clear.

(७०) **अनुपहितकर्णेन्द्रिया** बुद्धा भवन्ति, अनुपहृतसत्त्वविनायकाः ।

(७१) **सुपरिणामितललाटाश्च** [भवन्ति], सर्वदृष्टिकृतविपरिणताः ।

(७२) **पृथुललाटाश्च** भवन्ति, श्रमणब्राह्मणपरवादिप्रमथना. ।

(७३) **सुपरिपूर्णोत्तमाङ्गाश्च** भवन्ति, सुपरिपूर्णोत्तमप्रणिधानाः ।

(७४) **भ्रमरसदृशकेशाश्च** [भवन्ति], विषयभ्रमररतिव्यावर्तिकाः ।

(७५) **चितकेशाश्च** भवन्ति, अपचितदर्शना[५४] भावनाप्राहृतव्यानुशयाः[५५] ।

(७६) **श्लक्ष्णकेशाश्च** भवन्ति, श्लक्ष्णबुद्धिभिर्ज्ञातशासनसाराः ।

(७७) **असंलुडितकेशाश्च** [भवन्ति], नित्य [म]संलुडितचेतनाः[५६] ।

(७८) **अपरुषकेशा** भवन्ति, नित्यमपरुषवचनाः ।

(७९) **सुरभिकेशा** भवन्ति, सुरभिबोध्यङ्गकुसुमप्रदक्षिणावर्तितजनाः ।

(८०) **श्रीवत्सस्वस्तिकनन्द्यावर्तसुललितपाणिपादतलाश्च** बुद्धा भगवन्तो भवन्ति, श्रीवत्सस्वस्तिकनन्द्यावर्तसुललितपाणिपादशोभाः[५७] ।

एतान्युच्यन्ते अशीत्यनुव्यञ्जनानि बुद्धानाम् । एतैरेवाशीत्यनुव्यञ्जनैस्तथाग[त]स्य कायः समन्वागतो भवति निश्चितम् ।

---

५४. Cf. Pali अपचित = "honoured, worshipped", PTSD, p. 57. Also cf. BHS form अपचित = "honour, respect", BHSD, p. 43. But Sanskrit अपचित conveys the meaning of "diminished, emaciated, thin". See SED (Monier Williams), p. 48. Ms. joins °दर्शना to भावना°.

५५. It is interesting to note a reference to philosophical terminology viz. भावनाप्राहृतव्यानुशय. It is possible that the original reading may he अपचितदर्शनभावनाप्राहृतव्यानुशयाः where अपचित may have usual Sanskrit connotation, and the copyist without understanding the meaning separated दर्शन and भावना, lengthening the last vowel in दर्शन. We find various references in Abhidharma texts in which अनुशयs are destroyed by दर्शन and भावना, for which see *Abhidharmadīpavṛtti*, p. 228. Cf. also explanation of this अनुव्यञ्जन in *Āloka* : प्रहीणदर्शनभावनाप्राहृतव्यानुशयत्वेन चितकेशता । (p. 540).

५६. Ms. omits 'म'. This is my emendation. See also the next अनुव्यञ्जन.

५७. On this *anuvyañjana*, see Asū, p. 66, *Asū. Nibandhana*, p. 308 and also note no. 6, *ibid*. See also *Sumaṅgalavilāsini*, Vol. II. p. 135 (Nalanda ed.).

खसमतन्त्रस्य

आचार्यरत्नाकरशान्तिविरचिता

खसमा-नामटीका

सम्पादकः

प्रो. जगन्नाथ उपाध्यायः

पालि एवं थेरवादविभागः

श्रमणविद्यासंकायः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्राक्कथन

खसमा टीका[1] **के रचयिता आचार्य रत्नाकर शान्ति हैं। रत्नाकर शान्ति, शान्तिपा या शान्ति नाम से भी प्रसिद्ध हैं। खसमतन्त्र**[2] **की यह बहुत सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण टीका है,** जिसका संस्कृत रूप मुझे नेपाल राष्ट्रीय अभिलेखालय में मिला था। इसके पूर्व यह ग्रन्थ सर्वथा अनुपलब्ध था। जहाँ तक मैं खोज सका, इस टीका का मूल ग्रन्थ खसमतन्त्र अभी भी संस्कृत में अनुपलब्ध है। खसमतन्त्र का मूल संस्कृत रूप न मिलने पर भी उसका भोट भाषा का अनुवाद उपलब्ध है[3]। टीका का भी भोटानुवाद उपलब्ध है।

आगे चलकर के मूल मिलने पर खसमतन्त्र का संस्कृत रूप प्राप्त होगा या अपभ्रंश अथवा अंशतः दोनों में, इसका अन्तिम रूप से निर्णय करना अभी कठिन है, क्योंकि मात्र इदानीं उपलब्ध भोट अनुवाद से यह निर्णय लेना कि इसका मूल संस्कृत में था या अन्य भाषा में एक कठिन कार्य है। इस स्थिति पर खसमा टीका से कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इस टीका ग्रन्थ में अपभ्रंश के ऐसे प्रतीकों को भी ग्रहण कर उनका व्याख्यान किया गया है, जिनका सन्निवेश ग्रन्थ में होना ही चाहिए। किन्तु इसके साथ ही इस संस्कृत टीका का जब उसके भोटानुवाद से पाठ मिलाया गया, तो उसमें उन अंशों का भोट-अनुवाद नहीं मिलता, जहाँ अपभ्रंश दोहों के चरण, पाद, अक्षर आदि का परिगणन किया गया है, अथवा अपभ्रंश शब्दों की अपभ्रंश व्याकरण के आधार पर व्युत्पत्ति दी गयी है। इसके आधार पर यह निर्णय लेना भी उचित नहीं होगा कि भोटानुवादक ने मूल ग्रन्थ में स्थित अपभ्रंश अंश का अनुवाद ही नहीं किया अथवा जिस प्रति का उसने अनुवाद किया, उसका मूल एकमात्र संस्कृत में या अपभ्रंश में नहीं था। क्योंकि इसके विपरीत टीकाकार ने अपभ्रंश के प्रतीकों को ग्रहण कर विषय को किंचित् मात्र नहीं छोड़ा है। यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट होगी कि मूल ग्रंथ दोहों में था, उसका संस्कृत छायानुवाद किया गया और पुनः उस छायानुवाद का भोट भाषा में अनुवाद हुआ।

---

1. Tohoku Catalogue No. 1424, Peking Ed. Vol. 51, No. 2141, P. 142-4-5.
2. Tohoku Catalogue No. 386, Peking Ed. Vol. 3, No. 80, P. 173-102.
3. Hajime Nakamura के Indian Buddhism पृष्ठ 341 की सूचनानुसार खसमतन्त्र का संस्कृत एवं भोट भाषा दोनों में सम्पादन G. Tucci ने Festschrift weller 762. F. में किया है। परन्तु यह अभी मेरे देखने में नहीं आया।

आचार्य रत्नाकर शान्तिपाद का कार्यकाल प्रायः निश्चित है। यह पाल काल में चणक या महीपाल के राज्य में ९७४ से १०२६ ई० के बीच अथवा ९७८ से १०३० के बीच विद्यमान थे। इनके समकालीन आचार्यों में मुख्यरूप से जितारि, दीपङ्कर श्रीज्ञान, अवधूतीपा, अभयाकर गुप्त, प्रज्ञाकरमति, अद्वयवज्र, नारोपा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। मगध के उडन्तपुरी (वर्तमान विहार शरीफ) में इनकी जन्मभूमि थी। इनकी प्रारम्भिक दीक्षा सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में हुई। विक्रमशिल में जितारि (प्राय: ९८० ई०) और नारोपा इनके गुरु थे। उनसे इन्होंने अनेक शास्त्र पढ़े। शास्त्रीय विद्वत्ता के अतिरिक्त इन्होंने योग तन्त्र के क्षेत्र में भी अदभुत प्रवीणता प्राप्त की। इसके लिए मालवा प्रदेश में जाकर इन्होंने ७ वर्षों तक कठिन योगाभ्यास भी किया। मालवा से विक्रमशिल लौटने पर सिंहल देश के राजदूत ने धर्म प्रचार के लिए इन्हें श्रीलंका निमन्त्रित किया। उसके आग्रह को स्वीकार कर इन्होंने छः वर्षों तक सिंहल द्वीप में धर्मप्रचार का कार्य किया। तारानाथ के अनुसार सिंहल जाते समय रामेश्वरम के समीप एक विशिष्ट यात्री को शिष्य बनाया, जो आगे चलकर सिद्धों में कुठालिपा का कुदारिपा नाम से प्रसिद्ध हुए। सिंहल से लौटने पर महाराज महीपाल की प्रार्थना पर विक्रमशील विश्वविद्यालय के पूर्वद्वार के पण्डित पद पर प्रतिष्ठित हुए। तिब्बती परम्परा के अनुसार बाद में आचार्य ने इस विश्वविद्यालय के अध्यक्ष पद को भी अलंकृत किया। तारानाथ के अनुसार प्रारम्भ में यह सुप्रसिद्ध सोमपुरी विहार के स्थविर-अध्यक्ष भी रह चुके थे।

आचार्य रत्नाकरशान्ति दर्शन के साथ योग एवं तन्त्र क्षेत्रों के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार इनके दर्शन ग्रन्थों की संख्या ९ है और तन्त्र पर २३ ग्रन्थ मिलते हैं। विनयतोष भट्टाचार्य ने साधन माला की अपनी भूमिका में इनके १८ तन्त्र ग्रन्थों के नामों का उल्लेख किया है। इनकी विद्वत्ता की ख्याति न्याय और व्याकरण के क्षेत्र में भी थी। छोजुङ् में तिब्बती विद्वान् पद्‌माकरपो ने इन्हें व्याकरण और न्याय का महान् पण्डित स्वीकार किया है।

रत्नाकरशान्ति विज्ञानवादी थे और उसमें भी निराकार विज्ञानवाद के पक्षधर थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को तिब्बत से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ-समूह में अद्वयवज्र की एक जीवनी से सम्बन्धित दो विच्छिन्न पत्र प्राप्त हुए थे, जिन्हें उन्होंने अपने दोहाकोश के परिशिष्ट में प्रकाशित कर दिया है।[४] उससे ज्ञात होता है कि अद्वयवज्र ने रत्नाकर शान्ति के पास रहकर एक वर्ष तक विज्ञानवाद की निराकारवादी व्यवस्था का अध्ययन किया था। इसका समर्थन रत्नाकरशान्ति के वज्रतारासाधन[५] से भी होता है।

४. परिशिष्ट सं० ६ पृष्ठ ४६९, दोहा कोश— सं० महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना—१९५७.

५. साधनमाला—सं० विनयतोष भट्टाचार्य. G.O.S. No-26. भाग–१. साधन सं० ११०, पृ० २२४.

गगनोपम अद्वय-विज्ञप्ति के साक्षात्कार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने जो विशेषण दिए हैं, वे हैं—"भ्रान्तिसमारोपितं भ्रान्तिचिह्नं सर्वधर्माणामाकारमपहाय तेषां प्रकृतिमेव केवलां अद्वयविज्ञप्तिलक्षणां शुद्धस्फटिकसंकाशां शरदमलमध्याह्न-गगनोपमां अनन्तां पश्येत् ।" इस प्रकार आचार्य ने ज्ञान में प्रतिभासित होने वाले आकार को मिथ्या स्वीकार किया है। इस दृष्टि से चर्यागीतिकोष[६] में उद्धृत इनके दोहों का अभिप्राय भी मिथ्याकारवाद के साथ अधिक संगत होता है। इनके दार्शनिक गुरु आचार्य जितारिपाद सुप्रसिद्ध निराकारवादी थे।

प्राचीन आचार्यों में रत्नाकर शान्ति का इस अर्थ में विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है कि इन्होंने ऐसे ग्रन्थों की विज्ञानवादी व्याख्या की, जिन्हें सामान्यतः शून्यवादी धारा का माना जाता है। ऐसे ग्रन्थों में अभिसमयालंकार की उनकी टीका और पिण्डार्थ सुप्रसिद्ध हैं। जिसका मूल संस्कृत में नहीं, भोटानुवाद मात्र उपलब्ध है। इस खसमा टीका को भी आचार्य ने विज्ञानवाद, तत्रापि निराकारवाद के अनुकूल ही लिखा है। इनके सम्पूर्ण पक्षों पर अलग से एक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है, जो संकाय पत्रिका के अगले अंक में प्रकाशित किया जाएगा।

भोट सम्बन्धी कार्य में मेरे छात्र पण्डित श्री जितासेन नेगी तथा श्री बनारसीलाल ने सहायता की है। उन दोनों के लिये स्नेह-प्रकाश करने में मुझे हार्दिक संतोष मिलता है।

—जगन्नाथ उपाध्याय

---

६. चर्यागीति कोष—सं प्रबोधचन्द्र बागची एवं शान्ति भिक्षु शास्त्री विश्व-भारती, शान्तिनिकेतन 1956,
च० गी० नं० १५ पृ० ५१, च० गी० नं० २६ पृ० ८६.

संकेत-सूची

भो०	भोटभाषानुवाद
क.	पाण्डुलिपि की प्रति रील नं० A 142/99 (देवनागरी) (नेपाल राष्ट्रीय अभिलेखालय)
ख.	पाण्डुलिपि की प्रति रील नं० B 25/8 (भुज्जिमोल-नेवारी) (नेपाल राष्ट्रीय अभिलेखालय)
B.S.T.	Buddhist Sanskrit Text. (Mithila Institute Darbhanga)
G.O.S.	Gaekward's Oriental Series.

खसमतन्त्रस्य

आचार्यरत्नाकरशान्तिविरचिता

खसमा-नामटीका

॥ ॐ नमो वागीश्वराय[1] ॥

कायैस्त्रिभिरपि खसमं परमाद्यं प्रणमता तदर्थस्य ।
तन्त्रस्य मया क्रियते टीका खसमस्य खसमैव ॥

इह वज्रधरो भगवान् सर्वबुद्धानां बोधिः । सा चाश्रयपरावृत्तिलक्षणा । आश्रयः शरीरं स तेषां[2] त्रिविधः । तत्र चित्तसन्तानलक्षणस्याश्रयस्य यावत् सांक्लेशिकधर्मबीजानां तद्वासनानां दौष्ठुल्याख्यानामाधारस्तावदालयाख्यस्य पश्चादार्यमार्गेण निष्प्रपञ्चेन चिरभावितेन तासां परिक्षयादनालयाख्यस्य सतः प्रतिष्ठा देहभोगनिर्भासानां विज्ञप्तीनामितरेषां च सांक्लेशिकानां धर्माणामुत्पन्नामस्तंगमादनुत्पन्नानां चात्यन्तमनुत्पादात्तेनात्मना निवृत्तिनियमः । विशुद्धगगनोपमेन तु निष्प्रपञ्चेन प्रकाशात्मनाऽनन्तेन [3]प्रवृत्तिनियमः परावृत्तिः । सा बुद्धानां दौष्ठुल्याश्रयपरावृत्तिः । सैव तेषामनास्रवो धातुरुच्यते, अनाश्रवाणां बुद्धधर्माणां बीजाधारत्वात्[4] । सोऽपि मार्गस्तेषामाश्रयः । तस्य परावृत्तिर्लौकिकेन रूपेणात्यन्तिकी निवृत्तिः, लोकोत्तरेण चात्यन्तिकेन प्रवृत्तिः । सर्वधर्मतथतापि तेषामाश्रयः । तस्य परावृत्तिरागन्तुकसर्वावरणविशुद्धिरात्यन्तिकी । येयं बुद्धानां दौष्ठुल्याश्रयस्य मार्गाश्रयस्य तथताश्रयस्य च परावृत्तिः सैव तेषां बोधिः, सैव धर्मकायः । बुद्धधर्माणां काय आश्रय[5] इति कृत्वा स्वाभाविकः काय इत्यप्युच्यते[6], तथताप्रकाशयोः स्वरूपेऽत्यन्तमवस्थानात् । तदयं बुद्धबोधिलक्षणो भगवान् वज्रधरः प्रकृत्या खसमः । प्रकृतिरस्य स्वाभाविकः कायः, तेन खसम एव, निराभासानन्तसुविशुद्धप्रकाशानां तथतास्वभावत्वात् । सांभोगिकेन यद्यप्याकारवैचित्र्याद्यथाकारं नैव खसमः, तथापि यथाप्रतिभासं खसम एव । धर्मकायो हि खसमेन

---

१. भो० भगवान् श्रीवज्रसत्त्वाय । २. भो० 'तेषां' नास्ति । 'स च'···· अस्ति ।
३. भो० 'प्रवृत्ति' नास्ति । ४. भो० SA-BON-HZIN-PAHI PHYIR-RO.
५. भो० SKUHI RTEN. ६. क. इत्युच्यते ।

तत्त्वेन धर्मानिनावृतोऽनुभवति[1] संभोगकायस्तथैव परिच्छिनत्ति, अनुभवस्य निष्पन्दत्वात्[2]। कथं च तथा परिच्छिनत्ति ? ग्राह्यग्राहकतत्प्रतिभासानामसत्तया परिच्छेदात्। तद्यथा बालानां घटाद्यनुभवनिष्पन्दो निश्चयः सत्तया। यथा च बालानां घटाकारः पटीयाननुभवः [3]सत्ताजल्पनमन्तरेणापि सत्तयैव परिच्छिनत्ति प्राक्तननिश्चयाभ्यास[4]-वासनाबलात्; तथा बुद्धानामकल्पकोऽपि[5] संभोगकायः स्वमाकारमसत्तयैव परिच्छिनत्ति। स एव परिच्छेदः प्रतिभासशब्देनात्र विवक्षितः। द्विविधो हि प्रतिभासः – संवेदनमुपलक्षणं च। तस्मात् संभोगकायोऽपि बुद्धानां यथाप्रतिभासं खसम एव। निर्माणकायस्तु सुतरां खसमः मायाकारैरपि स्वयं निर्मितस्य पुरुषादेरसत्तयैव परिच्छेदात्। स च वज्रधरो जनकः सर्वबुद्धानाम्। तेऽपि खसमास्तन्निष्पन्दत्वादिति सिद्धान्तः।

एतस्मिन् सिद्धान्ते चोद्यम्। नैव वज्रधरो बुद्धानां जनकः। किं तर्हि ? बुद्धपुत्रः। पञ्चबुद्धमुकुटत्वात्। तस्य तेषां देवीचक्रस्य च कायवाक्चित्तयोगात् प्रपञ्च एवायं प्रपञ्चनयप्रवर्त्तकश्च। नैव खसमो नापि खसमनयप्रवर्त्तक इति। एतच्चोद्यं परिहर्त्तुमाह– **पञ्चबुद्धे**त्यादि। [अत्र श्लोकौ—

इह द्वित्रिचतुःपञ्चषड्मात्रः पञ्चधा गणः।
प्रायेण द्विपदीवृत्तं पादस्त्रिचतुरैर्गणैः॥
अपभ्रंशस्तु भाषात्र विकारः संस्कृतस्य च।
पूरणं ह्रस्वदीर्घत्वविन्दुद्रुतविलम्बितैः॥

द्विपदीखण्डं वस्तुकमिति पर्यायः। तत्र प्रथमायां द्विपदिकायां त्रिगणाः पादाः। अयुक्षादय[6] आद्यो गणः षण्मात्रः, द्वितीयो द्विमात्रः, शेषाश्चतुर्मात्राः। च शब्दोऽलुप्तचकारो भिन्नक्रमः। हो शब्दौ द्वौ। एको उस[7] आदेशः। द्वितीयः खलु शब्दार्थ (:) मव्ययं (:) संबोधनार्थं वा। होशब्दयोरोकारस्य ह्रस्वत्वं पूरणार्थम्। तथाहि अपभ्रंशे ह्रस्वत्वमर्द्धक्षेप एदोतोर्युक्तवर्णयोश्च यथादर्शनम्। **जइ के वि जइ को वि। जइ पि उ** इत्यादिवत्। तत्रैवं सम्बन्धः पञ्चबुद्धा मुकुटाश्रया यस्य त्रिभुवनं च सारः, अथवा स्त्री[8]

१. भो० CHOS-DE SGRIB-PA, MED PA क. त्तो।
२. भो० ÑAMAS SŪ-MYOṄ BA DAṄ RGYU MTHUN PAHI PHYIR-RO. ३. भो० 'सत्ता' नास्ति। ४. भो० 'अभ्यास' नास्ति।
५. क. कल्पोऽपि। ६. ख. अयुक्षादयोराद्यो। ७. ख. इु। ८. क. त्रि।

भुवनं च सारः। आदिबुद्धकृतभावस्य तस्य खलु खसमप्रचार इति।][1] मुकुटाश्रया इति [2]मुकुटस्थाः, यस्येति वज्रसत्वस्य। त्रीणि कायवाक्चित्तगुह्यानि योगिनां[3] मण्डलसंगृहीतानि त्रिभुवनम् अथवा स्त्रीति योगिन्यस्तासां भुवनं मण्डलं स्त्रीभुवनं[4] तच्च यस्य सारो विभवः, वज्रनयत्वात्। यथोक्तं श्रीगुह्यसमाजे—

मोहे द्वेषे च रागे च सदा वज्रे रतिः स्थिता।
उपायः सर्वबुद्धानां वज्रयानमिति स्मृतम्[5]॥ [गु. स. १८.५१]

षण्णां चक्रवर्तिनामाद्यत्वाद् आदिबुद्धो वज्रसत्वः। चक्रवर्तित्वादेव समुकुटः समण्डलश्च स कृतः कृतकः सांवृतो भावोऽस्येति तथोक्तः। इत्थंभूतस्य सतः तस्य योऽयं प्रचारो व्यवहारः संवृतिः स्वकायवाक्चित्तमुकुटबुद्धादिः स सर्वस्तस्य खसमः खसमत्वेन प्रतिभासात्। कथम्? आकाराणामसत्तया परिच्छेदात्। तस्मादयं भगवान् स्वयं च खसमः, खसमस्य च वज्रनयस्य प्रवर्तकः। स्वमुकुटबुद्धसंवृतिरपि[6] तेनैव कृता। किं पुनः? स्फुरणबुद्धाः[7]। तस्मात् जनक एवासौ बुद्धानाम्।

ननु बुद्धपुत्रोऽप्यसावुच्यते। तत्कथम्? कदाचिद् बोधिसत्त्वरूपत्वात्, बोधिसत्त्वानां बुद्धसुतत्वात्। ननु मन्त्रनीतौ भगवतः कायवाक्चित्तानि मण्डलं च[8] भाव्यते। ततो निराभासस्य धर्मकायस्य नैव प्राप्तिः। तदप्राप्तौ तदाश्रितयोः संभोगनिर्माणकाययोः सुतरामप्राप्तिः। अथान्यथैव तस्य भावना सा तर्हि कथ्यतामित्याह—[**जइ** इत्यादि। अत्र गणाश्चतुर्मात्रा एव अयुक्षाद्यश्चत्वारः[9]। युक्षादयस्त्रयः[10]। ए ऐ इति द्वावप्येकारौ ह्रस्वौ अल्पको विन्दुः। आद्येन भावेन चित्तं निरूप्यते। एष परमार्थस्य भावः बुद्धस्वभावः खलु नैव दृश्यते, नापि विज्ञानस्वभावः[11]।] एतेनेति उत्तरार्धेन[12]

---

१. 'अत्र श्लोकौ' 'इत्यतः' 'प्रचार इति' यावद् भोटग्रन्थे नास्ति।
२. ख. म। ३. भो० RNAL-HBYOR-MA.
४. भो०—त्रिभुवनम्।
५. मोहो द्वेषस्तथा रागः सदा वज्रे रतिः स्थिता।
उपायस्तेन बुद्धानां वज्रयानमिति स्मृतम्॥ B. S. T. No. 9.
६. भो० ṄID—KYIS-SAṄS-RGYAS-RNAMS-KYI-DBU-RGYAN-DAṄ KUN-RZOB-KYIS.
७. भो० SANS-RGYAS-RNAMS-SPROS-PAS-SO.
८. भो०....DAṄ-THUGS-KYI-DKYIL-ḤKHOK.
९. ख यो। १०. ख. यो।
११. भोटग्रन्थे जइ इत्यादितः विज्ञानस्वभावपर्यन्तं नास्ति। १२. क. र्धे।

वक्तव्येन भावनेति प्रकारेण चित्तं योगिनो निरूप्यते समाधीयते। एषा परमार्थस्य [1]वज्रसत्वस्य भावना, नातोऽन्या। कतमेन भावेनेत्याह—**बुद्धे**त्यादि[2]। बुद्धश्चित्तबाह्यश्चित्तग्राह्यः[3] स स्वभावोऽस्येति। बुद्धस्वभावः[4] खलु नैव संदृश्यते नोपलभ्यते न कल्प्यते, नापि विज्ञानस्य स्वभावभूत आकारः, एकानेकविचारासहत्वात्। तथाहि ग्राह्यग्राहकानुपलम्भो द्वयानुपलम्भरूपस्य धर्मकायस्य प्राप्तिहेतुः। कायवाक्चित्तभावना तु संभोगकाययोः, तस्मादेषैव तस्य भावना क्षिप्रतरं कायत्रयस्य प्रापणादिति।

भवतु वज्रधरस्यैवं भावना, बुद्धादीनां तु कथं भावेनेत्यत आह—**बुद्ध स** इत्यादि। [अत्र प्रतिपादं चत्वारो गणाः आद्ये पादे प्रथमौ द्वित्रिमात्रौ युक्षादयः। प्रथमः षण्मात्रः, द्वितीयो द्विमात्र शेषाश्चतुर्मात्रा।][5] बुद्धस्य वज्रधरस्य रत्नकेतोः सह पद्मेन वृत्तस्य एतेषां देवानां नास्ति स्वभावः। आदिबुद्ध आकाशस्वभावः, बुद्धस्येति वैरोचनस्य वज्रधरस्येत्यक्षोभ्यस्य रत्नकेतोरिति रत्नसम्भवस्य पद्मेनेति अभिताभेन वृत्तस्येति कर्मणः अमोघसिद्धेरित्यर्थः। एतेषामिति पञ्चानां तथागतानां देवानामिति देवीनां कुलानां च नास्ति स्वभाव इति ग्राह्यो ग्राहकश्च द्वयप्रतिभासस्यालीकत्वात्। यदि द्वयमलीकं किं तर्ह्येषां निजं रूपम्? आदिबुद्ध इति वज्रधरः। आकाश इति खसमः धर्मकायलक्षणत्वात् खसमत्वेन प्रतिभासात्—स एषां स्वभावः।

निजरूपं तन्निष्पन्दत्वादेषामुपसंहर्तुमाह। [**आइ** इत्यादि[6]। अत्रापि प्रतिपादं चत्वारो गणाः प्रथमपादे प्रथमो षण्मात्रद्विमात्रौ एवं चतुर्थतृतीये प्रथमो द्विमात्रः शेषाश्चतुर्मात्राः। एष इति एषा उपज्ज इति पकारस्य द्विवचनं नेष्यते। खइं इति विलम्बितेन त्रिमात्रं, खशब्दात् स्वार्थे कः स्वरशेषता, तृतीयैकवचनस्य ईभावो अकारलोपश्च। आदिधर्मस्य एषा उत्पत्तिः सत्वा उत्पद्यन्ते खेन समानाः। बहुत्वेऽप्येकवचनं नये क्रियते, (तत्र) शास्त्रं प्रमाणम्। आदि शुद्धं पदं खसमसमानम्,] आदिधर्मो वज्रसत्वः धर्मकायात्मकत्वात्। तस्यैषा खसमैः कायवाक्चित्तैरुत्पत्तिः। अशेषावरणक्षयादभिव्यक्तिरेव तस्योत्पत्तिः प्रासाद[7]भङ्गादाकाशोत्पत्तिवत्। आकाशमस्योत्पत्तौ चिह्नदृष्टान्तः। तथा चोक्तं श्रीपरमाद्ये—

---

१. भोटे नास्ति वज्र-शब्दः। २-३-४. भो० SES-BYA.

५. भो० ग्रन्थे अत्र प्रतिपादं इत्यतः चतुर्मात्रा पर्यन्तं नास्ति।

६. आइ इत्यादितः खसमसमानम् इत्यन्तं भोटे नास्ति। ७. ख. दाद।

आकाशोत्पादचिह्नत्वादनादिनिधनः परः।
सर्ववज्रमयः सत्वो वज्रसत्वः परं सुखमिति ॥

अतएव सत्वा बुद्धादय उत्पद्यन्ते, आकाराणामसत्तया परिच्छेदात्। **खेन** **समानाः**।

ननु योगतन्त्रेषु महामुद्रासिद्धिरेव बोधिस्तस्याः खसमं ज्ञानं हेतुरेव न स्वभावः। तस्मात् सर्वयोगतन्त्रैः खसमतन्त्रस्य विरोध इति चेदाह—**नय** इत्यादि नीयते व्याख्यायतेऽनेनेति नयः। येन भवगता नेयार्थसूत्रान्तो व्याख्यायते स नयः। तस्मिन्नर्थेऽनक्षरारूढेऽपि शास्त्रं भगवतः शासनं प्रमाणं क्रियते, न तद्विपरीते।

अथ मन्त्रमुद्रादौ साकारे ज्ञाने कीदृशो नय? इत्याह—**आदी**त्यादि। आदिशुद्धमादिशुद्धिर्धर्मकायः। तदेव पदमालम्बनं खसमज्ञानसमानां (नं) खसमनिष्पन्दानां मन्त्रमुद्रादीनां खसमत्वेन तेषां प्रतिभासात्। अतएव सर्वतन्त्राणामुत्तरतन्त्रमिदम्। श्रीसर्वरहस्यतन्त्रेप्युक्तम्[1]—

न किञ्चिद्धेतुतत्त्वं हि फलतत्वं तथैव च।
तत्तत्त्वं तथताज्ञानं तत्र योगी समाचरेत् ॥ इति।

हेतुतत्त्वं चित्तप्रतिबेधाश्चत्वार आकाराः। फलतत्त्वं पञ्चम आकारः, तदुभयमप्याकारकमसत्, तथताज्ञानमेव तयोस्तत्त्वं स्वाकाराणामसत्तया परिच्छेदात्। तत्र परिच्छेदे योगी चरेदित्यर्थः। श्रीसमाजेऽप्युक्तम्—

कायाक्षरमनुत्पन्नं वाक्चित्तमनलक्षणम्।
खवज्रकल्पनाभूतं मिथ्यासंग्रहसंग्रहम् ॥ इति
[गु० स० १७.३६]

न क्षरतीत्यक्षरं गुह्यं कायगुह्यं वाग्गुह्यं चित्तगुह्यं तत्सर्वमनुत्पन्नमस्वभावं च प्रतिभासते। यथाकारमसत्तया परिच्छेदात्, खवज्रे धर्मकाये धर्मद्रवानुभूते कल्पनाभूतं परिच्छेदात्मकं खसमेन तत्त्वेन सत्तया यथाकारमसत्तया च परिच्छेदात्। मिथ्या च तत् साकारत्वात्, संग्रहश्च तत्सम्यक् परिच्छेदात्, तेन संग्रहोऽस्येति तथोक्तम्, शुद्धलौकिकज्ञानसंगृ[2]हीतमित्यर्थः। एवं तावत् सर्वयोगतन्त्रसाधारणी खसमार्थभावनोक्ता।

---

१. Peking, Ed. Vol. 5, No. 114, Tohoku Catalogue No. 481.
२. क. संग्रहीतं नास्ति।

इदानीं श्रीसमाजादितन्त्रैरेव साधारणीं खसमार्थभावनां प्रस्तोतुमाह—**पञ्चे**त्यादि। [द्विपदीद्वयं आद्यया तुल्यगणं प्रथमश्चशब्दोऽप्यर्थः। द्वितीयोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च। पञ्चबुद्धमुकुटस्यापि यस्य धर्म एव स्वभावः। वज्रसत्वः प्रणम्यतां त्रिभुवनधर्मप्रभावः। वज्रसत्वः प्रणम्यतां][1] कीदृशः पञ्चबुद्धमुकुटस्यापि देहिनः सतो यस्य धर्मकाय एव स्वभावः? धर्मकायस्यैव खसमस्य समरसी(शत[2])भूतसर्वबुद्धधर्ममयस्य, तया मूर्त्या, तेन संदर्शनात्। पुनः कीदृशः? त्रिभुवनं योगिनीचक्रम्। धर्मप्रभावो धर्मदेशना, धर्मसंभोगलक्षणाऽस्येति तथोक्तः। उक्तं च वज्रशिखरे[3]—

ततः स्वाभाविकान् कायान् संभोगैर्विसृतः पुनः। इति।

अत्र भावनैव प्रमा णो[4] (नो) विवक्षितः। स्वकायवाक्चित्तैः तत्कायवाक् चित्तेषु प्रवेशः प्रणामः। प्रणामानुसंशमाह—**वज्रे**त्यादिना। वज्रसत्वे प्रणम्यमाने पुण्यमपि भवत्यनन्तम्। वज्रसत्वः प्रणम्यै[5]तांल्लभ्यते धर्ममहत्वं पुण्यमपीति। अपि शब्दाज्ज्ञानमपि। अनन्तमिति यावता संभूतसंभारः स्यात्। भूयोऽपि प्रणम्यतां यतः प्रणामाल्लभ्यते धर्ममहत्वं वज्रधरमाहात्म्यम्। क्वचित् पुस्तके महत्त्वस्य स्थाने स्वभावशब्दः पठ्यते। तत्र यमकानुपपत्तिः स दोषो व्यभिचारात्[6]।

धर्मकाय एव वज्रसत्त्वशरीरतां गच्छतीत्युक्तम्। तत्र धर्मकायोऽसाक्षात्कृतः, सङ्केतेन भावयितव्यः। तमाह—**सर्वे**त्यादिना। [इयमपि सैव द्विपदी किन्तु द्वाभ्यां पादाभ्यां सर्वसत्वान् परिभाव्य क्रियते मोक्षस्वभावः[7]।] सर्वसंबुद्धान् मायासुरतध्वनिभिराहूय तान् प्रवेश्य हृदि विलीय कमलोदरगतान् विभाव्य क्रियते मोक्षस्वभावः शरदिन्दुद्रवधवलः सर्वबुद्धधर्माणां समरसीभावो धर्मकायः।

ततः किं क्रियत इत्याह—**वज्रे**त्यादि। [अत्र चतुर्गणाश्चत्वारः पादाः। वज्रसत्वकृतसर्वस्वभावो मोक्षः क्रियते धर्मस्वभावः। एष च धर्मोऽविनष्टस्वभाव इति[8]।] कथं तर्हि देहीक्रियत इत्याह—**लोकेने**त्यादि। लोकेन हेतुना लोकार्थमित्यर्थः। क्रियते सन्दर्श्यतेऽन्यस्वभावो वज्रसत्त्वाकारः, यथासङ्केतं विनयैस्तत्परिणामतया प्रतीतेः।

१. द्विपदीद्वयं इत्यतः प्रणम्यतां पर्यन्तं भोटे नास्ति। २. क. ख. पुस्तके अस्ति।
३. ख. श्रीवज्रशिखरे, Peking Ed. Vol. 5, N. 113, Tohoku Catalogue N. 480. ४. ख. क प्रमाणो। ५. ख. प्रणम्य तां।
६. भोटानुसारं व्यभिचारात् इति किन्तु क. ख. पुस्तके साप्यदोषो व्यभिचारादिति पाठः। ७. इयमपीत्यारभ्य स्वभाव इत्यन्तं भोटे नास्ति।
८. अत्रतः इति पर्यन्ते भोटे नास्ति।

परमार्थतस्तु धर्मकायनिष्पन्दभूतं ज्ञानान्तरमेव तदाकारमुत्पद्य यथाकारमसत्तया भगवत: ख्याति: । [इत ऊर्ध्वं सैव द्विपदी त्रिगणै: पादै: । ए चउ देवीत्यत: प्राक् काअ इत्यादि । अत्र उत्पत्तिप्रकाराणां[1] ह्रस्वत्वं पूरणार्थम् । कायो वाक् तत्र चित्त भोधर्मस्याद्युत्पत्ति: । योगपीठं तत्र देवीचुन्दाधर्मस्योत्पत्ति:[2]] तस्मिन् वज्रसत्वोत्पादने का तस्योत्पत्ति: ? किं चोत्पत्ति[3]स्थानमिति चेदाह—कायो वाक् चित्तमिति त्रयमिदं धर्मस्य वज्रसत्वस्याद्युत्पत्ति: । योगस्य पीठं प्रतिष्ठा भगवती चुन्दा महाकाया, तस्मिन् वज्रसत्वोत्पत्ति: । कौ तस्य मातापितरौ कथं चोत्पत्तिरित्याह—**वज्जहो** इत्यादि । [वज्जहो इति विलम्बितेन षण्मात्रो गण: । वज्रस्य तत्र मन्त्री भावयत्येकस्वभावाम्[4] । धर्मरूपमालम्बते चिन्तयति वज्रस्वभावम्[5]] वज्रस्येत्यक्षोभ्यस्य, तस्मिन् योगपीठे, एकस्वभावामिति स्वभावा: स्वाभविद्यासंयुक्तत्वात् एका चासौ स्वभावा च तां धर्म-रूपमिति मोक्षं पूर्ववत् । वज्रस्वभावं वज्रसत्वदेहोत्पत्तिम्, तमेवाह—**जटेत्यादिना** । [जटामुकुटेन च मण्डितं वर्णं च नीलस्वभावम् । वज्रसत्वसुसमाधिं भावयत्येष स भाव:[6] ।] जटामुकुटेन च पञ्चबुद्धविराजितेन मण्डितं भगवन्तम्, वर्णं च तस्य नोलम् । एवं वज्रसत्वस्य सम्यक्समाधिं भावयेत् । एष इति योगी सहभावेन सभाव: सादर इत्यर्थ: । अक्षोभ्यजटामुकुटं तु बाह्यैकरत्नचिन्हं न बुद्धचिह्नम् ।

[7]अथाक्षोभ्यस्यापि किमिन्दुद्रवादुत्पत्ति: ? नेत्याह **अक्क**[8] इत्यादि । [अक्क[9] इति त्रिमात्रो गण: । मज्जट्ठिउ इति पञ्चमात्र: । अर्कमण्डलमध्यस्थितां चिन्तयत्यक्ष-रोत्पत्ति: । अक्षररूपं निर्वर्त्य चिन्तयति वज्रस्वभावम्[10] ।] अर्क: सूर्य: अक्षरं नीलहूँकारम् । वज्रसत्वबीजं तु सितहूँकार: । वज्रस्वभावमिति अक्षोभ्यमूर्त्तिम् ।

वज्रसत्वोपत्तिरपि मन्त्रादेवेत्याह **जलतउ**[11] इत्यादि । [अत्र प्रथमगणो द्रुतोच्चारणेन चतुर्मात्र: कर्तव्य:[12] ।] जलान्तजं भावयति मन्त्री [आत्मनो रूपं[13] स्वभावम् । वज्रसत्वमालम्बते अद्वयरूपस्वभावम्[14] ।] जलमिन्दुद्रव: स एवाऽन्त:

---

१. ख. प्प । २. इत अध्वं इत्यत: उत्पति: पर्यन्तं भोटे नास्ति ।
३. क. का इति अधिक: । ४. क, वा: ।
५. वज्जहो इत्यत: वजस्वभाव इति यावत् भोटे नास्ति ।
६. जटामुकुटेन इत्यत: भाव इति यावत् भोटे नास्ति ।
७. क. अथेति नास्ति । ८-९. क. क्ष ।
१०. अक्ष इत्यत: स्वभावं यावत् भोटपुस्तके नास्ति । ११. भोटे जलान्तमित्यादि ।
१२. भोटे अत्रत: कर्त्तव्यान्तं नास्ति । १३. ख. रूप ।
१४ आत्मनो आरभ्य अद्वयरूपस्वभावं यावत् भोटे नास्ति ।

सत्त्वानां पित्रोश्च, तस्माज्जातम्। आत्मनो रूपकं स्वभावं स्वदेवताबीजमित्यर्थः। तच्चन्द्रमण्डलमध्यस्थं[1] भावयति मन्त्री तेन बीजेन वज्रसत्वं भावयति। अद्वयमूर्ति-स्वभावम्। कथमद्वयमूर्तिः? नार्थो न ज्ञानमिति प्रतिभासात्, स्वविद्यासंयोगाद्वा।

योगमुपसंहरंस्तत्फलमाह—**एष** इत्यादि। [एषा चित्तनिष्पत्तिः कथिता वज्र-धरेण, यत्र तेन भावेन भावयति सिध्यति चित्तस्वभावः।] चित्तनिष्पत्तिः वज्रधर-चित्तयोगः। भावेनेति प्रकारेण भावयति वज्रसत्वम्, स सिध्यति वजधरचित्तस्वभावः।

यदि वज्रधरस्यापि मन्त्रादुत्पत्तिरप्रपञ्चसमाधौ स्थितस्य देहोत्पादनायोगात्, तर्हि तस्मात् समाधेरचोदितस्यास्य व्युत्थानम्। विक्षेप एव स्यादनायकधर्मो वेत्यत आह—**ए(अ)** इत्यादि। [अत्र प्रतिपादं चत्वारो गणाश्चतुर्मात्राः। एषा चतुर्देवो एक-स्वभावा गीतेन भावयति खेन सभावम्। एवं धर्मकृतचित्तस्वभावं भावयति देवीं मोक्ष-स्वभावां[3]] चतुर्विधां देवीं देवीचतुष्टयमित्यर्थः। एकस्वभावेति मोक्षरूपा, गीतेनेति वक्ष्यमाणेन चतुर्गीतकेन, भावोऽभिप्रायः। तद्वत्तं करोति भावयति मन्त्राकारस्याभि-प्रायस्योत्पादेन प्रबोधयतीत्यर्थः। कतमं प्रबोधयति? खेन सभावं समानभावं खसमं धर्मद्रवमित्यर्थः। [एअ शब्द एवमर्थः प्राकृतादानेतव्यः, प्राकृतस्याप्यपभ्रंशे प्रवेशात्। **जन्तो द्विअ अतन्तो द्विअ** इत्यादिवत्[4]।] एवं सति योगी धर्मद्रवं कृतचित्तस्वभावं कृतवज्रधरमूर्ति भावयति देवीमूर्ति च, मोक्षस्वभावां सुविशुद्धचित्तं(?) वज्रसत्वः, सुविशुद्धा तथता देवीति भावः।

अनया भावनया बुद्धत्वं प्राप्यते[5] इत्यस्मिन्नर्थे आत्मानमुदाहरणीकर्त्तुं कश्चिद् बुद्धः[6] पर्षत्सन्निपतितोऽनुक्तमप्यर्थमाह—**वज्जसत्त** इत्यादि। [अनयोः पादाः त्रिगणाः पीठपकारस्य द्विर्वचनं, उत्पत्तिपकारस्य द्विर्वचनाभावः[7] उपत्तिहो इति द्रुतह्रस्वाभ्यां[8] चतुर्मात्रः।

वज्रसत्वो मया दृष्टो योगपीठे रममाणो दारां गृहीत्वा सकलसमां तिष्ठति वेषं धारयन्, खेन सभावाद्भावादुत्पत्तिः। खलु तत्र या (?) दृष्टा (?) वज्रसत्वोऽवगाहते स्फारयति बुद्धान्निविष्टः[9]।] दारामिति भार्यां सकलसमामिति भगवतः सर्वसमां, यथा

१. ख. च्च। २. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। ३. भोटे अत्रतः पर्यन्तं नास्ति।
४. कोष्ठांश भोटे नास्ति। ५. ख. प्ये। ६. क. धः।
७. क. व। ८. ख. स्वाश्च।
९. भोटे अनयोः इत्यतः निविष्टपर्यन्तं नास्ति।

हि भगवान्नीलः पञ्चबुद्धालङ्कृतजटामुकुटी दक्षिणेन विश्ववज्रधरो वामेन विश्ववज्रा-ङ्कितघण्टाधरः तथैषापि भगवती तिष्ठतीति। य इति शेषः वेषप्रसाधनं[1] सभावादिति समानभावात्। भावादिति सर्वसत्त्वानां तत्त्वाद् धर्मद्रवादित्यर्थः। अवगाहत इति परिच्छिनत्ति, तामिति शेषः।

कथमित्याह—**स्फारयतीत्यादि**। निविष्टो मनसा समाहित इत्यर्थः। **वज्र**[2] इत्यादि [अत्रायुक्यादौ त्रिगणौ, युक्यादौ द्विगणौ, ज्जशब्दः ख च शब्दार्थः। चतुः स्वभावश्चतुर्देवीमध्यनिविष्टः, त्रिभुवनं मायास्वभावेन प्रविष्टः[3]।] सर्वबुद्धानां प्रत्येकमनन्ताः[4] कायवाक्चित्तप्रभेदास्तत्कर्मभेदाश्च। संक्षिप्य चत्वारि गुह्यानि क्रियन्ते—कायगुह्यं चित्तगुह्यं वाग्गुह्यं कर्मगुह्यं च। तेषां तथता यथाक्रमं चतस्रो देव्यः। तस्मात् चतुःस्वभावा।[5] अतएव सितनीलरक्तहरिताः दक्षिणेन सवर्णवज्रधराः वामेन चक्ररक्तोत्पलकमलनोलोत्पलधराः स्वकुलतथागतालङ्कृतरत्नमुकुटाः, तासां मध्ये निविष्टो वज्रपर्यङ्केण तासामेव मायोपमत्वेन प्रतिभासात्। ताभिः संगृहीतं त्रिभुवनं तथागतगुह्यत्रयं मायोपमत्वेन प्रविष्टोऽवगाढः परिच्छिन्दानः। [इत ऊर्ध्वं तिस्रो द्विपदिकाः प्रतिपादं चतुर्गणाः। तृतीया तु द्वाभ्यां पादाभ्याम्। **विस्सवज्ज** इत्यादि[6]।] विश्ववज्रं तत्र चतुर्मुखं देवस्य वज्रधरस्य, तत्रेति हृच्चन्द्रे, बुद्धा अपि सर्वविकुर्वणमेतस्य अतएव तेषां स्फारणात्[7]। स्फारद्बुद्धानामुपयोगमाह[8]— यथा यथा उत्पद्यन्ते। देव इति देवभूताः। हो इत्यामन्त्रणं।[9] बुद्धानां सर्वो विकुर्वणलाभः खलु स इति शेषः।

भवतु विश्ववज्रस्य बुद्धानां च विकुर्वितम्, किं वज्रसत्वस्येत्यत आह—[**सब्बउ** इत्यादि। सर्वेषां देवानामिति बुद्धादीनां आम उम्भावः। जयन्ती इत या उत्पत्तिः। **वज्जसत्तहो** इति ङ[10]सो हो भावः[11]।] **तेन्तति**-तत्सर्वमित्यर्थः। सर्वं तद्वज्रसत्वस्यैव विकुर्वणमिति यावत्, वज्रसत्वस्यैव तेन तेनाकारेण प्रसवादिति भावः। [अतश्च **दीसइ सब्बहो धर्म(म्म)सहाव। तिहुअण सब्बहो एषु(स)सहाव**॥ दृश्यते[12]] सर्वस्य विश्ववज्रादेर्धर्म एव। अद्वयज्ञानमेव स्वभावो नार्थो न ज्ञानमिति परिच्छेदात्। अतएव त्रिभुवनं योगिनीचक्रं विश्वं वा सर्वं समग्रमेकस्वभावमेव दृश्यत इति वर्तते। **कोड** इत्यादि क्रीडांकुर्वन्(ता)बुद्धेन मया दृष्टस्तद्योगैश्वर्यञ्च सर्वा (वं) दृष्टाः (ष्टम्)। **देवे-**

---

१. ख. ष्ट (?)। २. ख. व उ (?)। ३. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।
४. भोटे अनन्ताः नास्ति। ५. भोटे भावात्। ६. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।
७-८. स्फ। ९. ख. णो। १०. ख. उमहो। ११,१२. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।

स्यादि। देवो वज्रसत्वादयः तेषां समयस्तत्त्वं तद् द्योतकः पटलः। [आदिमउं इति आदिमः प्रथमः स्वार्थे कः तस्य पाक्षिक उंभावः। आइमउं[1] एवं विदिज्जउं तइज्जउं **चतुत्थउं पञ्चमउं**[2]।]

खसमायां खसमतन्त्रस्य प्रथमः पटलः ॥

क्वचित् प्रदेशे **देवी** पठ्यते **क्वचिच्चतुर्देव्यः**। अतः **सन्देहनिवृत्तये देवीसंख्या** श्चतस्रो देव्यः पृच्छन्ति **आइक्ख** इत्यादिना। [अत्रायुजौ षण्मात्रौ युजौ दशमात्रौ, समयो मण्डलम्[3],] आचक्षे देवी[4]नामिति सम्बन्धः। [तव समयोत्तमे कति देव्यः ? सउत्तम इति[5]] हे सदोत्तम उत्तमा प्रधानदेवो सदा संयुक्ता[6]स्मिन्निति सदोत्तमः। सङ्गीतकार आह—**तहि** इत्यादि। [इयं त्रिगणा, एकेन पादेन[7]] तस्मिन् प्रदेशे चतुर्गीतिकं भाषते भगवान्। कुतः ? अत्रैव तासां नामनिर्देशात्। लोके च बहूनां प्रधानपूर्वकस्य क्रमनिर्देशस्य प्रतीतत्वात्। भादेव्याः प्राधान्यं शान्त्यादिदेवीनां च यथाक्रमं पूर्वादिदिग्दलेषु वृत्तिर्यथा गम्येत न संख्यामात्रम्। **सुण्णा इएअ** इत्यादि। एतानि चत्वारि गीतकानि यथाक्रमं चित्तवाक्कायगुह्यानां मायोपमत्वद्योतकानि। तेषामेव परिग्रहाय धर्मद्रवस्य प्रोत्साहकानि। प्रमिताक्षरा चात्र वृत्तम्। अस्याः प्रतिपादं चत्वारो गणाः चतुर्मात्राः। प्रथमतृतीयौ गुर्वन्तौ, द्वितीये मध्य एव गुरुः।

शून्याविवेककृतधर्मसमा भाशान्तिमोक्षा सुषमाऽसमाः।
मायास्तु कार्ये बुद्धसमाः क्रीडन्ति सर्वे खसमा अस(श)माः ॥

आकाराणामस्तंगमाच्छून्यश्चासौ तत एव भेदानुपलक्षणादविवेकश्चेति शून्याविवेकः। आकाशकरणन्यायेनोत्पादितत्वात् कृतसर्वबुद्धधर्मद्रवरूपत्वाद्धर्म एव त्रिभिः पादैः सम्बोध्य देवेभ्यश्चोदयन्ति। **समा** इति त्वयैव तुल्यास्तत्तथतात्मकत्वात्। कास्ता इत्याह—**भा** इत्यादि। पत्युरङ्कगतत्वान्नित्यं भासत इति भाः। चतुर्देवीसंग्रहरूपत्वाद्वा अत्यर्थं भासत इति भाः। सर्वकायोपद्रवशमनाच्**छान्तिः**, सर्वचित्तावरणमोक्षणात् **मोक्षा**, सर्वबुद्धधर्मरतिप्रायणात् सुषमा। अनन्तनिर्माणैर्जगदर्थकरणादसमा। एताः पञ्च देव्यो यदि समाः कथं तर्हि भादेव्यादिरूपेण विचित्रा इत्यत आह—**मायास्त्विति**। यद्यपि समास्तथापि माया इति तु शब्दार्थः। मन्त्राद्यधिष्ठानात् काष्ठादिकमसता गजादिरूपेण प्रथमानं माया, तत्साधर्म्याद्देव्योऽपि

१. क. जं। २. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। ३. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।
४. क. वा। ५. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। ६. ख. उत्तमोऽस्मीति अधिकः।
७. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।

माया: । धर्मकायनिष्पन्दे शुद्धलौकिके ज्ञाने तासामसता विचित्रकायवाक्चित्ताकारेण प्रख्यानात् । किं निमित्तं देव्यो माया इत्याह—**कार्यं निमित्तं जगदर्थहेतोः** । अतश्च **ता बुद्धसमाः बुद्धैः** वज्रसत्त्वादिभिः समानाः । तेऽपि हि धर्मकायेन समास्तन्निष्पन्द-शुद्धलौकिकज्ञानस्वभावे संभोगकाये विचित्ररूपाः प्रख्यान्ति जगदर्थक्रियार्थम् । ततः किमित्याह—**क्रीडन्तीत्यादि** । सर्वे खसमा देव्यो बुद्धाश्च क्रीडन्ति, समेत्य विश्वार्थ-चर्यया रमन्ते । कियन्तं कालमित्याह—**अस(श)मा** इति । शमः शान्तिर्विनाशः तद-भावाद(श)मा नित्यकायास्तथागता इति वचनात् । नित्या हि तथागतास्त्रिभिरपि कायैः स्वाभाविकेन प्रकृतिनित्यतयाऽनादिनिधनत्वात्, साम्भोगिकेनाशंसननित्यतया अनि-धनत्वात्, नैर्माणिकेन प्रबन्धनित्यतया क्वचिद् विनाशेऽपि तदेवान्यत्रोत्पादात् अन्यत्र चावस्थानात्, महारण्यलग्नाग्निस्कन्धवत् । तदेवं धर्मसंभोगस्वभावस्य क्रीडा-चित्तस्य परिग्रहाय प्रोत्साहना । जगदर्थसाधनत्वाद्विशुद्धत्वान्निरुपद्रवत्वाच्च नित्यतया अत्र ध्रुवकं षडक्षरो मन्त्रः । रुलुरुलुभ्योरुट् । मायेत्यादि ।

मायास्वभावाःकृतद्योतसमाः[1] **भासन्तेतुल्यरवधर्मसमाः ।**

धर्मा अक्रीडाः खसमानां समाः असमागमांशाः[2] **स्वतो वीणासमाः ॥**[3]

खसमानामिति धर्मकायप्रकृतीनां बुद्धानां देवीनां च । धर्मा इति देशनाधर्माः समास्तैरेव, तेऽपि खसमाः खसमत्वेन प्रतिभासादित्यर्थः । अत एव अक्रीडाः न हि खसमाः क्रीडन्ति, क्रीडा वा कुतः खसमाः । यतस्तेषां मायया सभावाः समानरूपाः प्रतिभासन्ते तथा परिच्छेदात्, तुल्यरवः प्रतिशब्दः, तदात्मकाः शब्दास्तुल्यरवधर्मास्तैः समाः प्रतिभासमात्रत्वात्, समागमः संघातः, तदभावादसमागमा अंशा वर्णा एषामिति, असमागमांशा धर्माः वर्णानां क्रमेणोच्चारणादुच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च ।

असंहताश्च वर्णा न वाचका अवाचकाश्च न धर्माः । तस्मात् खसमा धर्माः । अत एव स्वतः प्रकृत्या वीणासमा वीणाध्वनिसमा अवाचकशब्दत्वान्निरभिसन्धित्वाच्च तस्याः । [**कअजोअसमा** इति । कं जलं स्वार्थे कः प्रत्ययः[4] ।] द्योतश्चन्द्रः जल-चन्द्रसमा इत्यर्थः । अथवा द्योतः प्रदीपः कृतद्योतेन समाः । अन्धकारे तमोगतस्य लोकस्य ज्ञानालोकभूता इत्यर्थः । अथ तेनैषां जगदर्थसाधनत्वं ख्यापितम् । शेषेण विशुद्धत्वम्, तस्मात् त्वमपि व्युत्थाय धर्मान् देशयेति समुदायार्थः । **जो** इत्यादि ।

१. भोटे निष्पन्दे । क. ख. न्दे: ।
२. क. ख. ङ्ग ।
३. क. ख. नो ।
४. कोष्ठांशः भोटे नास्ति ।

ग्रौ धर्मालोक आकाशसमः कुर्वन्ति वज्रास्तस्मिन् रूपसमाः ।
रूपादिकामसुखाक्षयदो जलधीन्द्रतुल्यवहुस्तस्मिन्[1] वज्रमयः[2] ॥

समरसीभूतः सर्वबुद्धानां धर्म एव लोकः प्रकाशरूपत्वात्, **आकाशसम** निराभासात् । तस्मिन्नाविर्भूय **वज्रा** वज्रसत्वा विकुर्वन्ति सत्वार्थधर्मान् दर्शयन्ति । किं ते रूपस्वभावानेत्याह—**रूपसमा** इति । रूपप्रतिभासमात्रत्वेन तैरात्मनः परिच्छेदात् । तेषां वज्राणां नयो मण्डलम् । तस्मिन् कीदृश इत्याह—**रूपादित्यादि** । रूपादयः कामाः पञ्च तैः सुखमक्षयं तद्ददातीति तथोक्तः । जलधिः सरित्तडागादिः । अस्मिन्निन्द्रश्चन्द्रस्तेन तुल्यः प्रतिविम्बसमत्वेन परिच्छेदात् । तदेवं सर्व एव खसमा बुद्धाः सत्वार्थाय देहं देहिमण्डलं च दर्शयन्ति । तस्मात् त्वमप्युभयं दर्शयेति भावः । **वहु** इत्यादि । वहु योगपीठस्तत्र वज्रनयः वहुरूपधारी, तत्र वज्रमयः स्फारयन्ति सत्वानात्मसमान्, तत्र वज्रो ददाति वरान् धातुसमान् । बहूनि योगपीठान्यस्येति तथोक्तः । तेषु तद्भावाद्वज्रमयो वज्रात्मा वज्रधरो विनेयाशयभेदेन धारयति । तत्रैव रूपभेदात् स्फारयति तत एव सत्त्वान् बुद्धादीनात्मसमान् प्रभावतस्तन्निष्पन्दत्वात् **तहिं इति** तैः सत्वैः वज्रो वज्रधरः । **देइ ददाति,** वरानिति ईप्सितान्, बुद्धत्वादीन्, धातुसमानिति गोत्रसमान्, यथागोत्रमित्यर्थः । **जेइ** इति क्वचित्पाठः जयति विनयति वरधातून्, त्रिसाहस्रलोकधातून्, समतुल्यकालमित्येष तत्रार्थः । इदृशी परार्थक्रिया वज्रधरस्य तां प्रवर्तयेति भावः । एवं देवीसंख्यादिज्ञानाय चतुर्गीतकं चतुर्देवीभ्यो देशयित्वा ता एव नियोक्तुमाह—**ए इत्यादि** । [अनयोः प्रतिपादं चत्वारो गणाश्चतुर्मात्राः आणेइ वज्जेति ह्रस्वत्वं पूरणार्थम्[3] ।] हे चतुर्देव्य एतद्गीतं भणितमनेन खसमे समाधौ निविष्टं चोदयतश्चा[4]धिपं य एतद्गीतं शृणोति शब्दशरीरेण पश्यति । **एकमनसेति** समाहितेन गाहतेऽथशरीरेण चित्तमसे(स्ये)ति जल्पेन मनसा । ततः किमित्याह—**एह** इत्यादि । एतद्गीतमाकाशसमानं तथता प्रतिभासात् । रूपसमानं वज्रधरमानयति, तदर्थं च वज्रमयं धर्मद्रवात्मकं चित्तं परिबोधयति, व्युत्थापयति, एकस्वभावेन तन्त्रं वज्रनयमानयति । अथ वज्रस्य वज्रनयस्य चोत्पत्तौ कतमे मन्त्रा इत्याह—**वज्जपएण** इत्यादि [अस्यां प्रतिपादं त्रयोगणाश्चतुर्मात्राः[5] ।] वज्रपदं वज्रधरबीजं हूंकारः । तेनान्य स्वभावं भिन्नं बीजम् ।

१. क. ख. तस्मिन् । २. क. ख. न । तथा कोष्ठांशः भोटे नास्ति ।
३. कोष्ठांशः भोटे नास्ति । ४. ख. स्व । ५. कोष्ठांशः भोटे नास्ति ।

एकस्माद्बीजात्, धर्मद्रवाद् भावयतीति सम्बन्धः। तेनैव धर्मद्रवेण हूंकारपञ्चकं भावयतीत्यर्थः। किं तेनेत्याह—**चैत्तेत्यादि**। चित्तं नीलवज्रधरः, स मध्यगतो यस्मिन् तन्मण्डलं सर्वं भावयति। [अपभ्रंशे हि सर्वशब्दस्य[१] त्रीणि रूपाणि, रेफलोपे कृते द्विवचनविकल्पः। असति द्विवचने पूर्वस्याकारस्य दीर्घत्वं वस्य च ह्रत्वं वा। सब्ब साव साह[२]] कथं धर्मद्रवाद् बीजपञ्चकभावनेत्याह—**धम्म** इत्यादि। [अनुष्टुभमिदं पथ्यावक्त्रं नाम, अत्र च।

लघुनी सह न स्यातां पादेषु प्रथमात् परे।
अयुजोर्योयुजोर्जस्तु चतुर्थादक्षरात् परे[३]॥]

मण्डलं कूटागारं तस्य मध्यस्थं यत् पद्मोत्तमं तस्मिन् भावना तथोक्ता धर्मस्य तथा भावना। **धम्ममण्डलमज्जाच्छपदुमुत्तमभावणा। तस्स चित्तअ** इति। तस्य धर्मस्य चित्तकं भेदकं भावयतीति शेषः कर्णिकायां दिग्दलेषु च तस्य धर्मस्य चन्द्रारूढहूंकाररूपेण परिणामात्। ततः किं कुर्यादित्याह—**माअ** इत्यादि। अनयोः प्रतिपादं त्रयो गणाः मायास्वभावस्य सर्वस्य खलु रूपस्य निरूपणं कुरुतेति शेषः। चित्तस्य वज्रस्वभावस्यैकस्वभावं भो चिन्तयत वज्रनयम्। ननु चित्तस्य स्वरूपमेव वज्रनयो, नासौ मायेत्यत आह—**चित्तहो** इत्यादि। आकाराणामसत्वमेकानेकस्वभावविरहात्, तस्माच्चित्तं खेन सरूपम्। तस्य चित्तनयोऽस्वभावः[४] वज्रनयस्य चित्तनयश्चित्तस्वरूपतोऽस्वभावोऽस्वरूपं मिथ्येत्यर्थः। ननु अन्यो वज्रो अन्यश्च वज्रनयः प्रतिभासभेदात्, तत्कथं एकस्वभावतेत्याह, **उभय** इत्यादि। नानास्वभावस्य नास्ति नयो न्यायः खसमे प्रकाशमात्रे आकाराणामलीकत्वात्। तस्मिन् विहारे सति वज्र एव खसम वज्रधर एव स्वभावः, शेषं माया अलीकत्वात्। **वज्जसत्त** इत्यादि। [अनयोः प्रतिपादं चत्वारो गणाश्चतुर्मात्राः[५]।] आद्यया कृत्रिमाकृत्रिमं रूपमाह, द्वितीयया चित्तवाग्गुह्ये हे **वज्र** सत्वत्वमेकस्वभावः। लोकनिमित्तं क्रियते मायास्वभावस्त्वयेति शेषः। कथमित्याह—**सत्त**मित्यादि। विनीयन्ते सत्वा अनेनेति विनयो मूर्तिभेदः। सत्वान् बोधयति विनयस्वभावः। हे वज्रसत्व त्वमेकस्वभाव एव प्रकृतिः। देवी भादेवी। **वोल्लइ** वदति **वज्ज** वज्रधरं **अडेगुह**[६] इति गुप्तं गूढम्, चित्तवाग्गुह्यमित्यर्थः। **अब्भन्तरे** इति स्वहृदि **रमन्त**उं इति रममाणः। चित्तस्वभावेन चन्द्रमण्डलस्थविश्व-

१. क. सर्वस्य। २,३. कोष्ठांश भोटे नास्ति। ४. क. ख. विनयो। ५. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। ६. क. ग्र।

वज्राकारेण तद्विज्ञ इति हृदि खलु चित्तनिगूढ इति विश्ववज्रवरटके[1] गोपितम् । धम्मङ्ग सिद्धउं इति मन्त्रोऽपि सृष्टः, स च हूंकारः । स्फरणमधिकृत्याह–स्फार इत्यादि ।

एकस्यामयुजोरष्टौ मात्रायुजोर्द्वादश ।
अपरस्यामयुयोश्चतुर्दश युजोर्द्वादश[2] ।

स्फारयति वज्रोहूंमन्त्रः सत्वानाकाशस्वभावान् मायोपमान् । पुनः संहरति यस्माच्चित्तस्यैका प्रकृतिः । चित्तैर्निरूप्यमाणे[3] हि यस्मात् सर्वमेवसमं तुल्यं पश्यामि मायोपमत्वेन, पुनःपुनः सत्वान् संगतान् संहृतानेकाकारान् करोमि । अनेन सर्वेणैतदुक्तं भवति—इह सप्तविधानुत्तरपूजा-शरणगमन-बोधिचित्तोत्पादपूर्वकं चित्तमात्रतामधिमुच्य, खममं बोधिचित्तमामुखीकृत्य ॐ **शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्** इति अधितिष्ठेत् । तदनु चुट्कारजां चुन्दादेवीं चन्द्रवद्धवलां चतुर्भुजां समाधिमुद्रया पात्रधरामितरभुजाभ्यामक्षमालापुस्तकधरां जटामुकुटिनीं वज्रपर्यङ्केण महापद्मचन्द्रे निषण्णां लोकधातुप्रमाणां विभाव्य, तत्कमलकर्णिकायां मुक्ताफलस्वच्छधवलायां धर्मोदयाकारधारिण्यां भ्रूँकारजवैरोचनपरिणतं परमोज्ज्वलपञ्चरत्नमयं कूटागारम् ।

चतुरस्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणशोभितम् ।
वेदीचतुष्टये चारुपूजाप्सरोगणम् ।।
हारार्द्धहारपट्टस्रक्चामरादिविभूषितम् ।
मारुतोद्धूतविश्वाग्रपताकाघण्टानादितम् ।।

ध्यात्वा, तन्मध्ये रक्तकमलमष्टदलं विचिन्त्य तत्कर्णिकासूर्यमण्डले हूँकारेण भगवन्तमक्षोभ्यमिन्द्रनीलनिभं मणिरत्नाङ्कजटामुकुटिनं क्रुद्धमीषद्दंष्ट्रिणं विचित्रवस्त्राभरणं वज्रवज्रघण्टाधरोभयभुजालिङ्गितस्वाभविद्यं विभाव्य, मायासुरतध्वनिना दिग्भ्यः समाकृष्य, मुखेन प्रवेश्य तथागतान् विलीय कमलोदरगतान् महासुखमयाँश्चिन्तयेत् । तत्प्रभाविलीनौ च मातापितरौ विलोक्य तत्कमलमिन्दुद्रवेणैव बुद्धानां धर्मकायेन पूर्णं पश्येत् । तदनु शान्तिः मोक्षा सुषमा असमा चेति चतस्रो देवताश्चतुर्षुद्वारचन्द्रेषु निषद्य धर्मकायात्मकं महावज्रधरं तस्मान्निष्प्रपञ्चमहामोक्षसुखसमाधेर्व्युत्थापनार्थकरणाय चतुर्गीतिकेन चोदयेयुः ।

सुण्णा इएअकअ धम्मसमा, भासन्ति मोक्ष-सुषमा-असमा ।
मायानुकप्पहिं बुद्धसमा, कीडन्ति सव्व खसमा असमा।।१।।

(लुरुलुरुभ्यो रुट्[4])

१. क. ध रटके । २. कोष्ठांकः भोटे नास्ति । ३. क. त्त । ४. भो० रुलुरुलुभ्यो रूट् ।

मायासहावकअजोअसमा, भासन्ति तुल्लरवधम्मसमा।
धम्मा अकीडखसमाणसमा, असमागम(मं)स सउ वीणसमा ॥२॥
(लुरुलुरुभ्योरुट्)

जो धम्म लोअ आ आससमा, कुव्वन्ति वज्ज तहिँ रूवसमा।
रूवादिकामसुहअकम्पअदो, जलहिन्दुतुल्ल तहिँ वज्जणडे(ओ) ॥३॥
(लुरुलुरुभ्योरुट्)

वहजोअपोट(ठ) तहिँ वज्जणडे(ओ), बहुरूवधारि तहिँ वज्जमडे(ओ)।
फारन्ति सत्त अघाणसमं, तहिँ वज्जदेइ वरधाउसमं[1] ॥४॥
(लुरुलुरुभ्योरुट्)

इति गीतिकानि गीत्वा चतस्रो देव्यः स्वदिग्दलद्रवेषु प्रविश्य विलीय समरसी भवेयुः, गीतिकानुरोधाच्च तेन चन्द्रद्रवेण कर्णिका पूर्वादिदलेषु चन्द्रासनाः पञ्च-हूँकारा भवेयुः। नीलसितनीलरक्तहरिता यथाक्रमं कर्णिकाहूँकारेण विश्ववज्रं चिन्तयेत्, पूर्वादिहूँकारैः सवर्णान् पञ्चसूकवज्रान्, वरटकगर्भोत्पन्नबीजकिरणस्फरणैर्जगद्धितानि कृत्वा तानि वज्राणि यथायोगं षड्देवतारूपेण परिणमेयुः। तत्र विश्ववज्रबीजपरिणामो भगवान् वज्रसत्वः। इन्द्रनीलनिभो जटामुकुटी नवयौवनो विचित्रवस्त्राभरणो वज्र-पर्यङ्कनिषण्णः स्वाभभादेवीमुभाभ्यां भुजाभ्यां विश्ववज्रविश्ववज्राङ्कघण्टाधराभ्यां परिष्वज्य व्यवस्थितो वीरशृङ्गाररसः। पूर्वदले सितवज्रबीजोद्भवा शान्तिः सितवर्णा, दक्षिणदले नीलवज्रबीजोद्भवा मोक्षा नीलवर्णा; पश्चिमदले रक्तवज्रबीजोद्भवा सुषमा पद्मरागवर्णा, उत्तरदले हरितवज्रबीजोद्भवा असमा मरकतवर्णा। एताश्चतस्रो नवयौवनाः शृङ्गारवीररसा रत्नमुकुटिन्यो विचित्रवस्त्राभरणाः सस्मितं भगवति प्रेक्षितकटाक्षाः, दक्षिणेन सवर्णपञ्चसूकवज्रधराः, वामेन चक्ररक्तोत्पलकमल-नीलोत्पलधराः, सत्त्वस्य[2] पर्यङ्किण्यः। तदनु भगवतो भादेव्याश्च स्तनान्तरचन्द्र-विश्ववज्रवरटकचन्द्रे नीलहूँकारं किरणमालिनं दृष्ट्वा ॐ **धर्मधातुस्वभावात्मकोऽह-मित्यधितिष्ठेत्**। शिरःकण्ठहृच्चन्द्रेषु प्रणवाकारहूंकारान् सितरक्तकृष्णान् विचिन्त्य मन्त्रैरधितिष्ठेत्, ॐ **सर्वतथागतकायवज्रस्वभावात्मकोऽहम्**, ॐ **सर्वतथागतवाग्वज्र-**

१. इति गीतिकानां मूलत अपभ्रंशपाठ एवोपलभ्यते भोटग्रन्थेषु।
२. ख. स्य नास्ति.

स्वभावात्मकोऽहम्, ॐ सर्वतथागतचित्तवज्रस्वभावात्मकोऽहम् । चतुर्देवीनां स्तनान्तरचन्द्रस्थितसवर्णपञ्चसूकवज्रवरटकचन्द्रेषु स्वबीजं शिरःकण्ठहृच्चन्द्रेषु च प्रणवादीन् पश्येत् । ततः सर्वदेवतानां कायवाक्चित्तानि यथातत्त्वं खसमानि यथाकारमसत्वादनुत्पन्नानि निःस्वभावानि निश्चित्य गाथयाऽधितिष्ठेत् ।

कायाक्षरमनुत्पन्नं वांक्चित्त[1]मलक्षणम् ।
खवज्रकल्पनाभूतं मिथ्यासंग्रहसंग्रहमिति ॥

(गु. स. १७-३६)

ततो निजबीजप्रभाभिर्दशदिग्गतभिर्ज्ञानमण्डलमानीय पुरस्तात् अन्तरिक्षेऽवस्थाप्य स्वहृज्जप्त(ब्द)मर्घं दत्वा **अः हूँ व** होरित्येभिर्ज्ञानमण्डलमाकृष्य, प्रवेश्य, वद्ध्वा वशीकृत्य समयमण्डलं तेन सहैकीभूतं पश्येत् । ततो हृन्मन्त्रकिरणाकृष्टैस्तथागतैः ज्ञानाम्बुपूर्णरत्नकलशधारिभिरात्मानं मण्डलं चाभिषिच्यमानमधिमुच्य, तदम्बुनिष्पन्नान् देवतानां मुकुटेषु कुलतथागतान् पश्येत् । तत्रात्मनो जटामुकुटोपरि भगवन्तमक्षोभ्यमिन्द्रनीलनिभं भूस्पर्शमुद्रया स्थितं, ललाटोपरि वैरोचनं चन्द्रनिभं वोध्यग्रीमुद्रया स्थितं, दक्षिणकर्णोपरि रत्नसम्भवं कनकवर्णं वरदमुद्रया स्थितं, ग्रीवापृष्ठोपरि अमिताभं पद्मरागनिभं समाधिमुद्रया स्थितं, वामकर्णोपरि अमोघसिद्धिं मरकताभमभयमुद्रया स्थितं चिन्तयेत् । एवं भादेव्याश्चतुर्देवी रत्नमुकुटोपरि यथाक्रमं वैरोचनाक्षोभ्यामितायुरमोघसिद्धीन् । ततो हृन्मन्त्रकिरणनिर्गताभिर्देवीभिः स्फुरणयोगेन गगनतलव्यापिनीभिः भगवन्तं सपरिवारं पूजयेत् । ततो गुह्यपूजया पञ्चवीर्यपूजया च विधिवत् संपूज्य, **ॐ सर्वतथागतपूजावज्रस्वभात्मकोऽहमि**त्यधितिष्ठेत् । ततो गाथात्रयेण चतुर्देवीमुखैर्भगवन्तं स्तुय त् ।

पञ्चबुद्ध मउड स्सअ जस्स अ तिहुअणसार ।
आइबुद्धकअभावडो(हो) तस्सडो(हो) खसमपआर ॥१॥

पञ्चबुद्धमउडत स्सअ जस्स अ धम्मसहाव ।
वज्जसत्तपणवीअउ तिहुअणधम्मपहाव ॥२॥

वज्जसत्तपणवान्तं पुण्ण वि होइ अनन्त ।
वज्जसत्तपविज्जउ लब्भइ धम्ममहन्त ॥३॥

---

१. गु. स. पदेति पाठः B.S.T. No. 9.

ततः परमसुखसमर्पितमात्मानं मण्डलं च यावदिच्छं भावयेत्। ततो हून्मन्त्र-रश्मिमुखेभ्यः सर्वतथागतान् संस्फ.र्य जगत्तन्मयीकृत्य चित्तस्य विश्वरूपतां चिन्तयेत्। पुनस्तान् संहृत्य चित्तस्यैकस्वभावतां पश्येत्। अस्मिन् तन्त्रे समाधित्रयव्यवहारो न विद्यते, एक एवात्र समाधिर्मण्डलराजाग्री नाम। भावनया **खिन्नो** मन्त्रं जपेत्। विश्ववज्रवरटकान्तर्गतं **हृदयमेव मन्त्रं हूँ, उपहृदयं वा अनुरागयामि उभयं वा अनुरागयामि हूँ, सप्तदशाक्षरं वा ॐ महासुखवज्रसत्वजः हूँ वं होः सुरतस्त्वं** अन्यद्वा यथार्हं मन्त्रविद्यादिकं जपेत्। ततः प्रणिधानानि कुर्यात्। समासतस्तु गाथाद्वयेन—

सर्वस्वं सर्वबुद्धानां महावज्रभृतः पदम्।
एभिर्लभेयं कुशलैर्लभये पञ्च तज्जगत्॥१॥
चर्या संबोधये या च संबुद्धानां च या पुनः।
वर्णिता बोधिवज्रेण सा चर्या तु द्वयी मम॥२॥

ततः स्वहृन्मन्त्रे तत्किरणाकृष्टं समयमण्डलमन्तर्भाव्य तत उत्थायात्मनि स्वदेवताफटकारेण भूतचतुष्टये देवीचतुष्टयाधिमोक्षेण यथासुखं विहरेत्।

अयमारम्भः प्रथमसन्ध्यायाम्। सध्यान्तरे तु झटित्यात्मानं सविद्यस्वदेवतारूपं सर्वनिष्पन्नमालम्ब्य स्वहृन्मन्त्रात् क्रमेण चतस्रो देवीरुत्सृज्य यथास्थानं निवेश्य कायाधिष्ठानादि सर्वं पूर्ववत् कुर्यात्। एवं पश्चिमसन्ध्यायां ज्ञानमण्डलं सम्पूज्यार्घ्यं दत्वा ॐ वज्रमुरित्यनेन विसृज्य आत्मरक्षां कृत्वा समयमण्डलं स्वमन्त्रेऽन्तर्भावयेत्। निद्राकाले निराभासमनन्तं ज्ञानमामुखीकृत्य सुप्यात्। चतुर्देवी चतुर्गीतचोदितश्च निद्रात उत्तिष्ठेत्। एवं प्रत्यहं कुर्याद् यावत्सिद्धिनिमित्तानि पश्येदिति। चित्तप्रधान-मण्डलं चित्तमण्डलं तद् द्योतकः पटलः।

खसमायां खसमतन्त्रस्य टीकायां चित्तमण्डलपटलो द्वितीयः॥

वाङ्मण्डलं वक्तव्यम्। वाक् प्रज्ञा, चित्तमुपायः, प्रज्ञोपाययोरद्वयीभावो वाङ्मण्डलम्; तच्च प्रज्ञाप्रधानम्। ततः तद्भादेवीप्रस्तोतुमाह,—**दिअ** इत्यादि। [अत्र तिसृणां द्विपदिकानां प्रतिपादं चत्वारो गणाश्चतुर्मात्राः[१]।] द्विजा ब्राह्मणास्तेषां

१. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।

चाण्डालानां च तुल्य[1] स्वभावः विज्ञानमात्रत्वात्तेषां भेदकानामाकाराणामसत्वाच्च। अनेनोदाहरणेन बुद्धेन कथितो धर्माणां स्वभावः प्रकृतिः प्रकाशमात्रता खसमाः।

ननु भावानामनेकोऽपि स्वभावः प्रतिभाससिद्धः, एकोऽपि अप्रकाशात्मनः प्रतिभासायोगात्। तत्कथमेकत्वं गीयते न नानात्वमित्याह—**एअ** इत्यादि। एकस्वभावश्चित्तमात्रता तस्य स्थितः सद्भावः परमार्थत्वात्, नानेकस्य कल्पितत्वात्। तस्मिन् सति कथयति वज्री तुल्यस्वभावम्। उदाहरणान्तरमाह—**ब्राह्मणेत्यादिना।** ब्राह्मणकुक्कुरावेकस्वभावौ। अस्थ्नोर्वंशस्य च कटककुण्डलादेर्माराभूतत्वात्। [वज्जपअं इति विलम्बितं कार्यम्[2]।] वज्रपदं दृढं रूपं चित्तमात्रता, तस्मिन् ब्राह्मण कुक्कुरादौ सत्यं परमार्थः। अथ तत्र तुल्यस्वभावः केन दृष्ट इत्याह—[**मइ जो इआ**[3]] मया दृष्टः। उदाहरणान्तरमाह—**मुत्त** इत्यादि। देवीं भादेवीं **तहिं** इति तस्यामेकस्वभावतायाम् **जोअ** सभावेति [विलम्बितेन पूरणीयम्[4]।] योगः समाधिः। **तहिं** इति तस्मिन् योगे, **सब्ब तुम्ह** इति सर्वा यूयं चतस्रो देव्य इत्यर्थः। भावेन वज्रसत्वेन एकस्वभावाः सत्यः शोभन्ते। प्रभाव्यते सन्दर्श्यते इति प्रभावः। शरीरं एकशरीरा इत्यर्थः **तुल्ल** इत्यादि। [अस्यां प्रतिपादं चतुर्दशमात्राः[5]] तुल्यस्वभावेऽर्द्धद्रवत्वात् एकमना एकमन्त्रः। **वज्जो** विबुध्यतां वज्रसत्वो विबुध्यतां, **एकजन** एकाकी। मातापितरौ क्व गताविति चेदाह—**तहिं** इत्यादि। तस्मिन् धर्मद्रवे नष्टौ द्वेषतत्स्वभावौ अक्षोभ्यतद्विद्ये। **अद्धाङ्गेति** अर्द्धशरीरेण धर्मस्य वज्रसत्वस्य प्रभावः प्रभावना। [केचिद् वाक्यमेवं पठन्ति—अद्धे अङ्गे इति तेषां चतुर्थः पादः षोडशमात्रः स्यात्[6]।] अपरमर्द्ध किमित्याह—**वज्जदारु** इत्यादि। [अनयोः प्रतिपादं त्रयो गणाश्चतुर्मात्राः। **वज्जहो** इति ह्रस्वत्वेन चतुर्मात्रम्, **गण** इति बिलम्बितेन त्रिमात्रम्[7]।] **वज्जदारा** इति वज्रभार्या भादेवी तस्मिन् धर्मप्रभावने योगिना दीयते वज्रस्य वज्रधरस्य एकस्वभावा एकशरीरा, तेनैव सह स्वाभयैव वामार्द्धपूरणात्। कदा तस्योत्पत्तिरित्याह-**वज्जहो** इत्यादि। वज्रस्य धर्मद्रवस्य रुणरुणायमानेन चतुर्देवीचतुर्गीतकेन वर्णनं स्तुतिः क्रियते यावत्तावत्। तदनन्तरमेव किं धर्मप्रभाव इति वर्तते। अथ चोदकं देवीचतुष्टयं क्व गच्छतीत्याह **देवहो** इत्यादि। देवस्य वज्रसत्त्वस्य वामेनोर्ध्वेन (वामेनार्धेन) भादेवीभागेनैकीकृत्य ताः पश्येदित्यर्थः। ननु वज्रसत्वोऽस्माभिर्भावनीयः इदं पुनरन्यदेव च न स्त्री न पुमानित्यत—आह, **वज्जसत्तेत्यादि।** वज्रसत्त्व एवायं

१. क. त्यं। २-७. कोष्ठांशाः भोटे न सन्ति।

प्रणम्यतां भाव्यताम्, मम वचनं प्रमाणं क्रियताम्, यस्मादहमपि स एव भगवानिति भावः। तदुक्तं भवति सप्तविधानुत्तरपूजादिक्रमेण खसमं बोधिचित्तमामुखीकृत्य ॐकारेण त्रिसाहस्रप्रमाणकायां भगवतीं चुन्दां विचिन्त्य, तत्कमलकर्णिकायां वैरोचन-परिणामजं कूटागारं विभाव्य तन्मध्यरक्ताष्टदलकमलकर्णिकासूर्यमण्डले भगवन्तमक्षोभ्यं स्वाभविद्याङ्गसङ्गिनं ध्यात्वा सर्वबुद्धान् प्रवेश्य विलीय कमलोदरगतान् विलोक्य तत्रैव प्रज्ञोपायौ विलीय समरसीभूतौ दृष्ट्वा चतुर्देवीचतुर्गीतकचोदितधर्मद्रवसंहारजचन्द्र-मण्डलमध्योत्पन्नरक्तहूंकारजविश्ववज्रवरटके तद्बीजं विचिन्त्य तत्परिणामं भगवन्तं दक्षिणार्द्धेन पुरुषरूपधरं वामार्द्धेन भादेवीरूपधरं पद्मरागनिभं वामे तुङ्गस्तनं वामार्द्धे ललाटे अलकशोभितं जटामुकुटिनं विचित्राभरणाम्बरं शृंगाररसं विचिन्त्य चतस्रो देवीस्तस्मिन्नेव वामार्द्धे प्रविश्यैकरसीभूतांश्चिन्तयेत्। शेषं पञ्चबुद्धमुकुटादिकं यथायोगं पूर्ववत्। वाङ्मडलद्योतकः पटलस्तथोक्तः।

खसमायां खसमतन्त्रस्य टीकायां वाङ्मण्डलपटलस्तृतीयः॥

कायमण्डलं वक्तव्यम्। तत्र कायेन कायपुष्टिः परः समयस्तमाह—**हत्थी**त्यादि। [अनयोः प्रतिपादं चत्वारो गणाः[1]] खसमस्वभाव इति वज्रसत्त्वयोगवान्। **जोइ** इति हे योगिन्, भावना चित्तेन सहितमेकाग्रमन एकमनः। वज्रधरे एकमनस्तेन सिध्यति। **रूवे सवाण** इति वज्रसत्त्वरूपाकारम्, **रूवसमाण** इति क्वचित्पाठः, इति रूपसाम्येनेति तत्रार्थः। अथ शान्तिदेवीगाथाचतुष्टयेन तथतां भाषते, तथतास्वभावात्तस्याः[2]। [आसां प्रतिपादं त्रयो गणाः[3]।] **कुणन्तउ** इति कुर्वताम्, **एअ** इति एवं यथा वक्ष्यति। **धम्मसमा** इति धर्माः समाः। **समीअउ** इति समीयन्तां सम्यग् ज्ञायन्तां, बहुत्वेऽप्येक-वचनम्। **एअ विआर** इति, एवं विचारो निश्चयः। एष देवो वज्रसत्त्वः वैरोचनः शाश्वतः, देव्यः पञ्च। एते एकस्वभावाः। नन्वक्षोभ्य इत्युच्यतां न तु वैरोचन इत्यत आह-**तुल्ल** इत्यादि। समचित्तस्य योगिन एकरसा धर्मकायः सिध्यति। ततो नेह सत्वादक्षोभ्यात् प्रभा(भ)व उत्पादना। किं तर्हि वैरोचनात् प्रसिद्धनियमखण्डनेन समताद्योतनात्? अथ वैरोचनादुत्पत्तौ को गुणः? कायमण्डलतत्त्व[4]संहर्तुमाह—**वज्जसत्त**

१. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। २. ख भावत्वा।
३. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। ४. ख. मुसंप।

इत्यादि। सर्वे एते एकस्वभावाश्चिन्त्याः। कथं पूर्ववच्चुन्दाकमलकर्णिकायां वैरोचन-परिणतकूटागारमध्यासनकमले वैरोचन-तत्स्वाभ(भा)याः सुरतोद्भवद्रवे तयोर्विलये। उत्थाय चतुर्देवीविलयानन्तरं द्रवघनीभावजे [1]चन्द्रे सितहूंकारजस्य सितवज्रधरस्य भावनात्। एकस्वभावाद् धर्मकायात्। वज्रनयौ वज्रयानम्। [2]योगपीठस्य तर्हि कोऽर्थ इत्याह—**चुन्दे**त्यादि। भावानां सर्वधर्माणां यः स्वभावः प्रकृतिः शून्यता सा चुन्दा। वज्रसत्त्वः तत्र किं करोतीत्याह—तस्मिन् योगपीठे रूपी सदेहः सन् पश्यत्येकं स्वभावं भावानाम्। **भावण** इति भावना, वैरोचनः शाश्वतः। **देविहो** इति देव्याः (व्यः) सत्यः परमार्थो वज्री तस्योत्पत्तिम्, उत्पत्तिर्हि कायेन। कायश्च शाश्वतस्तस्मात् स एवोत्पत्ति-माचष्टे। कथमित्याह—**एससी** इत्यादि। [द्विपदिकाद्वयं अत्रायुजौ चतुर्दशमात्रौ युजौ द्वादशमात्रौ[3]] **ए** इति योगी। **ससिमण्डलमज्झट्ठिउ** इति धर्मद्रवसंहार-जस्य चन्द्रमण्डलस्य **मध्ये** स्थितं वज्रस्य वज्रधरस्य मन्त्रं वीजं सितहूंकारं वज्रं विभावयत्येकमनाः। तेन मन्त्रेण तिसृ इति प्रतिपार्श्वत्रिसूचिकं द्वादशसूचिकमित्यर्थः। **जलन्तउं** इति ज्वलत् [क्वचित् पाठः। **चित्तइ वज्जसहाव वज्जविभावइ एअमणा तिसृइ वज्जजलन्तउ इति**। तत्रापि स एवार्थः। किन्तु तिसृ इति द्रुतेन चतुर्मात्रं यमकं च न स्यात्[4]] **मज्जट्ठिअउं** इति मध्यस्थितं स्वार्थे कः। **वज्जसहावेति**–वज्रधरमूर्त्तिम्, **एम्मइ** इति एवं मया वज्रनयो वज्रधरोत्पत्तिः। **धम्मउं** इति धर्माणाम्।

खसमायां खसमतन्त्रस्य टीकायां कायमण्डलपटलश्चतुर्थः॥

धर्मकायादेवदेवतोत्पत्तिरस्तु किं मन्त्रेणेत्याह—**अभावे** इत्यादि। [अत्र त्रीणि द्विपथदिकानि। चतुर्थं त्रिगणम्। अभावे इति द्रुतोच्चारणाच्चतुर्मात्रः[5]।] **अभावोऽवि-कल्पः समाधिः**, भावो देहः न भाव्यते न जल्प्यते, न हि स्वप्नादपि प्रवुध्यमानोऽनुत्पन्न एव विकल्पे धावति। तद्वद्धर्मकायादपि विना मन्त्रेण न देहोत्पत्तिः। **अम्महो** इति स्त्री सम्बोधनं भावयति निरूपयतीति भावो मन्त्रः। **एअ** इति एवं मन्त्रेणेत्यर्थः। **धम्मनिरूवज्जउ** इति धर्मे निरूप्यमाणे चित्तादिति मन्त्रव्यवहृतादविकल्पात्। भावो देहः **चित्तहोभास**[6] इत्यादिना युक्त्यन्तरमाह। चित्तादेव निष्प्रपञ्चात् भावे देहस्य नास्ति नयो मोक्षस्तेन च कारणेन क्रियते भावो मन्त्रः। कुतो नास्तीत्याह—

१. क. न्द्र, भोटे न्द्रे पाठः। २. ख. यौ इति अधिकः।
३-५. कोष्ठांशः भोटे न सन्ति। ६. क. ष।

भावेत्यादि, भावो देहः तत्स्वभावस्य चित्तस्य नास्ति नयो मोक्षः विरोधात्। कीदृशो नयः? यश्चित्तस्य खसमः स्वभावः, प्रतिष्ठादेहभोगनिर्भासानां विज्ञप्तीनां सह बीजेन परिक्षयात्। संभारो[1] वेधसामर्थ्यात्। पुनः स एव देही भविष्यतीति चेदाह-- **चित्ते**त्यादि। मुच्यमानस्य चित्तं विशेषेण शुद्धयति अपुनरावृत्या क्षीयते। किं तत् **पुब्वजिह** यथापूर्वमुक्तः प्राक् भ्रान्तिर्भ्रान्तिनिमित्तप्रतिभासश्चासीत्। ततः किमित्याह—**कह** इत्यादि। कथं तस्य देहादेरपुनरावृत्या क्षीणस्य भावः क्रियते, नैव विरोधात्। एत(वं)र्न्तर्हि चित्तस्याकारः प्रकृतिरेवास्तु। ततो विशुद्धमपि चित्तं देहाकारमुत्पत्स्यते। अत्राह—**सिज्झ** इत्यादि। न चासौ भाव इति, न चासौ देहः नयः परमार्थः सिध्यति बाह्यश्चित्तात्मको वा एकानेकस्वभावविरहात्। ततश्च चित्तमाकाशस्वभावमेव आकाराणामलीकत्वात्। अलीकख्यातिश्च भ्रान्तिः। न च मुक्तस्य चित्तस्य भ्रान्तिरस्तीति कुतस्तस्य देहः? तस्माद् द्रवाद्धर्मकायादन्यदेव तन्निष्पन्दभूतं विज्ञानं देहादिप्रतिभासमुत्पद्यते, स्वाकारमलीकत्वेनात्मानं च मायोपमत्वेन परिच्छिन्दानमिति भावः। उपसंहरन्नाह—**मज्झ** इत्यादि। [स्वार्थे कः[2],] निर्विकल्पाद् विकल्पः, ततो देह इति। अनया युक्त्या मध्येऽन्तराले पदं बीजाक्षरं निरूपकम्। एवं मन्त्रव्यवहिताच्चित्तादविकल्पात् क्रियते भावो देहः। एवं वज्रसत्व उत्पद्यते चित्तमण्डलादिनानास्वभावः। **सव्वसत्तपरिभाविअ किज्जइ मोक्खसहाव** इत्युक्तम्। स च मोक्षश्चित्तमात्रमेकरसम् तत्कीदृशं भाव्यमित्याह—**अच्छउं** इत्यादि। अस्यां प्रतिपादं त्रयो गणाः। अच्छं प्रकृतिशुद्धत्वात्, निर्मलमागन्तुकमलक्षयात्। पानीयसाधर्म्यात् पानीयं प्रसब्धि (प्रश्रब्धिः?) सुखद्रावितमित्यर्थः। **तेत्थहो** इति तस्मिन् वज्रसत्वोत्पादेन। **लघुसीध्यं भावेन्तं** इति तेन भावेन तेन देहीकृतेन। **एम्मइ** एतन्मया। **कहि अनिरुत्त**, अकथ्यं कथितम्। [वचेर्भावे क्तः। निष्क्रान्तमुक्तादिति नि[3]रूक्तम्।] **अकथ्यं वज्जरहस्स** इत्यादिना समयमाह। [अस्यां चतुर्गणाः पादाः **सोमे** इति ह्रस्व एकारः। आहारे इति आदौ ह्रस्वः सोमेनेति बोधिचित्तेन][4] भाव इति स्वदेहः। **तहिं** इति तस्मिन् सति, वज्रोदकं मद्यम्। **एवं स्वभावमिति** बोधिचित्तस्वभावम्, **चित्तसहाव** इति वज्रसत्त्वयोगस्थः। **धम्म** इत्यादि। [अनयोः पादास्त्रिगणाः[5]।] धर्मः संघो[6] वज्रोदकम्, इत्येषां तुल्यस्वभावः। वज्रोदकं हि बोधिचित्तं स एव धर्म आर्यमार्गत्वात्, स एव संघः[7] सवीर्यपुद्गलसंग्राहकत्वात्। वसादीनां च

१. ख. रा। २-५. कोष्ठांशः भोटे न सन्ति। ६-७. ख. ह्य।

तुल्यस्वभावो बोधिचित्तमेव प्रकाशमात्रत्वात् धर्माणां आकाराणामलीकत्वात्, **डे दे** (?) विक्रियते भावः। अभ्यास[1] आशयो वा योगिभिरिति शेषः। भक्ष्यं भोज्यं शयनासनम्। **सब्बउ** इति सर्वेषामेषां योऽपि समाधिनिरुक्तः, धर्मद्रवोद्भूतश्चित्तमण्डलादिः। तस्य च एक एवं वा स्वभावो **युतुत** (यदुत) बोधिचित्तम्। अथायमुत्पन्नो रूपी वज्रसत्वः कथं द्रष्टव्य इत्यत आह–**बुद्ध** इत्यादि। [अस्याश्चतुर्गणाः पादाः अभावस्यादौ दीर्घत्वं[2]] **बुद्धे**नेति बोधनत्वेन सर्वं पश्यता त्रीणि कायवाक्चित्तानि बोधिरूपाणि स्वभावोऽस्येति तथोक्तः। क्रियते दृश्यते, परमार्थतः। कीदृशः सर्वधर्माणामभावः खसमं ज्ञानं (न) स्वभावः प्रकृतिरस्येति तथोक्तः आकाराणामसत्वादिति भावः। वज्रो वज्रधरस्तेन मायास्वभावः कथितस्तथापरिच्छेदात्। **खसम होन्ति पडिहाइ सरूव**। यस्मात् खसमः सन् रूपी च प्रतिभाति। अन्ये तु चतुर्थपादं न पठन्ति त्रिपादिक[3]मेतदिति चाहुः। **माअ**[4] इत्यादिना फलमाह। [अस्यां त्रिगणाः पादाः[5]] धर्मः स्वभावः। मायास्वभावं निरूपयता वज्रस्य धर्मकायस्य कृतः प्राग्भारोऽवतारः, अवश्यं तत्प्राप्तेः। विपर्यये दोषमाह—**सत्त** इत्यादिना। सत्वं रूपादिस्वभावं य एनं मन्यते स सत्वस्वभावः, तस्य नास्ति नयो धर्मकायः। अथैनं चित्तमेव मन्यते तस्यापि चित्तस्यैतदेव स्थितं सारं न्याय्यं यदुत मायोपमत्वमाकाराणामलीकत्वात्। स्फरणसंहरणमधिकृत्याह— **एअ** इत्यादि। [अनयोः पादाश्चतुर्गणाः[6]।] आदौ तावच्चित्तं मेरुपर्वतसमं क्रियते। उन्नतविपुलप्रभासुरतया नातिविपुलं नाभ्युन्नतं विक्षेपप्रसङ्गात्। नान्धकारम्भ्या-(ध्या)नसिद्धप्रसङ्गात्। पश्चात्तच्चित्तमुत्पाद्यते। **सुद्धबुद्धे**ति केवलं बुद्धमयं सर्वतथागतस्फरणैर्व्याप्तत्वात्, पश्चात्तच्चित्तं खिन्नं सत् स मन्त्री संहरति। तस्मिन् संहारे सती मन्त्री स्मरति ध्यायति। सर्वतथागतसंहारेण वज्रधरस्वभावं स्वचित्तं निरूपयेत्। पश्चाच्चित्तं मेरुसमं प्रज्वालयत्यालोकपिण्डरूपेण, तस्मिन्नालोकराशौ वज्रसत्वं(त्व)रूपेण चालयति, तद्देहकोटीशतसहस्रैः पूरणात्। पश्चादाकाशरूपं स्फारयति। वज्रधरवपुषां क्रमेण संहरणात्। एवं स्फरणसंहरणयोः स्वरूपमित्युप-संहारः। तथागतसंहारात् तथागता एव स्फरन्तीति युक्तमिति चेदाह—**सिज्झ** इत्यादि। [अत्रायुजौ त्रिगणौ युजौ द्विगणौ[7]] तस्मिंश्चित्ते सिध्यति वज्रसत्व एकरसेन सर्वतथागतसंहारेण अतश्च स्फरणमभ्युपपन्नम्। वज्रधरेण स्फरणस्य कालमाह— **स्थिर** इत्यादिना। [अत्रायुजौ दशमात्रौ युजौ द्वादशमात्रौ[8]] स्थिरं स्फारयति योगी

१. क. भ्यो. २. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। ३. ख. द। ४. क. ह।
५-८. कोष्ठांशः भोटे न सन्ति।

अस्थिरं नैव स्फारयेदिति। अस्थिरं स्फारयत्यस्मिन्नफलोभवत्यायासः, फलं च न लभेत् प्रयासश्च भवेदित्यर्थः। अस्मिन् तन्त्रे सुलभा सिद्धिरिति ख्यापयितुं द्विपदीषट्कमाह—**सब्बेत्यादि**। [अत्र त्रिगणाः पादाः[1]] सर्वं सत्यं यथारु[2]तं मया कथितं अत्रेति शेषः। सिद्धं प्रकृतिसिद्धत्वात्, यानं बोधिमार्गः, सभावं सतत्त्वम्। अस्तु प्रकृतिसिद्धमिदं यानं चित्तं तु मलिनमस्माकमिति चेदाह—चित्तेत्यादि। [द्विपथकस्य द्विपादकमेतत्[3]।] चित्तं मा दूषयत खसमं प्रकृतिशुद्धत्वात्, समं तस्याः प्रकृतेरविकारात्। कथमित्याह—यन्न विलिम्पति कोऽपि मलः, तस्यां प्रकृतौ मलानामागन्तुकत्वात्, आकाशे धूमतमोऽभ्रतुहिनवत्। **जोइ** इत्यादिना देवताबलमाह। [अत्र त्रिगणाः पादाः[4]] हे योगिनः एषा भगवती चुन्दा आदिस्वभावा सर्वबुद्धानुत्पादयति भाविते[5] वज्रप्रभावे। प्रभावनं प्रभाव उत्पादनम्। सा चेद्बुद्धानुत्पादयति किं वज्रधरेणेत्यत आह—**देवी**त्यादि। [अस्यां चतुर्गणाः पादाः[6]।] देवीनां देवस्य च वज्रधरस्य एक एव स्वभावः तस्य चैता विभूतयः बुद्धैस्तर्हि कोऽर्थ इत्याह—वज्रसत्वो भगवान् बुद्धानामेव प्रभावो विभवः सारः—धर्मकायस्वभावत्वात्। अत एव समूलं बुद्धानां कायद्वयसंगृहीतानाम्। अनादिनिधनत्वाच्च धर्मकायस्य स एव मूलम्, तदेवं वज्रधरसंगृहीतानां त्र्यध्वबुद्धानां अधिष्ठानमिति देवताबलम्। आशयबलं मन्त्रबलं चाह—**अणुणअ**[1] इत्यादिना। अनुनयो मनसः सर्वसत्वेषु हितसुखाशयः। तस्य भावना तृतीयैकवचनस्य हेभावः, तया च सिद्धिरवश्यं हूँकारेण चानुनयार्थेन। तस्मादभिन्नपर्यङ्कैरजस्रमयमेव योगोऽभ्यसनीय इति सूचयन्नाह—**हिअए अ** इत्यादि। [अत्र त्रिगणाः पादाः। ऊरुशब्दस्यान्तेऽपि दीर्घः।] ऊरुर्मम व्यथते पादो मम व्यथते इत्येष ऊरुपादवितर्को मोघः फलविघ्नत्वात्, मोहो वाऽज्ञानप्रभवत्वात्। स हृदये न क्रियते हृदि कर्तुं न युज्यते। ननु सन्ति विघ्नास्तत्कुतः सिद्धिरित्यत्र आह, **वज्जे**त्यादि इन्द्राग्निमयनैर्ऋतादयो दशसु दिक्षु भूतपतयः सपरिवाराः विघ्नकशः, त्रैलोक्यं तस्य चक्रं समूहः, तद्वज्रप्रभाभिः संयमितं हृद्वज्रनिर्गताः स्फरन्तोज्वलद्वज्राकारा रश्मयो वज्रप्रभाः ताभिः संयमितं निरस्तम्, ततो नात्र विघ्नाः प्रभवन्तीति भावः। क्रोधदेवतायोगे विघ्नघातो बलीयानिति, चेदाह—**फार** इत्यादि। [अत्रापि त्रिगणाः पादाः।] स्फारयति योगी नभस्तलक्रोधदेवतानां कोटिसहस्राणि **वज्जहो एक्कसहाव** इति। वज्रधरादभेदाधिमोक्षेण पुनः संहरत्यवश्यं तानि वज्रस्वभावतयैव। एतच्च तन्त्रं खसमार्थप्रधानत्वात्तेनैव-

१. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। २. क. द्रु। ३. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।
४. कोष्ठांशः भोटे नास्ति। ५. क. भावे। ६. कोष्ठांशः भोटे नास्ति।

व्यपदिश्यते। अतस्तमेवोपसंहर्तुमाह—**चित्तेत्यादि**। [द्विपथकमेतत्।]. चित्तस्य स्वभावः प्रकृतिस्तथता, तस्यैव बोधिर्नयो बोधिस्तत्त्वं न मलानाम्। ततस्तेषां क्षयेतद-क्षयात् सुलभा बोधिः। ननु बोधिरनन्ता बुद्धधर्मास्ते कथं तत्त्वं तस्येत्यतआह, **बोधिहो** इत्यादि। बोधेर्नयस्तत्त्वं चित्तस्वभाव एव चित्ततथतैव, सैव हि बुद्धानां धर्मकायो बुद्धधर्माणामाश्रयत्वान्नतु बुद्धधर्माः। ते हि तस्य विभवो न स्वरूपम्। यदि तर्हि तथतैव तत्वमुभयोः सा च शून्यता द्वयाभावः। द्वयस्य सदा सर्वत्र चासत्वादत्यन्ताभावः, शशविषाणवत्। न चात्यन्ताभावो भावानां प्रकृतिः भवति, नापि तस्याः प्रत्यक्षीभावोऽप्रकाशात्मकत्वादित्यत आह— **उभय** इत्यादि। बोधिश्चित्तं च बोधिश्चेत्युभयम्, तस्य स्वभावस्तथता, तस्य चित्तं नयः परमार्थः द्वयरहितं चित्तमेव द्वयशून्यता तन्मात्रस्य भावप्रत्ययेन निर्देशात्। यदि तर्हि चित्तमेवशून्यता, चित्तं चादित एव भ्रान्तं सैव तस्य प्रकृतिरिति भ्रान्तिरेव बोधिः स्यात्, तच्चायुक्तम्, सवा[1]सनसर्वभ्रान्तिपरिक्षयलक्षणत्वात्। बोधिरित्यत[2] आह—**चित्तहो** इत्यादि। आगन्तुका हि भ्रान्तिस्तान्निमित्ताश्च मलाः। स्वभावस्तु चित्तस्य खसम एव प्रकाशमात्रत्वात्, आकाराणामसत्वात्, कदाचिदस्तमयादपि कदाचिच्चासत्तयैव परिच्छेदात्। लौकिक-लोकोत्तरतत्पृष्ठलब्धासु चित्तावस्थासु यथाक्रमं यत एवागन्तुकामलास्तत एव सुलभा-बोधिः। तत्रागन्तुकमलशुद्धिः साध्यते प्रकृतिशुद्धिः सिद्धैव। तन्त्रान्तरेषु पटलान्तरेषु च साधारणो योऽर्थस्तस्यद्योतकः पटलः।

श्रीमत्तन्त्रं खसममनया यन्मयाभ्यर्च्य वाचा,
प्राप्तं पुण्यं परिणतशरच्चन्द्रिका चारु कान्ति।
तेनाक्षेपं खसममसमं ब्रह्मजैनं व्रजेयम्,
विश्वार्थाय प्रभवति गुणज्योतिषां यत्र योगः॥

खसमायां खसमतन्त्रस्य टीकायां पञ्चमः पटलः॥

समाप्ता चेयं खसमा नाम टीका॥

कृतिरियं महापण्डितश्रीरत्नाकरशान्तिपादानाम्॥

---

१. क. र्वं। २. क. धे।

समन्तन्त्रस्य समाटीकायां तन्त्रान्तरोद्धृतानि पद्यानि

(पृ० २३३) यथोक्तं **श्रीगुह्यसमाजे** (१८.५१)—

मोहे द्वेषे च रागे च सदा वज्रे रतिः स्थिता ।
उपायः सर्वबुद्धानां वज्रयानमिति स्मृतम् ॥

(पृ० २३५) उक्तं **श्रीपरमाद्ये**—

आकाशोत्पादचिह्नत्वादनादिनिधनः परः ।
वज्रसत्त्वमयः सत्वो वज्रसत्वः परं सुखम् ॥

(पृ० २३५) **सर्वरहस्यतन्त्रे**ऽप्युक्तम्—

न किञ्चिद्धेतुतत्त्वं हि फलतत्त्वं तथैव च ।
तत्तत्त्वं तथता ज्ञानं तत्र योगी समाचरेत् ॥

(पृ० २३५) **श्रीसमाजे**ऽप्युक्तम्—

कायाक्षरमनुत्पन्नं वाक्चितमलक्षणम् ।
खवज्रकल्पनाभूतं मिथ्यासंग्रहसंग्रहम् ॥

(श्री समाज १७.३६)

(पृ० २३५) उक्तं च **वज्रशिखरे**—

ततः स्वाभाविकानकायान् संयोगैर्विसृतः पुनः ।

❀

जैन परम्परा में श्रमण और उसकी आचार संहिता

डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
श्रमणविद्या संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवहमान है। पुरातात्त्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर अनेक विद्वान् अब यह स्वीकृत करने लगे हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी, वह श्रमण या आर्हत् संस्कृति होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैनधर्म के आदिदेव तीर्थंकर वृषभ या ऋषभ द्वारा प्रवर्तित हुई। श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग—जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी इन विशेषताओं के कारण ही अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद भी इस संस्कृति ने अपना पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जैनधर्म के अन्य नामों में आर्हत तथा श्रमण धर्म प्रमुख रूप में प्रचलित हैं। इसके अनुसार श्रमण की मुख्य विशेषतायें हैं—उपशान्त रहना, चित्तवृत्ति की चंचलता, संकल्प-विकल्प और इष्टानिष्ट भावनाओं से विरत रहकर, समभाव पूर्वक स्व-पर कल्याण करना। इन विशेषताओं से युक्त श्रमणों द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और आचरित संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाता है।

प्राचीन जैन साहित्य में "श्रमण" के लिए अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं जैसे—समण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति[1] क्षान्त, भिक्षु, निर्ग्रन्थ, विरत, माहण, ज्ञानी, कृती, चरण-करण पारविद्, गुप्त, मुक्त, विद्वान्,

---

१. समणो त्ति संजदो त्ति य रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार-भदंत-दंतो त्ति॥
——मूलाचार ९।१२०; सूत्रकृताङ्ग २.१.१५.

तीरार्थी[1] आदि। ये सभी शब्द पर्यायवाची होते हुए भी श्रमण की विभिन्न विशेषताओं और उसकी आचार संहिता के विविध पक्षों को अभिव्यक्त करते हैं। इन सभी नामों का ऐतिहासिक विकासक्रम से अध्ययन किया जाए तो श्रमण शब्द अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। वैदिक-साहित्य के कई ग्रन्थों में भी "श्रमण" शब्द जैन साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2]

श्रमण

श्रमण शब्द चार रूपों में उपलब्ध होता है—श्रमण, समण, समनस् और शमन। इनमें श्रमण शब्द प्राकृत भाषा के समण शब्द का ही रूपान्तरण है। श्रमण शब्द की निष्पत्ति श्रम धातु से हुई है। श्रमयन्ति आत्मानं तपोभिरिति श्रमणाः[3] अर्थात् जो तपों के द्वारा अपनी आत्मा को श्रम युक्त करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि "जो अपने ही श्रम से तप-साधना के महापथ पर बढ़ते हुए मुक्ति लाभ करे अथवा जो आत्मा और परमात्मा के लिए तपस्या रूप श्रम से अपने शरीर को श्रान्त करे वह श्रमण है। सब जीवों को आत्मतुला की दृष्टि से देखनेवाले समतासेवी मुनि के अर्थ में समण (श्रमण) शब्द मिलता है।[4] प्रश्नव्याकरण में कहा है—जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता हो वह श्रमण है।[5] आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमण की परिभाषा देते हुए कहा है—जो शत्रु और बन्धु वर्ग में, सुख और दुःख में, प्रशंसा और निन्दा में, लोष्ट और कंचन में तथा जीवन और मरण में शम-भाव है, वह श्रमण कहा जाता है।[6] इस प्रकार श्रमण सभी प्राणियों आदि के प्रति समताभाव रखने वाले तथा आत्मचिन्तन करने वाले होते हैं।[7]

समनस् का अर्थ राग-द्वेष रहित मनवाला-माध्यस्थवृत्तिवाला।[8] तथा समन का अर्थ है पवित्र मनवाला।[9]

---

१. सूत्रकृताङ्ग २.१.१५.
२. तैत्तिरीय उपनिषद् २.७, बृहदारण्यक उपनिषद् ४.३.२२, श्रीमद्भागवत स्क. पु. ५ अ० ३, वाल्मीकि रामायण सर्ग१८ पृ० २८, अष्टाध्यायी २१।७०.
३. मूलाचारवृत्ति ९।१२०. ४. स्थानाङ्गनिर्युक्ति गाथा १५४.
५. समे य जे सव्व पाणभूएसु से हु समणे।—प्रश्नव्याकरण २.५.
६. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ प्रवचनसार ३.४१.
७. मूलाचार ९।३७. ८. स्थानाङ्गनिर्युक्ति गाथा १५५, १५६.
९. वही, टीका पृ० २६८.

शमन से तात्पर्य इन्द्रिय निग्रह, शान्ति, क्षमा और दमन है। अतः जो श्रमण सदा अप्रमत्तभाव से संयम, समिति, ध्यान, योग, तप, चारित्र और करण से युक्त होता है वह पापों का शमन करनेवाला कहलाता है।[१] वस्तुतः उपशम (शान्ति) को श्रामण्य (श्रमण धर्म) का सार भी कहा गया है।[२]

श्रमण के भेद

कषायों का उपशमन, राग-द्वेष की निवृत्ति तथा शान्ति और समतारूप श्रमण धर्म है। इसे प्राप्त करने के उद्देश्य से श्रमण जीवन में चारित्र को सर्वोपरि माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है "वास्तव में चारित्र ही धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है और ऐसा साम्य मोहक्षोभरहित आत्मा का परिणाम है।[3] चारित्र की दृष्टि से श्रमण के सराग चारित्रधारी और वीतराग चारित्रधारी—ये दो भेद किये गये हैं। अशुभ राग से रहित तथा व्रतादिक रूप शुभ राग से युक्त श्रमण सराग-चारित्रधारी कहलाता है तथा अशुभ एवं शुभ दोनों प्रकार के राग से रहित श्रमण वीतराग'चारित्रधारी होता है।[४]

उपयोग की दृष्टि से भी श्रमण के दो भेद हैं—शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी। शुद्धोपयोगी श्रमण कर्मों के आस्रव से रहित तथा शेष सब शुभोपयोगी श्रमण कर्मों के आस्रववाले होते हैं।[५]

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों की दृष्टि से श्रमण के चार भेद हैं। इनमें किसी वस्तु का श्रमण यह नाम रखना "नामश्रमण" है। काष्ठ, धातु आदि से श्रमण की आकृति बनाकर उसमें श्रमणत्व की स्थापना करना स्थापनाश्रमण है। गुणरहित श्रमणवेष धारण करना द्रव्यश्रमण है, तथा मूलगुण एवं उत्तरगुण के

---

१. णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु।
तवचरणकरणजुत्ता हवंति समणा समिदपावा ॥ मूलाचार ९।९६

२. "उपशमसारं सामण्णं"—बृहत्कल्पसूत्र प्रथम उद्देशक, अधिकरणसूत्र।

३. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ प्रवचनसार १.७।

४. नयचक्र ३३०।

५. समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ प्रवचनसार ३.४५।

पालन में तत्पर रहना भावश्रमण है।[1] इन चारों में भावश्रमण ही सच्चे श्रमण माने जाते हैं। क्योंकि जो श्रमण ज्ञान तथा दर्शन आदि गुणों में लीन रहकर नित्य प्रवृत्ति करते हुए अपने गुणों में सदा प्रयत्नशील रहते हैं उन्हीं को पूर्ण श्रामण्य की प्राप्ति होती है।[2]

बुद्धि की दृष्टि से भी श्रमण के चार भेद इस प्रकार हैं—१. पदानुसारीबुद्धि-श्रमण—अर्थात् बारह अंग एवं चौदह पूर्व-रूप श्रुत (शास्त्रों) में से एक पद प्राप्तकर उसके अनुसरण से सम्पूर्ण श्रुत को जानने वाले श्रमण। २. बीजबुद्धि श्रमण—सम्पूर्ण श्रुत में से एक बीज-प्रधान अक्षरादि के माध्यम से सम्पूर्ण श्रुत जानने वाले श्रमण। ३. सम्भिन्नबुद्धि श्रमण—जिसके समक्ष किसी के द्वारा कुछ भी पढ़ा जाय या कहा जाय वह सब पूरा का पूरा उसी तरह कह देने वाला श्रमण। ४. कोष्ठबुद्धि श्रमण—जिसका वर्ण (अक्षर)-पद-वाक्य रूप श्रुतज्ञान बहुत काल बाद भी न नष्ट होता है और न न्यूनाधिक होता है, अपितु सम्पूर्ण ही बना रहता है वह कोष्ठबुद्धि श्रमण है। इस प्रकार ये चारों ही श्रमण धारण और ग्रहण में समर्थ, सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के परमार्थ को जानने वाले अवधि और मनःपर्ययज्ञानी, ऋद्धियों से सम्पन्न तथा धीर होते हैं।[3]

श्रमणाचार विषयक साहित्य

भारत की अनेक प्राचीन भाषाओं—अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश आदि में निबद्ध श्रमणाचार विषयक विपुल वाङ्मय उपलब्ध है। जैन परम्परा के अनुसार यह श्रमणधारा प्राचीन काल में ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई और ईसा पूर्व छठी शताब्दी में इसे वर्द्धमान महावीर ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। उनके बाद अनेक महान् आचार्यों द्वारा यह धारा निरन्तर प्रवर्तित होती आ रही है। इन आत्मदर्शियों के गहन चिन्तन मनन और स्वानुभव से जो विशाल वाङ्मय उद्भूत हुआ वह आज भी हमें पथप्रदर्शन का कार्य कर रहा है। वस्तुतः तीर्थङ्कर महावीर से जो ज्ञान-गंगा प्रस्फुटित हुई, वह श्रुतज्ञान, गणधरों, आचार्यों,

---

१. णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण।
णिक्खेवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो॥ मूलाचार १०.११०।

२. प्रवचनसार ३.१४।

३. धारणगहणसमत्था पदाणुसारी य बीयबुद्धी य।
संभिण्णकोट्ठबुद्धी सुयसागरपारया धीरा॥ मूलाचार ९.९६.

उपाध्यायों एवं बहुश्रुत श्रमणों के माध्यम से अब तक चला आ रहा है। यही श्रुतज्ञान आगम के रूप में विद्यमान है। जैन परम्परा की दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों धाराओं में श्रमणाचार विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य शिवार्यकृत भगवइ आराहणा, वट्टकेरकृत मूलाचार, आचार्य-कुन्दकुन्दकृत पवयणसार, अट्ठपाहुड और रयणसार, स्वामी कार्तिकेयकृत कत्तिगेयाणुवेक्खा, चामुण्डरायकृत चारित्रसार, वीरनन्दिकृत आचारसार, देवसेनसूरिकृत आराधनासार एवं भावसंग्रह, पं० आशाधरकृत अनगारधर्मामृत, सकलकीर्तिकृत मूलाचारप्रदीपक इत्यादि श्रमणाचार विषयक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इसी तरह श्वेताम्बर परम्परा में आयारंग, सूयगडंग, आउरपच्चक्खाण, मरणसमाही, निसीह, ववहार, उत्तरज्झयण, दसवेयालिय, आवस्सय, आवस्सयणिज्जुत्ति इत्यादि ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड तथा मराठी आदि भाषाओं में रचित श्रमणाचार विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

आचार संहिता

आचार शब्द के तीन अर्थ हैं—आचरण, व्यवहरण और आसेवन। सामान्यतः सिद्धान्तों, आदर्शों और विधि-विधानों का व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष आचार कहा जाता है। सभी जैन तीर्थंकरों तथा उनकी परम्परा के अनेकानेक श्रमणों ने स्वयं आचार की साधना द्वारा भव-भ्रमण के दुःखों से सदा के लिए मुक्ति पायी साथ ही मुमुक्षु जीवों को दुःख निवृत्ति का सच्चा मार्ग बताया। श्रमण होने का इच्छुक सर्वप्रथम बंधुवर्ग से पूछता और विदा मांगता है। तब बड़ों से, पुत्र तथा स्त्री से विमुक्त होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों को अंगीकार करता है।[1] और सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त अपरिग्रही बनकर, स्नेह से रहित, शरीर संस्कार का सर्वथा के लिए त्यागकर आचार्य द्वारा "यथाजात" (नग्न) रूप धारणकर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को अपने साथ लेकर चलता है।[2]

---

१. अपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदसणचरित्ततववीरियायारं ।। प्रवचनसार ३।२.

२. ते सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्ठचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ।। मूलाचार ९।१५.

जिन मूलगुणों को धारणकर साधक श्रमणधर्म स्वीकार करता है उनका विवेचन आगे प्रस्तुत है।

मूलगुण

श्रमणाचार का प्रारम्भ मूलगुणों से होता है। आध्यात्मिक विकास के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपनी आचार संहिता के अन्तर्गत जिन गुणों को धारण करके जीवन पर्यन्त पूर्ण निष्ठा से पालन करने का संकल्प ग्रहण करता है, उन गुणों को 'मूलगुण' कहा जाता है। वृक्ष की मूल (जड़ या बीज) की तरह ये गुण भी श्रमणाचार के लिए मूलाधार हैं। इसीलिए श्रमणों के प्रमुख या प्रधान-आचरण होने से इनकी मूलगुण संज्ञा है। इन मूलगुणों की निर्धारित अट्ठाईस संख्या इस प्रकार है—

"पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥"[1]

१. **पांच महाव्रत** :—हिंसाविरति (अहिंसा), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य) ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह)[2]

२. **पांच समिति** :—ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान और प्रतिष्ठापनिका[3]

३. **पांच इन्द्रियनिग्रह** :—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श इन्द्रिय का निग्रह[4]

४. **छह आवश्यक** :—समता (सामायिक), स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और विसर्ग (कायोत्सर्ग)[5]

---

१. मूलाचार १।२-३, प्रवचनसार ३।८-९.

२. हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता॥ वही १।४.

३. इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा॥ वही १।१०.

४. चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा॥ वही १।१६.

५. समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि॥ वही १।२२.

५. **सात अन्य मूलगुण** :—लोच (केशलोच), आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त.

उपर्युक्त मूलगुण श्रमणधर्म की आधारशिला हैं। सम्पूर्ण मुनिधर्म इन अट्ठाईस मूलगुणों से सिद्ध होता है। इनमें लेशमात्र की न्यूनता साधक को श्रमणधर्म से च्युत बना देती है, क्योंकि श्रमण के लिए आत्मोत्कर्ष हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर होता है। शरीर चला जाए, यह उसे सहर्ष स्वीकार होता है, पर साधना या संयमाचरण में जरा भी आँच आए, यह किसी भी अवस्था में उसे स्वीकार्य नहीं। जीवन के जिस क्षण मुमुक्षु श्रमणधर्म स्वीकार करते हैं, उस क्षण वे "सावज्जकरणजोगं सव्वं तिविहेण तियरणविसुद्धं वज्जंति[1]" अर्थात् सभी प्रकार के सावद्य (दोष युक्त) क्रिया रूप योगों का मन, वचन, काय तथा करने, कराने और अनुमोदन से सदा के लिए त्याग कर देते हैं। मूलगुणों के पालन की इसलिए भी महत्ता है क्योंकि जो श्रमण इन मूलगुणों को छेदकर (उल्लंघनकर) 'वृक्षमूल' आदि बाह्ययोग करता है, मूलगुण विहीन उस साधु के सभी योग किसी काम के नहीं। मात्र बाह्ययोगों से कर्मों का क्षय सम्भव नहीं होता।[2] प्राचीन वाङ्मय में श्रमण के मूलगुणों का विवरण निम्नप्रकार उपलब्ध होता है—

महाव्रत

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों में सर्वप्रथम पञ्च महाव्रत का उल्लेख है। व्रत से तात्पर्य हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म तथा परिग्रह--इनसे विरति (निवृत्ति) होना।[3] विरति अर्थात् जानकर और प्राप्त करके इन कार्यों को न करना।[4] प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह भी व्रत है। अथवा यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है—इस प्रकार नियम करना भी व्रत है।[5] इस प्रकार हिंसा आदि

---

१. मूलाचार ९।३४.

२. मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्य किं करिस्संति ॥ मूलाचार १०।२७.

३. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्—तत्त्वार्थसूत्र ७-१.

४. विरतिर्नाम ज्ञात्वाभ्युपेत्याकरणम्—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ७-१.

५. व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति।
—सर्वार्थसिद्धि ७-१-६६४.

पाँच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग या इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति—ये सभी एक ही अर्थ के वाचक हैं।

हिंसादिक पाँच असत्प्रवृत्तियों का त्याग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार तो कर सकता है किन्तु सभी प्राणी इनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एक समान नहीं कर सकते। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत और सर्वदेश निवृत्ति को महाव्रत कहा जाता है। वस्तुतः व्रत अपने आप में अणु या महत् नहीं होते। ये विशेषण तो व्रत के साथ पालन करने वाले की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते हैं। जहाँ साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच व्रतों के समग्र पालन की क्षमता में अपने को पूर्ण समर्थ नहीं पाता अथवा महाव्रतों के धारण की क्षमता लाने हेतु अभ्यास की दृष्टि से इनका एकदेश पालन करता है तो उसके ये व्रत अणुव्रत तथा वह अणुव्रती श्रावक कहलाता है। तथा जब मुमुक्षु साधक अपने आत्मबल से इन व्रतों के धारण और निरतिचार पालन में पूर्ण समर्थ हो जाता है तब उसके वही व्रत महाव्रत कहे जाते हैं तथा वह महाव्रती श्रमण कहलाता है।

हिंसाविरति आदि पांच महाव्रतों का विवेचन इस प्रकार है—

१. हिंसाविरति—अहिंसा

प्रथम महाव्रत हिंसाविरति है। इसका और अधिक प्राचीन रूप "पाणातिपातवेरमण" है।[1] इसका स्वरूप "अहिंसा" शब्द द्वारा अभिहित हुआ है। अहिंसा से तात्पर्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—ये छह कायिक जीव, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु, योनि—इनमें सब जीवों को जानकर उठने-बैठने, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।[2]

अहिंसा वस्तुतः हिंसा का निषेधात्मक शब्द है। 'हिंसा' शब्द हिंस धातु से बना है, जिसका अर्थ है—वध करना, घायल करना, आताप पहुँचाना या दुःख देना। कषाय की भावना के वशीभूत होकर मन, वचन और कायरूप योग से किसी

---

१. पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं—दशवैकालिक. ४-११

२. कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥ मूलाचार १-५.

भी प्राणी के प्राणों का अपहरण करना, उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना हिंसा है। हिंसा के तीन कारण हैं—काम, अर्थ और धर्म। आचारांग में कहा है—इस जगत् में जितने मनुष्य हिंसाजीवी हैं, वे इन विषयों में आसक्त होने के कारण हैं।[1] हिंसा के दो रूप हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। एक जीव की किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति से दूसरे प्राणी को कष्ट पहुँचा, उस प्रवृति का जो स्थूल फल सामने आता है वह द्रव्यहिंसा है तथा उस प्रवृत्ति को करनेवाले व्यक्ति की आत्मा में जो परिणाम थे, उनकी प्रेरणा पाकर वह वैसी प्रवृत्ति करने को प्रवृत्त हुआ या न कर पाने पर भी मात्र वैसे परिणाम मन में आये ऐसे ही परिणामों का नाम भावहिंसा है। वस्तुतः किसी जीव की हिंसा हो जाने पर प्रत्येक को कर्म का बंध एक जैसा नहीं होता, किन्तु उस व्यक्ति की कषाय को तीव्रता-मन्दता और भावधारा के अनुरूप ही कर्म-बंध होता है। इसलिए हिंसा की परिभाषा में कषाय की भावना की प्रधानता दी गयी है। प्रवचनसार में कहा है—जीव मरे या जीये, इससे हिंसा का कोई संबंध नहीं है। यत्नाचार-विहीन प्रमत्त पुरुष निश्चित रूप से हिंसक है और जो प्रयत्नवान् एवं अप्रमत्त है, समिति-परायण है उनको किसी जीव की हिंसामात्र से कर्मबन्ध नहीं होता[2] क्योंकि प्रयत्नवान् श्रमण के मन में किसी जीव की हिंसा का भाव यदि नहीं है फिर भी कदाचित् अनजाने में किसी जीव को उसके द्वारा कष्ट पहुँचे या वह जीव मर जाये तो भी परिणामों में मारने का भाव न होने के कारण द्रव्य-हिंसा होते हुए भी उन्हें कर्म का बन्ध नहीं होता। इसलिए कहा है रागद्वेषादि अशुभ परिणामों का मन में उत्पन्न न होना ही अहिंसा तथा इन परिणामों की उत्पत्ति ही हिंसा है।[3] वस्तुतः हिंसा-अहिंसा न तो जड़ में होती है और न ही जड़ वस्तु के कारण ही। उनकी उत्पत्ति, स्थान व कारण दोनों ही चेतन हैं अतः हिंसा-अहिंसा का संबंध दूसरे प्राणियों के जीवन-मरण, सुख-दुःख मात्र से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से है।

इन द्रव्यहिंसा और भावहिंसा—दोनों प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग अहिंसा है। अर्थात् बहिरंग में प्राणियों के इन्द्रिय, बल, आयु श्वासोच्छवास रूपी द्रव्य प्राणों की हिंसा से तथा अंतरंग में राग-द्वेषादि रूप भाव-हिंसा से सर्वथा विरत

१. आचारांग सूत्र ५।१।१५. २. प्रवचनसार ३१७.
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४४।

रहना अहिंसा महाव्रत है। पूर्व में पृथ्वी आदि षट्कायिक हिंसा के त्याग की बात इसलिए कही, क्योंकि, इनमें सम्पूर्ण जीवों का समावेश हो जाता है। अहिंसा के चित्त का निर्माण इन्हीं की हिंसा के त्याग द्वारा संभव है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पृथ्वी आदि में से किसी एक निकाय की हिंसा का विधान हो तथा अन्य का निषेध। क्योंकि जो किसी एक की हिंसा करता है वह अन्य किसी भी निकाय की हिंसा कर सकता है और उसके मन में अन्य निकाय के जीवों के प्रति मैत्री भाव बन नहीं सकता। आचारांग में कहा है—इस जगत में जो मनुष्य प्रयोजन वश या निष्प्रयोजन जीव-वध करते हैं, वे इन छह जीव निकायों में से किसी भी जीव का वध कर देते हैं[1]। इसलिए षट्कायिक जीवों की हिंसा का त्रियोग (मन, वचन और काय) से त्याग अहिंसा महाव्रत कहा है।

इस प्रकार की अहिंसा की साधना करने वाला साधक राग-द्वेष को कर्मों का बीज मानकर समभाव रखता है। समभाव को आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र कहा है।[2] और इस प्रकार के समभाव से युक्त श्रमण इस पृथ्वी पर विहार करते हुए किसी भी प्राणी को कभी भी पीड़ा नहीं पहुँचाते। वे सभी जीवों पर वैसे ही दया रखते हैं, जैसे कि माता पुत्रादिक पर वात्सल्य रखती है।[3]

२. सत्य

राग, द्वेष, क्रोध, भय और मोह आदि दोषों से युक्त असत्य वचन, परसन्तापकारी सत्यवचन तथा सूत्रार्थ (द्वादशांग के अर्थ) के विकथन में अपरमार्थवचन—इन सबका परित्याग करना सत्य महाव्रत है।[4] परसन्तापकारी वचन जैसे—हास्य, भय, क्रोध तथा लोभवश विश्वासघातक झूठ वचनों का सर्वथा त्याग सत्य महाव्रत है।[5] प्रकारान्तर से मृषावाद (असत्य) चार प्रकार का होता है १—विद्यमान वस्तु का निषेध करना। जैसे जीवादि तत्त्वों की विद्यमानता को नकारना कि जीव (आत्मा)

१. आचारांग, ५।१।१। २. चारित्तं समभावो—पंचास्तिकाय १०७।

३. वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु॥ मूलाचार ९।३२

४. रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्तिं।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं॥ मूलाचार १।६

५. वही ५।९३।

पुण्य, पाप आदि नहीं हैं। २—असद्भाव-उद्भावन—जो नहीं है उसके विषय में कहना कि यह है। जैसे आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा कहना या श्यामाक तन्दुल सदृश कहना। ३—अर्थान्तर—एक वस्तु को दूसरी वस्तु कह देना। जैसे—जीव को अजीव अथवा गाय को घोड़ा आदि। ४—गर्हा—दोष प्रकट करके किसी को पीड़ाकारी वचन कहना। जैसे—अन्धे को अन्धा या काने को काना कहना आदि।[१] इस महाव्रत के अन्तर्गत इन चारों का सर्वथा त्याग होता है। भाषा के सत्य, असत्य, मिश्र और व्यावहारिक ये चार भेद हैं।[२] इनमें श्रमण के लिए असत्य एवं मिश्र भाषा का प्रयोग वर्जित है। सत्य और व्यावहारिक भाषा भी हिंसादि अभिप्राययुक्त होगी तो उसका भी निषेध है।

३. अदत्तपरिवर्जन—अचौर्य

बिना दिया हुआ लेने की बुद्धि से दूसरे के द्वारा परिग्रहीत या अपरिग्रहीत तृण, काष्ठ आदि किसी भी द्रव्य-मात्र का ग्रहण करना अदत्तादान है।[3] इसका मन, वचन काय से त्याग अदत्तपरिवर्जन है। वस्तुतः अदत्तादान में प्रवृत्ति लोभवश ही होती है।[४] अतः सचेतन या अचेतन, अल्प अथवा बहुत, यहाँ तक कि दांत साफ करने की सींक भी बिना दिये ग्रहण नहीं करना चाहिए।[५] मूलाचारकार ने कहा है—ग्राम, नगर, जंगल आदि स्थानों में पड़ी हुई, भूली या रखी हुई, अल्प या स्थूल अथवा पर-संग्रहीत वस्तुओं को बिना दिये ग्रहण न करना अदत्तपरिवर्जन महाव्रत है।[६] श्रमण को अपनी तपस्या, वाणी, रूप, आचार और भाव की भी चोरी का निषेध है।[७]

४. ब्रह्मचर्य

ब्रह्म से तात्पर्य निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। बाह्य प्रवृत्तियों से हटकर आत्मा में रमण करने का नाम ब्रह्मचर्य है। मूलाचारकार ने इस महाव्रत को

१. दशवैकालिक चूर्णि (अगस्त्यसिंह कृत) पृष्ठ-८२। २. पुरुषार्थसिद्धयुपाय ९१।
३. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ८३. ४. प्रश्नव्याकरण, १।३.
५. दशवैकालिक ६।१३.
६. गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु॥ मूलाचार १:७, ५।९४.
७. दशवैकालिक ५।२।४६.

त्रैलोक्य पूज्य बताते हुए कहा है कि वृद्धा, बालिका और यौवना स्त्री को अथवा इन तीनों के प्रतिरूपों को देखकर उन्हें क्रमशः माता, पुत्री और बहन के समान मानना, स्त्री-कथा के अनुराग से निवृत्त होना, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च जाति की सचेतन एवं चित्रादि रूप अचेतन स्त्रियों का मन, वचन और काय से सेवन का त्याग करना तथा प्रयत्न-मन रहना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[1] अब्रह्म (शीलविराधना) के दस कारण है–स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गंधमाल्यसंस्पर्श, शयनासन, आभूषण, गीतवादित्र, अर्थसंप्रयोग, कुशील संसर्ग, राजसेवा और रात्रिसंचरण।[2] इन सबके सर्वथा त्याग से ही विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव है। भगवती आराधना में कहा है—जीव ब्रह्म (आत्मा) है अतः जिस श्रमण की इसमें ही चर्या होती है तब उसे परदेह से क्या मतलब ? वह तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप आत्म-स्वरूप के चिन्तन में ही तृप्त हो लेता है।[3]

५. संग विमुक्त—अपरिग्रह

आचार्य उमास्वाति ने किसी वस्तु के प्रति मूर्च्छा (ममत्व या आसक्ति के भाव) को परिग्रह कहा है।[4] धन-वैभव आदि का त्याग करके ही श्रमण दीक्षित होता है। किन्तु परिग्रह त्याग के बाद भी उसके प्रति ममत्व रूप विकल्प की मन में गांठ बनी रहना ही मूर्च्छा है, जो श्रमण को अपनी साधना में कभी सफल नहीं होने देती है, जैसे सांसारिक व्यक्ति के मन में परिग्रह की सुरक्षा का भय बना रहता है, वैसे ही वस्तु के प्रति मूर्च्छा रखने वाले श्रमण के मन में उसकी सुरक्षा का भय बना रहता है। और निर्भय बने बिना श्रमण कभी सच्चा साधक नहीं बन सकता। साधक को तो शरीर का ममत्व भी परिग्रह है। सच्चे साधक को निज देह के प्रति भी निर्ममत्व होना चाहिए। तभी वह निःशल्य आत्मा में लीन हो सकता है। परिग्रह के अन्तरंग और बाह्य—ये दो भेद हैं। इनमें अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाह्य

१. मादुसुदाभगिणीवय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं॥ मूलाचार १।८, ५।९५.

२. वही. ११।१३-१४.

३. भगवती आराधना गाथा ८७८. ४. मूर्छा परिग्रहः—तत्त्वार्थसूत्र ७।१७.

परिग्रह के दस भेद हैं—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनासन, कुप्य (वस्त्र) और भाण्ड (पात्र)। इस प्रकार अन्तरंग और बाह्य इन दोनों परिग्रहों के ये चौबीस भेद हैं।[1] इन सबका मन, वचन और काय पूर्वक त्याग से ही अपरिग्रह महाव्रत सिद्ध होता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है।[2]

इस प्रकार पांच महाव्रतों के विवेचन में जैन धर्म के प्राणस्वरूप अहिंसा सिद्धान्त की भावना का प्राधान्य ही दृष्टिगोचर होता है। इसी की विशुद्धि के लिए आचार-विचार संबंधी अनेक भेदोपभेदों का प्रतिपादन हुआ है। इसीलिए श्रमण की प्रत्येक आचारमूलक क्रिया अहिंसापरक होती है उपर्युक्त पांच महाव्रत भगवान् महावीर द्वारा प्रवर्तित हैं। उत्तराध्ययनसूत्र आदि ग्रन्थों में भगवान् महावीर से पूर्व तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा में चातुर्याम धर्म प्रचलित था। इस परम्परा में ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह के अन्तर्गत माना जाता था। पांच महाव्रत एक दूसरे के पूरक और सहयोगी हैं, क्योंकि इनके विपरीत हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य (कुशील) और परिग्रह—इन पांच पापों या अव्रतों में से किसी एक का भी आचरण करने वाला शेष अव्रतों के आचरण से बच नहीं सकता। परिग्रह रखने वाला हिंसा से नहीं बच सकता और न हिंसा करने वाला परिग्रह से ही। इन सब अव्रतों के मूल में राग और द्वेष—ये दो विकारी प्रवृत्तियाँ काम करतीं है। हिंसा, परिग्रहादि तो उनके पर्याय हैं। इन्हीं दोनों से प्रेरित होकर जब कोई परिग्रह की आकांक्षा करता है तो हिंसा आदि सभी अव्रत अपने आप आ जाते हैं। अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—रागभाव हिंसा है, अतः असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह भी रागादिभाव रूप होने से हिंसा ही हैं, पाँच पाप (अव्रत) रूप कथन तो मात्र समझाने के लिए किया गया है।[3] महाव्रतों की प्राप्ति तथा उनका पालन एक साथ होता है अलग-अलग किसी एक का नहीं। इस तरह ये एक साथ घटित होते हैं तथा एक साथ ही भंग भी होते हैं। अतः सभी महाव्रतों के परिपालन में ही श्रमणाचार की पूर्णता देखी जा सकती है।

---

१. मूलाचार ५।२१०-२११, भगवती आराधना १११८-१११९.

२. जे ममाइय–मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं—आचारांग २।६।१५६.

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४२.

समिति

श्रमण के मूलगुणों में महाव्रतों के बाद चारित्र एवं संयम की प्रवृत्ति हेतु ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान एवं प्रतिष्ठापनिका—इन पांच समितियों का क्रम है।[1] महाव्रतमूलक सम्पूर्ण श्रमणाचार का व्यवहार इनके द्वारा संचालित होता है। इन्हीं के आधार पर महाव्रतों का निर्विघ्न पालन सम्भव है। क्योंकि ये समितियाँ महाव्रतों तथा सम्पूर्ण आचार की परिपोषक प्रणालियाँ हैं। अहिंसा आदि महाव्रतों के रक्षार्थ गमनागमन, भाषण, आहार ग्रहण, वस्तुओं के उठाने-रखने, मलमूत्र विसर्जन आदि क्रियाओं में प्रमादरहित सम्यक् प्रवृत्ति के द्वारा जीवों की रक्षा करना तथा सदा उनके रक्षण की भावना रखना समिति है। जीवों से भरे इस संसार में समितिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाला श्रमण हिंसा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे स्नेहगुण युक्त कमल-पत्र पानी से।[2] जैसा कि प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है—जीव मरे या जीये, अयत्नाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है। किन्तु जो समितियों में प्रयत्नशील है उसको बाह्य हिंसा मात्र से कर्मबन्ध नहीं होता।[3] वस्तुतः ये पांचों समितियाँ चारित्र के क्षेत्र में प्रवृत्ति-परक होती हैं। इन समितियों में प्रवृत्ति से सर्वत्र एवं सर्वदा गुणों की प्राप्ति तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति होती है। इन समितियों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

(१) ईर्या

इसका सामान्य अर्थ है गमनागमन विषयक यत्नाचार। अर्थात् क्षुद्र जीव भी पैरों के नीचे आकर मर न जाए, ऐसा प्रयत्नमन रहना। मूलाचारकार के अनुसार—जिसमें प्राणियों का गमनागमन होता रहता हो, ऐसे प्रासुक मार्ग से कार्यवश ही दिन के समय अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चार हाथ परिमाण भूमि को आगे देखते हुए, साथ ही जीवों की विराधना बचाते हुए संयमपूर्वक गमन करना ईर्या समिति

---

१. इरिमाभासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा। मूलाचार १।१०.

२. मूलाचार ५।१२९-१३२.

३. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु॥ प्रवचनसार ३१७.

है।[1] आगे कहा है—मार्गशुद्धि (जीवादि रहित निर्दोष मार्ग), उद्योत शुद्धि (सूर्य का प्रकाश), उपयोग शुद्धि (इन्द्रिय विषयों की चेष्टा रहित तथा ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग सहित), तथा आलंबनशुद्धि (देव, गुरु, तीर्थ वंदनादि आलंबन अर्थात् प्रयोजन) इन चार शुद्धियों के आश्रयपूर्वक श्रमणों की गमन रूप प्रवृत्ति को ईर्या समिति कहते हैं।[2] इसके अन्तर्गत चलते समय बातचीत, अध्ययन, चिन्तन आदि कार्य भी निषिद्ध हैं। क्योंकि इन कार्यों को करते हुए चलने पर न तो गमन ही सावधानी पूर्वक होगा और न ये कार्य। श्रमण को धीमे, उद्वेगरहित होकर तथा चित्त की आकुलता मिटाकर चलना चाहिए।[3]

(२) भाषा

वाणी विषयक संयम को भाषा समिति कहते हैं। अर्थात् किसी को मेरे वचनों से किसी भी प्रकार की पीड़ा न पहुँचे इस उद्देश्य से पैशून्य (मिथ्यारोपण), उपहास्य, कर्कश, पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा तथा राग-द्वेष-वर्धक विकथाओं (चर्चाओं) आदि का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना भाषा समिति है।[4]

(३) एषणा

इसका सामान्य अर्थ आहार या भिक्षाचर्या विषयक विवेक है। अर्थात् आहार से संबंधित उद्गमादि छयालीस दोषों से रहित, असाताकर्म के उदय से उत्पन्न बुभुक्षा के प्रतिकार एवं वैयावृत्त्यादि धर्मसाधन सहित, मन वचन, काय एवं कृत, कारित, अनुमोदना आदि नव विकल्पों से रहित, ठंडे-गरम आदि रूप, राग-द्वेष रहित, समभाव पूर्वक विशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।[5] वस्तुतः श्रमण

---

१. फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं॥ मूलाचार १।११.

२. मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि॥ मूलाचार ५।१०५.

३. दशवैकालिक ५।१।२.

४. पेसुण्णहासकक्कसपरणिदाप्पप्पसंसाविकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं॥ मूलाचार १।१२.

५. छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी॥ मूलाचार १।१३.

की यह भोजन संबंधी वस्तुओं को निर्दोष रूप में ग्रहण करने की विधि है। क्योंकि श्रमण न तो बल या आयु बढ़ाने के उद्देश्य से आहार करते हैं, न स्वाद और न शरीर उपचय या तेजवृद्धि के लिए ही। आहार ग्रहण का उनका उद्देश्य तो ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि है।[1] अतः रूखा-सूखा, सरस या नीरस, ठण्डा या गर्म जैसा भी मिले यदि वह प्रासुक है तो उस आहार को समताभाव से ग्रहण करना चाहिए। उद्गमादि दोषयुक्त आहार लेना, मन, वचन, काय से आहार की स्वयं सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, कराना और उसकी अनुमोदना करना—ये सब एषणा समिति के अतिचार हैं।[2]

४. आदान-निक्षेप

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा न हो इस उद्देश्य से सावधानी पूर्वक देखभालकर ज्ञान, संयम, शौच तथा अन्य उपधि (वस्तुओं) को पिच्छिका से प्रमार्जन करके उठाना-रखना आदान-निक्षेप समिति है।[3]

५. उच्चारप्रस्रवण (प्रतिष्ठापनिका या उत्सर्ग)

इसका अर्थ है मल-मूत्र आदि के विसर्जन में निर्जन्तुक तथा निर्जन स्थान का ध्यान रखना। वस्तुतः श्रमण के निर्दोष एवं विवेकपूर्ण जीवन में समस्त विशुद्ध चर्याओं का ही विधान है। इस समिति का विधान भी मल-मूत्रादि को यत्र-तत्र त्याग के निषेध, लोकापवाद से रक्षा तथा अहिंसादि महाव्रतों की रक्षा की दृष्टि से किया गया है। मूलाचारकार ने इस विषय में कहा है कि मल-मूत्र का विसर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ एकान्त हो, हरित वनस्पति तथा त्रस जीवों से रहित और गाँव आदि से दूर हो—जहाँ कोई देख न सके, कोई विरोध न करे, ऐसे विशाल-विस्तीर्ण क्षेत्र में मल-मूत्रादि का विसर्जन करना पंचम प्रतिष्ठापनिका या उत्सर्ग समिति है।[4] इस योग्य कुछ स्थलों का मूलाचारकार ने उल्लेख भी

---

१. वही ६।६२. २. भगवती आराधना विजयोदया टीका १६।६२।७.

३. णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पउवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥ मूलाचार १।१४, ५।१२२.

४. एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥ वही १।१५.

किया है, जैसे—वनदाहकृत, मषिकृत, स्थंडिल भूमि (ऊषर या रेगिस्तानी स्थल) तथा अनुपरोध्य, विस्तृत, निर्जन्तुक एवं विविक्त प्रदेश विशेष। ऐसी ही अचित्त-भूमि को पिच्छिका द्वारा प्रमार्जन करके मल-मूत्रादि का विसर्जन करना चाहिए ताकि जीव-हिंसा की सम्भावना न हो।[1]

इन्द्रिय-निग्रह

इन्द्र शब्द आत्मा का पर्यायवाची है। आत्मा के चिह्न अर्थात् आत्मा के सद्भाव की सिद्धि में कारणभूत अथवा जो जीव के अर्थ-(पदार्थ) ज्ञान में निमित्त बने उसे इन्द्रिय कहते हैं।[2] प्रत्यक्ष में जो अपने-अपने विषय का स्वतंत्र आधिपत्य करती हैं उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं।[3] इन्द्रियाँ पाँच हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श। ये पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति कराके आत्मा को राग-द्वेष युक्त करती हैं। अतः इनको विषय-प्रवृत्ति की ओर से रोकना इन्द्रिय निग्रह है।[4] ये पांचों इन्द्रियाँ अपने नामों के अनुसार अपने नियत विषयों में प्रवृत्ति करतीं हैं। जैसे स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श द्वारा पदार्थ को जानती है। रसनेन्द्रिय का विषय स्वाद, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय देखना तथा श्रोत्र का विषय सुनना है।[5] इन्द्रियों के इन विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया है— १. काम रूप विषय तथा २. भोग रूप विषय। रस और स्पर्श कामरूप विषय हैं तथा गन्ध, रूप और शब्द भोग रूप विषय हैं।[6] इन्हीं इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अवरोध निग्रह कहलाता है।[7] अर्थात् इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की प्रवृत्ति रोकना इन्द्रिय-निग्रह है।[8] जैसे उन्मार्गगामी दुष्ट घोड़ों का लगाम के द्वारा निग्रह किया जाता है वैसे ही तत्त्वज्ञान की भावना (तप, ज्ञान और विनय) के द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय रूपी उन्मार्ग से निग्रह किया जाता है।[9] जो श्रमण जल से भिन्न कमल के सदृश इन्द्रिय-विषयों की प्रवृत्ति में लिप्त नहीं होता वह संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।[10]

---

१. मूलाचार ५।१२४-१२५. २. सर्वार्थसिद्धि १।१४. ३. धवला १।१।१।४।१३५.

४. चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा॥ मूलाचार १।१६.

५. वही ५।१०२, तत्त्वार्थसूत्र २।२०. ६. वही १२।९७.

७. स्वेच्छाप्रवृत्तिः निर्वर्तनं निग्रहः—सर्वार्थसिद्धि ९।४. ८. मूलाचार १।१६.

९. भगवती आराधना गाथा १८३७. १०. उत्तराध्ययन ३२।९९.

१. चक्षु-इन्द्रिय निग्रह

पांच महाव्रत और पांच समिति के बाद श्रमण के अट्ठाईस मूलगुणों में चक्षुइन्द्रिय निरोध ग्यारहवां मूलगुण है। मूलाचारकार ने इसकी परिभाषा में कहा है—चेतन-अचेतन पदार्थों के व्यवहार संस्थान (आकृति) और वर्ण में राग-द्वेष तथा अभिलाषा का अभाव चक्षुरिन्द्रिय निग्रह है।[1]

२. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह

जिसके द्वारा सुना जाता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद-इन सप्त चेतनजन्य स्वरों तथा वीणा आदि अचेतन जन्य प्रिय-अप्रिय शब्द सुनने से हृदय में उत्पन्न राग-द्वेषादि का मन, वचन और काय से निरोध करना श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह है।[2]

३. घ्राणेन्द्रिय निग्रह

जिसके द्वारा गंध का ज्ञान हो वह घ्राणेन्द्रिय है। वस्तुतः पदार्थ स्वभावतः मनोज्ञ या अमनोज्ञ गन्धयुक्त होते हैं तथा कुछ पदार्थों में अन्य पदार्थों के संयोग से गंध उत्पन्न होती है। अतः सुगंध में राग और दुर्गन्ध में द्वेष रखकर सुख-दुःख का अनुभव न करना घ्राणेन्द्रिय निग्रह है।[3]

४. रसनेन्द्रिय निग्रह

जिसके द्वारा स्वादानुभव किया जाय वह रसनेन्द्रिय है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—इन चार प्रकार के आहार तथा तिक्त, कटु, कषायला, अम्ल और मधुर-इन पांच रसों का सम्मूर्च्छनादि जीव रहित प्रासुक आहार दिये जाने पर उनमें गृद्धि न करना रसनेन्द्रिय निग्रह है।[4]

५. स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह

चेतन-अचेतन पदार्थों से उत्पन्न कठोर, मृदु, स्निग्ध, रूक्ष, हलके, भारी, शीतल, उष्ण इत्यादि प्रकार के सुख-दुःख रूप स्पर्श का निरोध करना स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह है।[5]

---

१. मूलाचार. ५।१७. २. मूलाचार १।१८.
३. वही. १।१९. ४. वही. १।२०. ५. वही. १।२१.

इस तरह इन्द्रियों के शब्दादि जितने विषय हैं सभी में अनासक्त रहना अथवा मन में उन विषयों के प्रति मनोज्ञता-अमनोज्ञता उत्पन्न न करना श्रमण का कर्त्तव्य है। वस्तुतः इन्द्रिय निग्रह का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों की ग्रहण-शक्ति समाप्त कर दें या रोक दें अपितु मन में इन्द्रिय विषयों के प्रति उत्पन्न राग-द्वेष युक्त भाव का नियमन करना इन्द्रिय-निग्रह है। कहा भी है जैसे कछुवा संकट की स्थिति में अपने अंगों का समाहरण कर लेता है, वैसे ही श्रमण को भी संयम द्वारा इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति का संयमन कर लेना चाहिए।[1] क्योंकि जिनकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति सांसारिक क्षणिक विषयों की ओर है, वह आत्मतत्त्व रूप अमृत कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जो सारी इन्द्रियों की शक्ति को आत्मतत्त्व रूप अमृत के दर्शन में लगा देता है वह सच्चे अर्थों में अमृतमय इन्द्रियजयी बन जाता है।

आवश्यक

सामान्यतः 'अवश' का अर्थ अकाम, अनिच्छु, स्वाधीन, स्वतंत्र[2], रागद्वेषादि से रहित, इन्द्रियों की आधीनता से रहित होता है। तथा इन गुणों से युक्त अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्यकरणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। मूलाचारकार के अनुसार—जो राग-द्वेषादि के वश नहीं उस (अवश) का आचरण या कर्म आवश्यक है।[3] कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में कहा है—जो अन्य के वश नहीं है वह अवश, उस अवश का कार्य आवश्यक है। ऐसा आवश्यक कर्मों का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग होता है।[4] अनगारधर्मामृत में आवश्यक शब्द की दो तरह से निरुक्ति बताई गयी है—जो इन्द्रियों के वश्य (आधीन) नहीं है ऐसे अवश्य—जितेन्द्रिय साधु का अहोरात्रिक अवश्यकरणीय कार्य आवश्यक है। अथवा जो वश्य—स्वाधीन नहीं है अर्थात् रोगादिक से पीड़ित होने पर भी जिन (कार्यों) का अहोरात्रिक करना अनिवार्य हो वह आवश्यक है।[5] अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि—श्रमण और श्रावक जिस विधि को अहर्निश अवश्यकरणीय समझते हैं उसे आवश्यक कहते हैं।[6] विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार अवश्य करने योग्य

१. सूत्रकृताङ्ग १।८।१।१६, संयुक्त निकाय १।२।७.
२. पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ८३.
३. ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं ति बोधव्वा। मूलाचार ७।१४.
४. जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं.
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति णिज्जुत्तो ॥ नियमसार १४१.
५. अनगारधर्मामृत ८।१६. ६. अनुयोद्वारसूत्र २८, गाथा २.

सद्गुणों का आधार, आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के आधीन करने वाला, आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आवासित, अनुरंजित अथवा आच्छादित करने वाला आवश्यक कहलाता है। इसी ग्रन्थ में आवश्यक के दस नामों का उल्लेख है—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुव, निग्रह, विशुद्धि, षडध्ययन, वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।[1]

आवश्यक कर्म निम्नलिखित छह प्रकार के बताये गये हैं—जो श्रमण एवं श्रावक दोनों के लिए अनिवार्य हैं—१. समता (सामायिक)। २. स्तव (चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव)। ३. वंदना। ४. प्रतिक्रमण। ५. प्रत्याख्यान तथा ६. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)।[2] इनका विवेचन आगमों में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन छह के आलम्बन से किया जाता है।

(१) समता (सामायिक)

श्रमणाचार के प्रसंग में समता सामायिक को ही कहा गया है। सामायिक शब्द की निरुक्ति अनेक प्रकार से की गई है जैसे—सम + आय अर्थात् समभाव का आगमन अथवा सम—रागद्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा में, आय—उपयोग की प्रवृत्ति और समाय ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक कहलाता है।[3] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—'सम—एकीभाव, आय—गमन अर्थात् एकीभाव रूप से—बाह्य परिणति से आत्मा की ओर गमन करने का नाम समय तथा समय के भाव को सामायिक कहते हैं।[4] अनगारधर्मामृत में कहा है—समाये भवः सामायिकम्—अर्थात् सम—रागद्वेष-जनित इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से रहित जो आय अर्थात् ज्ञान है वह समाय है उस समाय में होने वाला भाव सामायिक है[5] इस प्रकार ये सामायिक शब्द के निरुक्तार्थ हैं तथा समता में परिणत होना वाच्यार्थ है। मूलाचारकार के अनुसार—सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप—इनके द्वारा प्रशस्त रूप से आत्मा के साथ ऐक्य का नाम संयम तथा इसी प्रकार के भाव का नाम सामायिक है।[6] इस प्रकार जो सर्वभूतों अर्थात्

---

१. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८७०, टीका सहित.

२. समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि॥ मूलाचार १।२२, ७।१५.

३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जी० प्र० टीका ३६७.

४. सर्वार्थसिद्धि ७।११. ५. अनगारधर्मामृत—१८।१९.

६. सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थ समगमणं।
समयं तु यं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण॥ मूलाचार ७।१८.

स्थावर एवं त्रस—सभी प्रकार के जीवों के प्रति समभाव युक्त है उसका सामायिक स्थायी होता है।[१] जो स्व तथा अन्य आत्माओं में सम है, सम्पूर्ण स्त्रियों में जिसकी मातृवत् दृष्टि है, प्रिय-अप्रिय तथा मान आदि में सम है, उस श्रमण को सामायिक अवस्था प्राप्त होती है।[२] तथा राग-द्वेष से विरत, सब कार्यों में समता रखने वाला, द्वादशांग एवं चतुर्दश पूर्व में श्रद्धायुक्त आत्मा को उत्तम सामायिक होता है। क्योंकि सादृश्य रूप से द्रव्य, गुण और पर्याय तथा इनकी सत्ता और सिद्धि को जानना ही उत्तम सामायिक है।[3]

भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये निक्षेप दृष्टि से सामायिक के छह भेद हैं।[४] क्योंकि इसमें इन छह का आलम्बन लिया जाता है। इनमें शुभ-अशुभ नाम सुनकर राग द्वेष न करना नाम सामायिक है। सामायिक में स्थित श्रमण को यदि कोई शुभाशुभ शब्दों का प्रयोग करता है तो उसे चिन्तन करना चाहिए कि समता मेरा स्वभाव है अतः मुझे राग-द्वेष से लिप्त होने का प्रश्न ही नहीं हैं, क्योंकि शब्द मेरा स्वरूप नहीं है।[५]

शुभाशुभ आकार-प्रमाण-अप्रमाण युक्त, सम्पूर्ण अवयवों से पूर्ण-अपूर्ण तदाकार-अतदाकार स्थापित मूर्तियों में राग-द्वेष न करना स्थापना सामायिक है।

स्वर्ण-चाँदी, माणिक्य, मोती, मिट्टी, लकड़ी, लोहा आदि द्रव्यों में राग-द्वेष रहित होना द्रव्य सामायिक है।

रम्य क्षेत्रों में राग तथा रूक्ष क्षेत्रों में द्वेष न करना क्षेत्र सामायिक है।

छहों ऋतुओं, कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष तथा दिन-रात आदि काल विशेषों में राग-द्वेष रहित होना काल सामायिक है।

---

१. मूलाचार ७।२५, नियमसार. १२६. २. मूलाचार ७।२०, २६.
३. वही ७।२१, २२.
४. णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
सामाइयह्मि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ॥ वही ७।१७.
५. अनगारधर्मामृत. ८।२१.

समस्त जीवों के प्रति अशुभ परिणामों का त्याग एवं मैत्री भाव धारण करना भाव सामायिक है।[१]

सामायिक करने की विधि और समय

मूलाचारकार ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि पूर्वक अंजुलि को मुकुलित करके (अंजुलि पूर्वक हाथ जोड़कर) स्वस्थ बुद्धि से उठकर एकाग्रमनपूर्वक उलझन (विकार) रहित मन से आगमानुसार क्रम सहित सामायिक करने का निर्देश दिया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—पूर्वाह्ण, मध्याह्न तथा अपराह्ण—इन[२] तीनों कालों में छह-छह घड़ी सामायिक करना चाहिए।[३] तथा जयधवला के अनुसार तीनों ही सन्ध्याओं का पक्ष और मास के सन्धि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरंग सभी कषायों का निरोध करके सामायिक करना चाहिए।[४] इस प्रकार सावद्ययोग (पाप युक्त क्रियाओं) के वर्जन हेतु सामायिक प्रशस्त उपाय एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया है। मूलाचारकार के अनुसार एकाग्र मनसे सामायिक करने वाला श्रावक भी श्रमण सदृश होता है अतः श्रमणों को तो और भी स्थिरता पूर्वक अतिशय सामायिक करना चाहिए।[५]

२. स्तव

ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों के नाम निरुक्ति के अनुसार अर्थ करके उनके असाधारण गुणों का कीर्तन-पूजन करके त्रिविध शुद्धि पूर्वक नमन करना स्तव है।[६]

स्तव की विधि

शरीर, भूमि और चित्त की शुद्धिपूर्वक दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद खड़े होकर अंजुली जोड़कर सौम्यभाव से स्तवन करना तथा ऐसा

---

१. मूलाचारवृत्ति. ७।१७. २. मूलाचार ७।३९.

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३५२, ३५४.

४. कसाय पाहुड जयधवला १।१।१।८१. पृष्ठ ९८

५. सामाइयम्हि दु कदे समणो किर सावगो हवदि जम्हा।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ मूलाचार ७।३४.

६. उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥ मूलाचार १।२४.

चिन्तन करना कि अर्हंत परमेष्ठी जगत् को प्रकाशित करने वाले, उत्तम क्षमादि धर्मतीर्थ के कर्ता होने से धर्म, तीर्थंकर, जिनवर, कीर्तनीय और केवली जैसे विशेषणों से विशिष्ट, उत्तम बोधि देने वाले हैं।[1]

३. **वंदना**

वंदना-आवश्यक मन, वचन और काय की वह प्रशस्त वृत्ति है जिससे साधक तीर्थंकर तथा शिक्षा-दीक्षा-गुरू एवं तप संयम आदि में ज्येष्ठ आचार्यों एवं मुनियों के प्रति श्रद्धा तथा बहुमान प्रगट करता है। मूलाचार में कहा है अरहंत, सिद्ध की प्रतिमा, तप, श्रुत एवं गुणों में ज्येष्ठ शिक्षा तथा दीक्षा गुरुओं को मन-वचन एवं काय की शुद्धि से कृतिकर्म, सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति एवं गुरुभक्ति-पूर्वक कायोत्सर्ग आदि से विनय करना वन्दना आवश्यक है।[2] इस तरह चारित्रादि अनुष्ठान, ध्यान, अध्ययन में तत्पर क्षमादि गुण तथा पञ्च महाव्रतधारी, असंयम से ग्लानि करने वाले, धैर्यवान् श्रमण वंदना के योग्य होते हैं।[3]

आवश्यकनिर्युक्ति में अवन्द्य की वन्दना का निषेध करते हुए कहा है कि अवन्द्य को वन्दन करने से न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही बल्कि असंयम आदि दोषों के समर्थन द्वारा कर्मबन्ध ही होता है। इतना ही नहीं गुणी पुरुषों द्वारा अवन्दनीय यदि अपनी वन्दना कराता है तो वन्दन कराने रूप असंयम की वृद्धि द्वारा अवन्दनीय की आत्मा का अधःपतन होता है।[4]

वन्दना के अन्य नाम— कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म, ये वन्दना के ही नामान्तर हैं।[5]

पापनाश के उपाय को कृतिकर्म कहते हैं।[6] जिनदेव, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय आदि की वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, वह कृतिकर्म है।[7]

१. मूलाचार ७।७६, ४२.
२. अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं।
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणंपणमो ॥ वही १।२५.
३. वही ७।९८. ४. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ११०८, १११०.
५. मूलाचार ७।७९, आवश्यक निर्युक्ति १११६.
६. कृतिकर्म पापविनाशनोपायः—मूलाचार वृत्ति ७।७९.
७. कसायपाहुड १।१. पृ० ११८.

जिससे तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का संचय होता है वह चितिकर्म है। अर्हत आदि का बहुवचन युक्त शब्दोच्चारण एवं चन्दनादि अर्पण करना पूजाकर्म है। तथा जिससे कर्म दूर किया जाता है अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों का संक्रमण उदय, उदीरणा आदि रूप परिणमन करा दिया जाता है ऐसे कार्य को विनयकर्म कहते हैं। इसी को शुश्रूषा भी कहते हैं।[1] विनय की प्रशंसा करते हुए मूलाचारकार ने कहा है—विनय पंचमगति (मोक्ष) का नायक[2], श्रुताभ्यास (शिक्षा) का फल है। इसके बिना सारी शिक्षा निरर्थक है। क्योंकि विनय सभी कल्याणों का फल भी है।[3]

४. प्रतिक्रमण

प्रमादपूर्वक किए गए अतीत कालीन दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण (पडिक्कमण) है।[4] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से व्रतों में हुए अतीतकालीन अपराधों (दोषों) का निन्दा एवं गर्हा-पूर्वक शोधन या दोषों का परित्याग करना प्रतिक्रमण है।[5] आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि—सावद्य(पाप) प्रवृत्ति में जितने आगे बढ़ गये थे, उतने पीछे हटकर पुनः शुभयोग रूप स्व-स्थान में अपने-आपको लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[6]

भेद

प्रतिक्रमण के सात भेद हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और औत्तमार्थ।[7]

१. **दैवसिक**—सम्पूर्ण दिन में हुए अतिचारों की आलोचना प्रत्येक सन्ध्या को करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

२. **रात्रिक**—रात्री संबंधी दोषों के निराकरण हेतु रात्रि के पश्चिम भाग में अर्थात् ब्रह्ममुहूर्त में जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह रात्रिक प्रतिक्रमण है।

---

१. मूलाचार वृत्ति ७।७९. २. मूलाचार ५।१६७. ३. वही ५।१८८.

४. अतीतकालदोषनिर्हरणं प्रतिक्रमणम्।—मूलाचार वृत्ति १।२७.

५. दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं॥ मूलाचार १.२६.

६. योगशास्त्र तृतीय प्रकाश.

७. पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च॥ मूलाचार, वृत्तिसहित ७।११६.

३. **ऐर्यापथिक**—आहार, गुरु-वंदना, शौच आदि को जाते समय पृथ्वीकाय आदि छह प्रकार के जीवों के प्रति हुई विराधना के दोषों को दूर करने के लिए—"पडिक्कमामि भंते! इरियावहियाए"—इत्यादि पाठ बोलकर णमोकार मंत्र का नव बार जाप करना ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है।

४. **पाक्षिक**—प्रत्येक माह के दोनों पक्षों में हुए दोषों का चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

५. **चातुर्मासिक**—चार माह में हुए अतिचारों की कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ माह की पूर्णिमा को विचारपूर्वक आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

६. **सांवत्सरिक**—वर्षभर के अतिचारों का प्रत्येक वर्ष के आषाढ़ माह के अंत में चतुर्दशी या पूर्णिमा को चिन्तनपूर्वक आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

७. **औत्तमार्थ**—मरणकाल नजदीक समझ जीवन के दोषों की आलोचना कर जीवन-पर्यन्त के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हुए सल्लेखना धारण करना औत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

विधि

प्रतिक्रमण व्रतों के अतिचारों को दूर करने का उपाय है। सभी प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक होते हैं तभी दोषशुद्धि होती है।[1] इसकी विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम विनयकर्म करके, शरीर, आसन आदि का पिच्छिका से प्रमार्जन तथा नेत्र से देखभाल कर शुद्धि करें ताकि वहाँ किसी प्रकार भी जीव-हिंसा की सम्भावना न रहे। तब अंजुलि जोड़कर ऋद्धि आदि गारव तथा जाति आदि का मान (मद) छोड़कर व्रतों में हुए अतिचारों को गुरु या आचार्य के समक्ष निवेदन नित्य करना चाहिए।[2] आज नहीं दूसरे या तीसरे दिन अपराधों को कहूँगा—इत्यादि रूप में टालते हुए कालक्षेप करना ठीक नहीं। अतः जैसे-जैसे माया के रूप में अतिचार उत्पन्न हों, उन्हें अनुक्रम से आलोचना, निन्दा और गर्हा पूर्वक विनष्ट करके पुनः उन अपराधों को नहीं करना चाहिए।[3] और जब पापकर्म करने पर प्रतिक्रमण

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२२।४। २. मूलाचार ७।१२१. ३. मूलाचार ७।१२५.

करना आवश्यक है तब इससे अच्छा तो यही है कि वह पापकर्म ही न किया जाय।[1] वैसे छोटे अपराध के समय यदि गुरु समीप न हों तब वैसी स्थिति में—'मैं फिर ऐसा कभी नहीं करूँगा', 'मेरा पाप मिथ्या हो',—इस प्रकार प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए।[2] जिस प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करते हैं उसी तरह असंयम क्रोधादि कषायों एवं अशुभ योगों का प्रतिक्रमण करना चाहिए।[3]

५. प्रत्याख्यान

प्रतिक्रमण में जहाँ अतीतकालीन दोषों के प्रतिक्रमण की बात बताई है वहीं प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) में भविष्य काल के दोष-त्याग रूप संकल्प की बात कही गई है। भविष्य काल के प्रति मर्यादा के साथ अशुभयोग से निवृत्ति तथा शुभयोग में प्रवृत्ति का आख्यान (प्रतिज्ञा) करना प्रत्याख्यान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—समस्त वाचनिक विकल्पों का त्याग करके तथा अनागत शुभाशुभ का निवारण करके जो साधु आत्मा को ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान होता है।[4] इस तरह मन, वचन और काय शुद्धकर आगामी काल में होने वाले दोषों का वर्तमान में तथा आगामी काल के लिए त्याग करना प्रत्याख्यान है। मूलाचार के अनुसार—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन छह निक्षेपों के विषय में शुभ मन, वचन और काय के द्वारा अनागत तथा आगामी काल के लिए दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है।[5]

भेद

श्रमणाचार विषयक साहित्य में प्रत्याख्यान के विविध भेद-प्रभेदों का उल्लेख है किन्तु मुख्यतः निम्नलिखित दस भेद इस प्रकार हैं—१. अनागत—अर्थात् भविष्य काल में किये जाने वाले उपवास को पहले कर लेना जैसे—चतुर्दशी को किया जाने वाला उपवास त्रयोदशी को कर लेना। २. अतिक्रान्त—अतीत काल विषयक उपवास आदि करना, जैसे चतुर्दशी आदि को कारणवश उपवास न कर पाये तो उसे आगे प्रतिपदा आदि को करना। ३. कोटिसहित—अर्थात् संकल्प समन्वित शक्ति की अपेक्षा उपवासादि करना, जैसे—कल स्वाध्याय के बाद यदि

१. आवश्यकनिर्युक्ति भाग-१, गाथा ६८४. २. चारित्रसार, १४१।४.
३. मूलाचार ७।१२०. ४. नियमसार, ९५, राजवार्तिक ६।२४।११.
५. णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले॥ मूलाचार १.२७.

शक्ति होगी तो उपवासादि करूँगा अन्यथा नहीं। ४. निःखंडित—पाक्षिक आदि में अवश्य करणीय उपवासादि करना। ५. साकार—सभेद अर्थात् प्रत्याख्यान करते समय आकार विशेष जैसे सर्वतोभद्र, कनकावल्यादि उपवासों की विधि, नक्षत्रादि भेदपूर्वक करना। ६. अनाकार—बिना आकार अर्थात् नक्षत्रादि का विचार किये बिना स्वेच्छया उपवासादि करना। ७. परिणामगत—काल-प्रमाण सहित उपवास करना। ८. अपरिशेष—यावज्जीवन चार प्रकार के आहारादि का परित्याग करना। ९. अध्वानगत् (मार्ग विषयक)—जंगल, नदी आदि रास्ता पार करने तक आहारादि का त्याग करना। १०. सहेतुक—उपसर्गादि के कारण उपवासादि करना।[1]

६. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग (काउसग्ग) का सामान्य अर्थ शरीर से ममत्व का त्याग करना है। काय + उत्सर्ग = काय का त्याग अर्थात् परिमित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग है।[2] मूलाचार में कहा है—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक काल मे किये जाने वाले प्रतिक्रमण आदि शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार सत्ताईस श्वासोच्छ्वास तक अथवा उपयुक्त काल तक जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का चिन्तन करते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।[3] इसे व्युत्सर्ग भी कहते हैं। निःसंगता—अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग है।[4] अर्थात् आत्मसाधना के लिए अपने आपको उत्सर्ग करने की विधि ही व्युत्सर्ग है। इस प्रकार की साधना के अभ्यास से श्रमण अपनी देह के प्रति ममत्व भाव का पूर्णतः विसर्जन करने की स्थिति में पहुँच जाता है, जिससे चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है और आत्मा को अपने स्वरूप चिन्तन का अवसर मिलता है।

मूलाचारकार ने कायोत्सर्ग के निम्नलिखित चार भेद बताये हैं—१. उत्थित-उत्थित—कायोत्सर्ग में स्थित होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तन करना।

---

१. मूलाचारवृत्ति ७।१४०-१४१, आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका—१५५८-१५५९.
२. तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।११. पृ० ५३०.
३. देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काउसग्गो तणुविसग्गो।। मूलाचार ७।२८.
४. तत्त्वार्थवार्तिक. ९।२६।११.

इसमें श्रमण शरीर से स्थित तथा परिणामों में उन्नत होता है। तन एवं मन अर्थात् द्रव्य एवं भाव दोनों दृष्टियों से वह उत्थित होता है। २. उत्थित-निविष्ट—इसमें शरीर से तो कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहते हैं, किन्तु परिणाम में आर्तध्यान और रौद्रध्यान का चिन्तन रहता है। अर्थात् शरीर से खड़े होकर भी मन-आत्मा से बैठे हुए रहते हैं। ३. उपविष्ट-उत्थित—बैठकर कायोत्सर्ग करते हुए भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तन रहना उपविष्ट-उत्थित कायोत्सर्ग है। ४. उपविष्ट-निविष्ट—बैठकर कायोत्सर्ग करते हुए भी आर्त और रौद्रध्यान का ही चिन्तन होना। ऐसे श्रमण तन और मन दोनों से गिरे रहते हैं।[१]

विधि

कायोत्सर्ग करने के लिए सर्वप्रथम एकान्त एवं अबाधित स्थान में पूर्व तथा उत्तर दिशा अथवा जिन-प्रतिमा की ओर मुख करके आलोचनार्थ कायोत्सर्ग का विधान है।[२] फिर बाहुयुगल नीचे करके दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद एवं निश्चल खड़े होकर[3] मन से शरीर के प्रति "ममेदं" बुद्धि की निवृत्ति कर लेनी चाहिए।[४] कायोत्सर्ग में स्थित होकर श्रमण को दैवसिक आदि प्रतिक्रमण करना चाहिए। साथ ही ईर्यापथ के अतिचारों का क्षय एवं अन्य नियमों को पूर्ण करके धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान का चिन्तन करना चाहिए।[५]

कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल-प्रमाण एक वर्ष और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। इन दोनों के बीच में दैवसिक, रात्रिक कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में शक्ति की अपेक्षा अनेक प्रकार के होते हैं।[६]

इस तरह पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिग्रह तथा उपर्युक्त छह आवश्यक—इन सबको मिलाकर इक्कीस मूलगुणों का विवेचन प्रस्तुत किया गया। शेष सात मूलगुणों का क्रमशः विवेचन निम्नप्रकार प्रस्तुत है :—

लोच

श्रमण के अट्ठाईस मूलगुणों में लोच बाईसवाँ मूलगुण है। जिसका अर्थ

१. मूलाचार ७।१७७-१८०. २. भगवती आराधना. गा० ५५०.
३. मूलाचार ७।१५३.
४. भगवती आराधना विजयोदयाटीका. ५०९. पृ० ७२९.
५. मूलाचार ७।१६७. ६. वही ७।१५९.

है हाथ से नोचकर केश निकालना। लोक प्रचलित अर्थ में इसे ही केशलुञ्चन कहते हैं। वस्तुतः लोच शब्द लुंच धातु से बनकर अपनयन अर्थात् निकालना या दूर करना अर्थ में प्रयुक्त होता है। केशलोच अपने आप में कष्ट-सहिष्णुता की उच्च कसौटी और श्रमणों के पूर्ण संयमी जीवन का प्रतीक है। चूँकि केशों का बढ़ना स्वाभाविक है किन्तु नाई या उस्तरे, कैची आदि के बिना हाथों से ही उन्हें उखाड़कर निकालना श्रमण के स्ववीर्य, श्रामण्य तथा पूर्ण अपरिग्रही होने का प्रतीक है। इससे अपने शरीर के प्रति ममत्व का निराकरण तथा सर्वोत्कृष्ट तप का आचरण होता है। दीनता, याचना, परिग्रह और अपमान आदि दोषों के प्रसंगों से भी स्वतः बचा जा सकता है।[1] सभी तीर्थंकरों ने प्रव्रज्या ग्रहण करते समय अपने हाथों से पंचमुष्ठि लोच किया था।

कल्पसूत्र चूर्णि में कहा है—केश बढ़ने से जीवों की हिंसा होती है क्योंकि केश भींगने से जूँ उत्पन्न होते हैं। सिर खुजलाने पर उनकी हिंसा और सिर में नखक्षत हो जाता है। क्षुरे (उस्तरे) या कैंची से बालों को काटने से आज्ञाभंग दोष के साथ साथ संयम और चारित्र की विराधना होती है। नाई अपने उस्तरे और कैंची को सचित्त जल से साफ करता है अतः पश्चात्कर्मदोष होता है। जैन शासन की अवहेलना भी होती है। इन सब दृष्टियों से श्रमणों को केशलुंचन का विधान किया गया है।[2] मूलाचार के अनुसार दिन में प्रतिक्रमण और उपवास पूर्वक दो, तीन और चार मास में क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रूप से केशलोच करना चाहिए।[3] अर्थात् दो महीने के पूर्ण होने या अपूर्ण रहने पर केशलोच करना उत्कृष्ट लोच कहलाता है। तीन महीनों के पूर्ण होने या अपूर्ण रहने पर मध्यम और प्रत्येक चार महीनों के पूर्ण होने या अपूर्ण रहने पर केशलोच करना जघन्य लोच है।[4]

इस प्रकार श्रमण परम्परा में केशलोच की मात्र परम्परा ही नहीं अपितु श्रमण जीवन का आवश्यक मूलगुण है। क्योंकि संसार-विरक्ति के प्रमुख कारणों

---

१. मूलाचार वृत्ति १।२९.
२. कल्पसूत्र चूर्णि २८४, एवं कल्पसूत्र सुबोधिका टीका प. १९०-१९१.
३. वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो॥ मूलाचार १।२९.
४. मूलाचार वृत्ति १।२९.

में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे स्वाधीनता, निर्दोषता, कष्ट-सहिष्णुता, देह और सुखों में अनासक्तभाव आदि गुण प्रगट होते हैं। धर्म, चारित्र और उग्र तपस्या में श्रद्धा बढ़ती है।[1]

अचेलकत्व

सामान्यत: 'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र होता है। किन्तु श्रमणाचार के प्रसङ्ग में यह शब्द सम्पूर्ण परिग्रहों का उपलक्षण है। अत: चेल के परिहार से सम्पूर्ण परिग्रह का परिहार हो जाता है।[2] इस दृष्टि से वस्त्राभूषणादि समस्त परिग्रहों का त्याग और स्वाभाविक नग्न-(निर्ग्रन्थ) वेष धारण करना अचेलकत्व है।[3] अत: श्रमण को मन, वचन और काय से शरीर ढकने के लिए वस्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए। मूलाचार में कहा है—वस्त्र के साथ-साथ अजिन (मृगचर्म), वल्कल (वृक्ष की छाल या त्वचा एवं पत्ते) तथा तृणादि से भी शरीर न ढककर नग्न रहना, सभी तरह के आभूषणों एवं परिग्रहों का सर्वथा के लिए त्याग करना जगत्पूज्य आचेलक्य मूलगुण है।[4] क्योंकि वस्त्रादि रखने से यूकादि जीवों की हिंसा होती है, उसके प्रक्षालन में हिंसा, वस्त्र प्राप्ति की इच्छा तथा उसके उपाय और फिर याचना आदि अनेकों चिन्ताओं से दोषों की उत्पत्ति होती है। ध्यान-अध्ययन-चिन्तन आदि में भी विघ्न उत्पन्न होता है, अत: अचेलकत्व मूलगुण श्रमणों को अवश्य धारण करना चाहिए।[5] इससे लोभादि कषायों की निवृत्ति एवं त्याग धर्म में प्रवृत्ति तथा लाघव गुण की प्राप्ति होती है। निर्वस्त्र श्रमण उठने, बैठने, गमन करने आदि कार्यों में अप्रतिबद्ध होते हैं। जितेन्द्रिय, बल और वीर्य आदि गुण भी उसमें प्रगट होते हैं।[6] वर्द्धमान महावीर श्रमण जीवन में पूर्णरूप से अचेलक-निर्भूषण-निर्वसन रहे। मूलाचारकार के कथन के ठीक अनुरूप महावीर ने अपने सम्पूर्ण श्रमण जीवन में वस्त्र, अजिन (चर्म), वल्कल तथा पत्तों आदि से शरीर को संवरित-आच्छादित नहीं किया।

---

१. भगवती आराधना ९०-९२. २. मूलाचार वृत्ति १०।१७.

३. वही १।३०, १०।१८.

४. वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसणणिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ।। मूलाचार १।३०.

५. मूलाचार वृत्ति १।३०.

६. भगवती आराधना विजयोदया टीका ४२१, पृ० ६१०-६११.

दिगम्बर परम्परा इसी अचेलक धर्म पर आधारित हैं ही किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में भी आचेलक्य (नग्नता) गुण की प्रशंसा कई प्रसंगों में की गई है। परीषहों तथा दस स्थितिकल्पों में अचेलकता का विधान है। आचारांग सूत्र में कहा है :—जो मुनि निर्वस्त्र रहता है, वह अवमौदर्य तप का अनुशीलन करता है।[1] इसी में कहा है—साधक को अन्तर्बाह्य ग्रन्थियों से मुक्त होकर विचरण करना चाहिए।[2] इसी में अचेल परीषह सहते हुए परिव्रजन करने का भी उल्लेख है।[3] सूत्रकृताङ्ग में भी नग्नता की प्रतिष्ठा श्रमण के लिए निर्दिष्ट की गयी है।[4] उपलब्ध अर्धमागधी आगमों के व्याख्याकारों ने 'अचेल' शब्द की व्याख्या 'अल्पवस्त्र' के रूप में कर दी है।

वस्तुतः निर्वस्त्र मुद्रा विश्वास उत्पन्न कराने में सहायक है। विषय सुखों के प्रति अनासक्ति, सर्वत्र आत्मवशता और शीतादि परीषहों के सहन की शक्ति इससे व्यक्त होती है।

अस्नान

जलस्नान, अभ्यंग स्नान और उबटन त्याग तथा नख, केश, दन्त, ओष्ठ, कान, नाक, मुँह, आँख, भौंह तथा हाथ-पैर—इन सबके संस्कार का त्याग अस्नान नामक प्रकृष्ट मूलगुण है।[5] वस्तुतः आत्मदर्शी श्रमण तो आत्मा की पवित्रता से स्वयं पवित्र होते हैं, अतः उन्हें वाह्य स्नान से प्रयोजन ही क्या ?[6] आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचार-वृत्ति में कहा है कि श्रमण को स्नान से नहीं अपितु व्रतों से पवित्र होना चाहिए। यदि व्रतरहित प्राणी जलावगाहनादि से पवित्र हो जाते तो मत्स्य, मगर आदि जल-जन्तु तथा अन्य सामान्य प्राणी भी पवित्र हो जाते किन्तु ये कभी भी उससे पवित्रता को प्राप्त नहीं होते। अतः व्रत, संयम-नियम ही पवित्रता के कारण है।[7] इन्हीं सब कारणों से श्रमण को स्नान आदि संस्कारों से सर्वथा विरत रहने तथा आत्म स्वरूप की प्राप्ति में उपयोग लगाए रखने के लिए अस्नान मूलगुण का विधान अनिवार्य माना है।

---

१. जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति ओमोयरियाए। आचारांग ६।२।४०.

२. वहीं १।८।८. ३. वही ६।२।४५.

४. जस्सट्ठाए कीरई नग्गभावे मुंडभावे।—सूत्रकृताङ्ग सूत्र ७१४ पृ० १८५.

५. ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं।
अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो॥ मूलाचार १।३१.

६. अनगारधर्मामृत ९।९८. ७. मूलाचारवृत्ति १।३१.

क्षितिशयन

सामान्यतः पर्यङ्क, विस्तर आदि का सर्वथा वर्जन करके शुद्ध जमीन में शयन करना क्षितिशयत है। मूलाचार में कहा है—आत्मप्रमाण, असंस्तरित, एकान्त, प्रासुक भूमि में धनुर्दण्डाकार मुद्रा में एक करवट से शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है।[1]

अदन्तघर्षण

शरीर विषयक संस्कार श्रमण को निषिद्ध कहे गये हैं। अतः अंगुली, नख, दातौन, कलि (तृणविशेष), पत्थर और छाल—इन सबके द्वारा तथा इनके ही समान अन्य साधनों के द्वारा दाँतों को साफ न करना अदन्तघर्षण मूलगुण है।[2] इसका उद्देश्य इन्द्रिय संयम का पालन तथा शरीर के प्रति अनासक्त भाव में वृद्धि करना है।

स्थित-भोजन

शुद्ध भूमि में दीवाल, स्तम्भादि के आश्रयरहित समपाद खड़े होकर अपने हाथों को ही पात्र बनाकर आहार ग्रहण करना स्थित-भोजन है।[3] प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम के पालन हेतु जब तक श्रमण के हाथ-पैर चलते हैं अर्थात् शरीर में सामर्थ्य है तब तक खड़े होकर पाणि-पात्र में आहार ग्रहण करना चाहिए, अन्य विशेष पात्रों में नहीं।[4]

एकभक्त

सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी व्यतीत होने के बाद तथा सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पूर्व तक दिन में एक बार एक बेला में आहार ग्रहण कर लेना एकभक्त मूलगुण है।[5] प्रवचनसार में कहा है कि—भूख से कम, यथालब्ध, दोषरहित, भिक्षावृत्ति पूर्वक

---

१. फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण॥ मूलाचार १।३२.

२. अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं॥ वही १।३३.

३. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम॥ वही १।३४.

४. मूलाचार वृत्ति १।३४.

५. उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु॥ मूलाचार १।३५.

विशुद्ध आहार दिन में एक बार ही ग्रहण करना चाहिए।[1] वस्तुतः श्रमण संयम, ज्ञान, ध्यान और अध्ययन की साधना वृद्धि के लिए ही जैसा मिला वैसा ही शुद्ध रूप में आहार लेने की आवश्यकता समझते हैं।[2] उसकी पूर्ति एक बार में ग्रहण किये गये सीमित आहार से हो ही जाती है। और फिर आत्मसाधना, संयम पालन आदि में विशुद्धता एक बार के प्रासुक एवं सात्त्विक आहार से आ सकती है, एकाधिक बार आहार ग्रहण से शिथिलाचार में प्रवृत्ति बढ़ती है।

लोच से लेकर एकभक्त तक के शेष सात मूलगुण श्रमण के बाह्य चिह्न माने जाते हैं। ये गुण जीवन की सहजता, स्वाभाविकता के प्रतीक हैं। ये श्रमण को प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने, अपने को और अपने शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाने तथा लोकलज्जा एवं लोकभय से ऊपर उठने के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं। इन्हीं गुणों से श्रमण को प्रतिपल यह प्रतीति भी होती रहती है कि यह शरीर आत्मा से भिन्न है और इसे सुविधावादिता की अपेक्षा जितना सहज रखा जायेगा आत्मोपलब्धि में उतनी ही वृद्धि होती रहेगी।

उपसंहार

श्रमण उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों को अप्रमत्त भाव से पालन करके जगत्पूज्य होकर अक्षय-सुख मोक्ष को प्राप्त करता है। इन मूलगुणों के निरतिचार पालन के बाद जिन अन्यान्य गुणों के पालन का विधान किया गया है उन्हें 'उत्तरगुण' कहा गया है। मूलगुणों की रक्षा हेतु चरित्र रूप वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं की तरह उत्तरगुणों का भी श्रमणाचार में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तरगुण इस प्रकार हैं—बारह तप—छः बाह्य तप—यथा—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश। छः आन्तरिक तप—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)। पाँच प्रकार का आचार—दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और वीर्य। दश धर्म—क्षान्ति (क्षमा), मार्दव, आर्जव, सत्य, लाघव (शौच), संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य। इनके साथ ही चौरासी लाख प्रकार के शील, बाईस परीषह तथा बारह अनुप्रेक्षा-भावना—ये सभी उत्तरगुणों के अन्तर्गत आते हैं।

श्रमण की अवधारणा तथा उसकी आचार संहिता संबंधी मूलगुणों आदि विषयों का अतिसूक्ष्म विवेचन आचार विषयक सम्पूर्ण जैन साहित्य में किया गया

१. प्रवचनसार २२९. २. रयणसार ११३.

है। आज भी इस कठिन श्रमण धर्म का पालन करते हुए शताधिक श्रमण इस परम्परा को गौरवान्वित कर रहे हैं। वस्तुतः जैन परम्परा में साधुओं की जीवनचर्या महान् पवित्र और अद्वितीय मानी जाती हैं। विश्व के प्रायः किसी भी धर्म में साधुता का इतना उच्च आदर्श तथा बिना किसी सांसारिक सुख की आकांक्षा के, प्रतिपादित आचार का कड़ाई से पालन नहीं देखा जाता। शास्त्रोक्त आचार का पालन करने वाले श्रमणों एवं आचार्यों द्वारा रचित विशाल आध्यात्मिक साहित्य धर्म, दर्शन अध्यात्म मार्ग का प्रतिपादक तथा नीति की प्रेरणा देने वाला है।

आचारविषयक जैन वाङ्मय का विभिन्न दृष्टियों से अन्तरशास्त्रीय सन्दर्भो में तुलनात्मक अध्ययन-अनुसंधान आज के समय में अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी हैं। इसे आश्चर्य ही कहा जायेगा कि समन्वय और तुलनात्मक अध्ययन के इस युग में भी प्रायः कुछ विद्वान् विविध विधाओं के विशाल जैन साहित्य को उपेक्षित कर देते हैं, इससे उनका अध्ययन, अनुसंधान, चिन्तन और लेखन एकाङ्गी एवं अधूरा ही रह जाता है। अब समय आ गया है कि इस विषय में दृष्टिकोण को अधिक उदार और विशाल बनाया जाये।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

अनगार धर्मामृत : पं० आशाधर, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१९।

अनुयोगद्वार : आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४।

आचारांगसूत्र : आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६३-६४।

आवश्यकचूर्णि : (भाग १-२) जिनदासगणि, ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, १९२८।

आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका: (१-२ विभाग) : श्री विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, १९३९।

उत्तराध्ययनसूत्र : १. जैन पुस्तकोद्धार समिति, सूरत, १९१६।
२. जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६७।

कल्पसूत्र : साराभाई मणिलाल नबाव, अहमदाबाद, १९४१।

कसायपाहुड : गुणधराचार्य, जयधवला टीका सहित, अ० भा० दि० जैन संघ ग्रन्थमाला, मथुरा, १९४४।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : श्रीमद् राजचन्द जैन शास्त्रमाला, अगास, वी० नि० सं० २४८६।

चारित्त पाहुड : माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७।

चारित्रसार : चामुण्डराय, ,, वि० सं० १९७४।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य : प्रकाशक—श्रीमद् राजचन्द आश्रम, अगास, १९३२।

तत्त्वार्थवार्तिक : अकलंकदेवकृत, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वि० सं० २००८।

तत्त्वार्थसूत्र : सं० पं० फूलचन्द शास्त्री, श्री वर्णी जैन ग्रन्थमाला, नरिया, वाराणसी—५।

दशवैकालिक : प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९७४।

धवला : आचार्य वीरसेन, (षट्खण्डागम की टीका) भाग १,
सितावराय लखमीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती, १९३९।

नयचक्र : आचार्य देवसेनकृत, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७१।

नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्दकृत, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वि० सं० १९७२।

पञ्चास्तिकाय : ,, अजिताश्रम, लखनऊ, १९३१ ।

प्रवचनसार : ,, श्रीमद् राजचन्द आश्रम, अगास, १९६४ ।

पाइअसद्द महण्णवो : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६३ ।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय : आचार्य अमृतचन्द्र, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, वी० नि० सं० २४३१ ।

प्रश्नव्याकरण : टीका-अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९ ।

बृहत्कल्पसूत्र : (भाग १-४) आत्मानन्द जैन ग्रन्थ रत्नाकर, भावनगर, १९३६ ।

भगवती आराधना : शिवार्यकृत, विजयोदयटीकासहित, जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा १९३५ ।

मूलाचार : (भाग १-२) वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति सहित आचार्य वट्टकेरकृत, माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७ एवं वि० सं० १९८० ।

योगशास्त्र : आ० हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९२६ ।

रयणसार : आचार्य कुन्दकुन्द, वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर १९७४ ।

विशेषावश्यकभाष्य : लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद ।

समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली, १९५८ ।

समवायांगसूत्र : प्रकाशक—सेठ माणिकचन्द चूनीलाल, अहमदाबाद, १९३८ ।

सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद, अनु० प० फूलचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५ ।

सूत्रकृतांग : प्रकाशक-अ० भा० श्वे० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६९ ।

स्थानांगसूत्र : १. आगमोदय समिति, सूरत, १९२० ।
२. जैन विश्व भारती, लाड़नूँ, १९७४ ।

स्थानांगवृत्ति : प्रकाशक-सेठ माणिकचन्द चूनीलाल, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४ ।

The negative particles in the *anuṣṭubh* feet of the *Buddhavaṃsa* —a study on their applications

Devaprasad Guha

The *Buddhavaṃsa,* a canonical Pali text, is a unique poetical composition. According to the Nalanda edition of the book, which incidentally has been used for the present study, the work contains 1,267 verses, of which 1,210 are four-footed and 57 six-footed. Thus, the text has altogether 5, 182 feet, of which only 74 have in them the use of the negative particles, and these happen to be *na* and *mā*. The former is found in 68 feet (45 odd and 23 even), and the latter in 6 feet equally distributed between odd and even ones. The particles appear only once in every foot except in *na so sakkā na hetuye* (2.9b) where *na* occurs twice. For the present discussion, the earlier *na* has been reckoned as a simple indeclinable and the latter as the negative particle.

The particles appear mostly in *anuṣṭubh* feet, and only occasionally in *bṛhatī* ones. In *paṅktī* and *triṣṭubh* feet, they occur but rarely. The table below speaks of their footwise frequency.

Table 1

feet	*frequency*		*total*	*percentage*
	na	*mā*		
anuṣṭubh	53	5	58	78.4
bṛhatī	11	1	12	16.2
paṅkti	2		2	2.7
triṣṭubh	2		2	2.7
total	68	6	74	100.0
percentage	91.9	8.1		

The following *anuṣṭubh* feet are found repeated several times. Details about their frequency are given below.

na so sakkā na hetuye	5 28b 28d
na sakkā taṃ gaṇetuye	2.120a 125a 130a 135a 140a 145a 150a 155a 160a

vitathaṃ natthi Buddhānaṃ	2.109c 110-14e
gaṇanāya na vattabbo	7.3c 8.4c 21.3c 27.3-4c

Since we are more concerned with the relative placements of the particles and the parts of speech as also the metrical patterns of the *anuṣṭubh* feet than their sheer frequency of use, we propose to keep out the repetitions from the present study and take up only one case each of the above-mentioned feet. As such, only 5.28b, 2.120a, 2.109c and 7.3c have come within our pesent purview.

The following table gives us an idea of the frequency of occurrence of the particles as particular syllables in *anuṣṭubh* feet.

Table 2

syllables	*frequency*		*total*
	na	*mā*	
first	21	3	24
fourth	6	1	7
fifth	7		7
sixth		1	1
seventh	1		1
total	35	5	40

Particles as first syllables

As first syllables, *na* appears 21 times and *mā* thrice, and the two together 8 times in odd feet and 16 times in even ones. The former occurs as a short syllable in every foot except in *nāpi chiddaṃ mahā ahu* (14.29b) and *natthi tādisikā pabhā* (15.24b) where the syllable is long. *Na* is followed immediately by a noun in 6 feet, by a pronoun in 4, in 5 feet by some verb, and by an indeclinable in 6. *Mā* is immediately followed by a pronoun in one foot, and in two a verb comes after it. The table below furnishes the details of the sequence of use of the particles and the parts of speech in these 24 feet.

Table 3

	sequence				*feet*		
na	n	n			2. 14d	16d	
,,	,,	,,	p		2. 13d	15d	
,,	,,	p	n		2. 17d	18d	
,,	p	n	v		5. 29c	12.28c	14.14c
,,	,,	ad	i		1. 27c		
,,	v	n			2. 85b	123d	148d
,,	,,	,,	n		2.105b		
,,	,,	ad	,,		15.24b		
,,	i	n	ad	v	14.29b		
,,	,,	,,	v		2.128c		
,,	,,	p	i		5. 28b		
,,	,,	,,	ad	i	2.120a		
,,	,,	v			2.118d	26.14c	
mā	p	,,	n		2.179c		
,,	v	,,			2.107b		
,,	,,	i	n		2.149b		

From the aforesaid details, the following points may be deduced :

a. that there are 16 groups of particles and parts of speech : 4 of three words each appearing in 8 feet, 10 four-worded ones distributed in 14 feet, and 2 of five words each occurring in 2 feet;

b. that *na* appears once in the first foot, 9 times in the fourth one, and 7 times each in second and third feet, and *mā* occurs once in the third foot and twice in the second one;

c. that *na* is immediately followed by noun, pronoun, verb and indeclinable, but *mā* by pronoun and verb only;

d. that, as the second word, the noun appears only in the fourth foot, the pronoun in the third one, the verb only in even feet (twice in the fourth feet and 5 times in second ones), and the indeclinable once each in first and fourth feet, and twice each in the other two;

e. that in 15 feet the verb does not appear at all, while in *mā nivatta abhikkama* (2.107b) it appears twice;

f. that all the feet, where some indeclinable follows the particle immediately, have some verb in them, except in the foot *na h' ete ettakā yeva* (2.120a); and

g. that the indefinite verbal form *gaṇetuye* appearing in the foot *na sakkā taṃ gaṇetuye* (5.28b) has been reckoned as a verb for the present study.

The number of words in the feet, referred to in Table 3, varies between three and five. The frequency of the particles and the parts of speech as particular words in the feet may be known from the table following.

Table 4

	order of words					*total*
	1st	*2nd*	*3rd*	*4th*	*5th*	
na	21					21
mā	3					3
n		6	13	6		25
p		5	4	2		11
ad			2	1		3
v		7	4	5	1	17
i		6	1	2	1	10
total	24	24	24	16	2	90

From the above table it becomes evident that as second words in the feet nouns, pronouns, verbs and indeclinables occur almost uniformly, as third and fourth words nouns appear most frequently, as fourth words the verbs as well, as third words pronouns and verbs are present occasionally, while all the other occurrences are rare. Considered overall, noun proves to be the most important part of speech in the feet. Next comes verb, and it is followed in diminishing order by pronoun and indeclinable. Adjective appears very rarely.

We shall now discuss the metrical patterns of the feet referred to in Table 3. It is well-known that the second half of the early *anuṣṭubh* feet presents more or less regular metrical formations. So much so, the metrical frame-up of the odd feet happens to be $u - - \overset{u}{-}$ and that of even feet is $u - u \overset{u}{-}$ Of course, there are cases where this regularity has not been maintained. But such cases are rather rare, and should thus be reckoned as exceptions. In view of the said nature of *anuṣṭubh* feet, we propose to discuss here the metrical formations of only the first half of the feet. Details in respect of the feet are given below.

particles	*parts of speech following*	*metrical patterns*	*references*
na	noun	u – – –	2. 15d 17d 18d
,,	,,	u – – u	2. 13d 14d 16d
,,	pronoun	u – – u	12. 28c
,,	,,	u – u –	1. 27c 5.29c 14.14c
mā	,,	– – u –	2.179c
na	verb	u – – u	2. 85b 105b
,,	,,	u – u u	2.148d
,,	,,	u u – –	2.123d
,,/*mā*	,,	– u – u	15. 24b 2.107b
mā	,,	– – u u	2.149b
na	indeclinable	u – – –	2.120a 5.28b
,,	,,	u – u –	2.128c
,,	,,	u – u u	2.118d 26.14c
,,	,,	– u – –	14.29b

The following table speaks of the frequency of metrical combinations in the earlier half of the feet referred to in Table 3.

Table 5

metrical patterns	*parts of speech*				*total*
	n	*p*	*v*	*i*	
u – – –	3			2	5
u – – u	3	1	2		6
u – u –		3		1	4
u – u u			1	2	3
u u – –			1		1
– u – –				1	1
– u – u			2		2
– – u –		1			1
– – u u			1		1
total	6	5	7	6	24

It is thus seen that the total frequency of short and long syllables in the first half of the feet stands as follows :

short : 19 4 9 12 long : 5 20 15 12

As such, the general structure of the earlier half of the feet turns out to be u– – $\frac{u}{—}$.

Particles as fourth syllables

As fourth syllable, *na* appears 6 times, all in odd feet except once at 2.80b (*isayo natthi me samā*). *Mā* occurs only once, and in an even foot. In three feet *na* is short, and in the remaining three at 2.80b, 2.109c (*vitathaṃ natthi Buddhānaṃ*) and 2.165c (*tatuddhaṃ natthi aññatra*) it is long. Datails of the sequence of use of the particles and the parts of speech may be had from the following table.

Table 6

sequence					feet
n	*na*	v			2.133c
,,	,,	,,	n		2.109c
,,	,,	,,	p	ad	2. 80b
i	,,	,,			1. 73c
p	i	*na*	n	i	27. 22c
,,	,,	,,	v	,,	2.165c
n	,,	*mā*	,,		2. 42d

With reference to the aforesaid particulars, the following observations may be made :

a. that there are 7 different combinations of the particles and parts of speech : two each in equal number of feet with three and four words, and three in even number of feet of five words each :

b. that the particles appear in 5 odd and two even feet;

c. that in all the feet the particle is followed by some verb, except in *ahaṃ hi na cirasseva* (27.22c) in which there is no verb at all, and that the particle is followed and preceded respectively by a noun and an indeclinable;

d. that *na* is immediately preceded by a noun in three feet, and by an indeclinable in the other three, while *mā* is preceded by an indeclinable; and

e. that in two feet the verb appears as the fourth word, and in 4 as the third one.

The number of words in the feet under consideration varies from three to five. The table below gives the details of the frequency of occurrence of the particles and parts of speech as particular words in the feet.

Table 7

	order of words					*total*
	1st	*2nd*	*3rd*	*4th*	*5th*	
na		4	2			6
mā			1			1
n	4			2		6
p	2			1		3
ad					1	1
v			4	2		6
i	1	3			2	6
	—	—	—	—	—	—
total	7	7	7	5	3	29

From the table above it becomes apparent that the noun and the verb are respectively the most important parts of speech as first and third words, the indeclinable is the only part of speech found as the second word, and that as fourth and fifth words of the feet the verb and adjective are found, but none prominently. Considered overall, nouns, verbs and indeclinables are to be deemed as the most important parts of speech found in the feet under consideration and they appear equal number of times. The pronoun is somewhat less in use, and the adjective is extremely rare.

To turn to the metrical formations of the feet. Details are given below.

parts of speech preceding	*particles*	*metrical patterns*	*references*
noun	*na*	u u – –	2.109c 80b
,,	,,	u – u u	2.133c
,,	*mā*	u – – –	2. 42d
indeclinable	*na*	u – – –	1. 73c 2.165c
,,	,,	u – u u	27. 22c

Basing on the aforesaid details, we may draw up the following table.

Table 8

metrical patterns	*parts of speech*		*total*
	n	*i*	
u – – –	1	2	3
u – u u	1	1	2
u u – –	2		2
total	4	3	7

Total frequency of short and long syllables in the first half of the feet is as given below :

short : 7 2 2 2 long : 0 5 5 5

Thus, the general metrical structure turns out to be u – – –.

Particles as fifth syllables

As the fifth syllable, only *na* is found and not *mā*. *Na* occurs thrice in odd feet and 4 times in even ones, and is short everywhere. Details of the uses of the particle and the parts of speech are given in the following table.

Table 9

sequence					*feet*
n	*na*	v			2. 85a 7.3c
,,	p	*na*	v		1. 64b 2.106 b
,,	i	,,	,,		2.100a
ad	p	,,	,,		1. 42d
i	,,	i	*na*	v	2. 9b

With reference to the aforesaid details, the following points may be noted :

a. that there are 5 different combinations of the particle and the parts of speech : one with three words appearing in two feet, three of 4 words each found in 4 feet, and one of 5 words in one foot;

b. that the particle occurs twice in the first foot, thrice in the second, and once each in the third and fourth feet;

c. that the particle is immediately preceded by some noun in two feet, by some pronoun in three, and in two feet by some indeclinable;

d. that the passive participle *vattabbo* in the foot *gaṇanāya na vattabbo* (7.3c) behaves in the context as a verb, and it has been reckoned as a verb;

e. that all the feet end with some verb which incidentally is preceded by the negative particle.

The following table speaks of the distribution of the particles and the parts of speech as particular words of the feet under consideration.

Table 10

	order of words					total
	1st	*2nd*	*3rd*	*4th*	*5th*	
na		2	4	1		7
n	5					5
p		4				4
ad	1					1
v			2	4	1	7
i	1	1	1			3
total	7	7	7	5	1	27

From the above table we come to know that of the parts of speech only the verb appears as the fourth, and as the first and second words mainly the noun and the pronoun. The verb comes more frequently than the indeclinable, the only other part of speech found as the third word. The lone fifth word again is a verb. Considered overall, the verb occurs most frequently. Next, in uniformly diminishing order appear the noun, pronoun and indeclinable. The adjective is extremely rare.

To turn to metrical combinations of the feet referred to in the above table, details of which are given below.

preceding parts of speech	*particles*	*metrical patterns*	*references*
noun	na	u – – –	2. 85a
,,	,,	u u – u	7. 3c
pronoun	,,	u – – –	2.106b
,,	,,	u u – –	1. 42d
,,	,,	– u – –	1. 64b
indeclinable	,,	u – u –	2.100a
,,	,,	u – – –	2. 9b

On the basis of the above mentioned details, the following table may be drawn up.

Table 11

metrical patterns	*parts of speech*			*total*
	n	*p*	*i*	
u – – –	1	1	1	3
u – u –			1	1
u u – –		1		1
u u – u	1			1
– u – –		1		1
total	2	3	2	7

The total frequency of short and long syllables in the earlier half of the feet stands as follows : short : 6 3 1 1
long : 1 4 6 6

As such, the general metrical pattern takes the appearance u $\frac{-}{u}$ – –.

Particles as sixth and seventh syllables

In just one foot each *mā* and *na* respectively appear as sixth and seventh syllables. The sequence of applications of the particles and the parts of speech is furnished in the table below.

Table 12

sequence					*feet*
ad	v	*mā*	v		2.172c
n	p	ad	*na*	v	1. 70a

The following deductions are possible on the basis of the aforesaid particulars :

a. that there are two combinations, one of 4 words and the other of 5;

b. that *na* appears in first foot and *mā* in the third;

c. that in one foot the particle is preceded by an adjective and in the other by a verb;

d. that in both the cases the particles are followed by some verbs; and

e. that in the foot with *mā*, the particle is both preceded and followed by some verbs, the solitary such example in the whole text.

The frequency of the particles and the parts of speech may be known from the following table.

Table 13

	order of words					total
	1st	*2nd*	*3rd*	*4th*	*5th*	
na				1		1
mā			1			1
n	1					1
p		1				1
ad	1		1			2
v		1		1	1	3
total	2	2	2	2	1	9

It is thus evident that verbs and adjectives occur in the feet more frequently than the other parts of speech, and that the indeclinable does not appear at all.

The metrical patterns of the feet in Table 13 are detailed below.

parts of speech preceding	*particles*	*metrical patterns*	*references*
adjective	*na*	– – – –	1. 70a
verb	*mā*	u – – –	2.172c

The frequency of metrical patterns are tabled below.

Table 14

metrical patterns	*parts of speech*		*total*
	a	*v*	
u – – –	1		1
– – – –		1	1
total	1	1	2

The total frequency of short and long syllables as :

short : 1 0 0 0 long : 1 2 2 2

As such, the general metrical pattern assumes the form $\underset{-}{u}$ – – –.

With reference to Tables 7, 10 and 13, it is possible to get an exact impression of the total frequency of occurrence of the particles and the parts of speech in feet in which the particles appear as syllables other than the first ones. The position is as follows.

Table 15

	total frequency as per Tables			total	percentage	total frequency as per Table	percentage
	7	*10*	*13*			*4*	
na	6	7	1	14	21.5	21	23.3
mā	1		1	2	3.1	3	3.3
n	6	5	1	12	18.5	25	27.8
p	3	4	1	8	12.3	11	12.2
ad	1	1	2	4	6.2	3	3 3
v	6	7	3	16	24.6	18	20.0
i	6	3		9	13 8	9	10.0
total	29	27	9	65	100.0	90	99.9

On the basis of the aforesaid details, it is possible to draw the following deductions :

a. that, when the particles appear as initial syllables of the feet, the noun appears most frequently, and it is followed by the particle *na* and the part of speech verb in more or less uniformly diminishing order;

b. that, when the particles appear as syllables other than the first one, the verb occurs most frequently, and it is closely followed by *na* and noun in more or less equal diminishing order;

c. that in both the cases *mā* and adjective appear the least number of times;

d. that in the case of feet with particles as initial syllables, the pronoun appears more frequently than the indeclinables, while it is just the reverse in the other case; and

e. that the percentages of occurrence of pronouns in both the cases are more or less same, and so is the case with *mā*.

From Table 15 again we may know the following details about the total frequency of the particles and the parts of speech in feet under consideration : *na* 35 times, *mā* 5 times, noun 37 times, pronoun 19 times, adjective 7 times, verb 34 times and indeclinable 18 times. Of the parts of speech, the noun thus is found most frequently. The verb stands as a close second. Next in order come pronoun and indeclinable which appear

almost equally. The adjective occurs rather scarcely. Now, if the particles, which too are indeclinables, are also taken into consideration together, the indeclinable turns out to be the most prominent one among the parts of speech used in the feet with negative particles.

The details, furnished above, help us to draw the following deductions :

1. The negative particles have been very scarcely used in the text. Hardly 1.4% of the total of 5,182 feet have in them the use of these particles. And they are *na* and *mā*.

2. The particles are mostly found in *anuṣṭubh* feet, and scarcely elsewhere. Precisely, 58 such are *anuṣṭubh* feet, 12 *bṛhatī*, and two each are *paṅkti* and *triṣṭubh*.

3. Of the *anuṣṭubh* feet, 53 are with *na* and 5 have *mā*. Of the 53 with *na*, only 35 come within our purview. The remaining 18 have been discarded, since they are mere repetitions. All the feet with *mā* have been discussed.

4. The particles mostly appear as first syllables, but not even once as second, third and eighth syllables. As first syllable they appear in 24 feet, as fourth syllable in 7, as fifth syllable in another 7, and in one foot each as sixth and seventh syllables.

5. As first syllable *na* appears 21 times, as fourth syllable 6 times, 7 times as the fifth syllable, and once as the seventh. *Mā* appears thrice as the first syllable and once each as fourth and sixth ones.

6. The feet under consideration are formed of three to five words. Of them, 12 are three-worded, 21 have four words each, and 7 are five-worded.

7. There are altogether 30 combinations of particles and parts of speech, 16 with particles as first syllables, and 14 with particles appearing elsewhere in the feet. Of the 30, 16 are four-worded, while the remaining 14 are equally distributed in feet of three and five words.

8. As the first syllable, the particles are found once in the first foot, 9 times in the fourth, and 7 times each in the second and the third ones. Elsewhere, they appear thrice in the first feet, twice in the

fourth, 4 times in the second and 7 times in the third feet. Considered overall, the particles appear mostly in the third feet, and in the first the least number of times. In the other two, they are found equally distributed.

9. Besides the particles, the parts of speech happen to be nouns, pronouns, adjectives, verbs and indeclinables. From the details furnished below, it would be possible to have an idea of their frequency.

position of particles	*n*	*p*	*ad*	*v*	*i*	*total*
1st syllable	25	11	3	18	9	66
elsewhere	12	8	4	16	9	49
total	37	19	7	34	18	115

It is thus evident that in feet with negative particles as initial syllables the noun occurs most frequently. The verb comes next. The pronoun and indeclinable, which incidentally are of almost equal frequency, appear next. The adjective stands last. In feet where the particles appear as syllables other than the first ones, the verb happens to be the most prominent part of speech. Next stands the noun. Still next, the indeclinable and the pronoun which again appear almost equally. In this case too, the adjective proves to be the least significant part of speech. Considered overall, the noun stands as the most important part of speech, and the adjective as the least important one. The verb stands second. The pronoun and the indeclinable, which are almost of equal frequency, come next in order, with slight edge for the former over the latter.

10. In 9 feet, the verb does not appear at all. In 8 of them, *na* appears as the first syllable, and is immediately followed by some noun in 6 feet, and in one foot each by a pronoun and an indeclinable. In one foot, the particle appears as the fourth syllable and is preceded by an indeclinable.

11. In the remaining 31 feet, the particles are invariably followed by some verb. In one case at 2.107b, the particle is followed by two verbs consecutively, and in one at 2.172c it is also preceded by another verb. These are precisely the only cases where the verb appears twice in the same foot. In both the cases, the particle happens to be *mā*.

12. As first syllables, the particles are immediately followed by nouns, pronouns, verbs and indeclinables in 6, 5, 7 and 6 feet respectively, Where the particles appear elsewhere in the feet, they are immediately preceded by some noun, pronoun, adjective, verb and indeclinable respectively in 5, 3, 1, 1 and 6 feet. This shows that in the earlier type of feet, the parts of speech, except adjective, immediately follow the particles more or less in equal frequency. And in the other type of feet, the particles are immediately preceded by indeclinables and nouns almost equally. The pronoun comes next in order. The adjective and the verb are rather rare.

We now propose to give a precis of the frequency of the quantity of the syllables when the particles appear as (i) first syllables and (ii) as syllables other than the first one. This we would like to do with reference to the parts of speech immediately following the particles as in case i, and those immediately preceding the particles as in case ii.

Case i

parts of speech following	*quantity*	*times of frequency*				*metrical patterns*
		a	*b*	*c*	*d*	
noun	short	6	0	0	3	u
	long	0	6	6	3	u – – –
pronoun	short	4	0	4	1	
	long	1	5	1	4	u – u –
verb	short	4	3	2	6	
	long	3	4	5	1	u — – u u
indeclinable	short	5	1	3	2	u
	long	1	5	3	4	u — –
total frequency	short	20	4	9	12	u
	long	4	20	15	12	u – – –

Thus we see that when the particles are followed by nouns, the first syllable is invariably short, the second and third ones are invariably long, and the fourth syllables are equally divided between short and long. When the particles are followed by pronouns, the second syllables are invariably long, the first and third ones are mostly short, while the fourth ones are mostly long. When the particles are followed by verbs, the fourth syllables are mostly short, the third ones are mostly long, while the first two are more or less uniformly distributed between short and long syllables. While

the particle is followed by indeclinables, the first syllables are mostly short, the second ones mostly long. the third ones are equally distributed, and the fourth ones are generally long. Considered overall, the first syllables are mostly short, the second ones are mostly long, the third ones generally long, while the fourth ones are equally distributed between long and sort.

Case ii

parts of speech preceding	*quantity*	*times of frequency*				*metrical patterns*
		a	*b*	*c*	*d*	
noun	short	5	3	1	2	
	long	0	2	4	3	u u – – – u
pronoun	short	2	2	0	0	
	long	1	1	3	3	u u – – – –
adjective	short	0	0	0	0	
	long	1	1	1	1	– – – –
verb	short	1	0	0	0	
	long	0	1	1	1	u – – –
indeclinable	short	6	0	2	1	
	long	0	6	4	5	u – – – u
total frequency	short	14	5	3	3	
	long	2	11	13	13	u – – –

We thus see that when the particles are preceded by nouns, the first syllables are invariably short, the third ones mostly long, the second ones generally short, while the fourth ones generally long. While the particles are preceded by pronouns, the first two syllables are generally short, and the last two invariably long. When preceded by some adjective, all the syllables are long. If a verb precedes the particle, the first syllable is short, and the other three long. When the particle is preceded by indeclinables, the first syllable is short and the second one long, the third syllable is generally long, while the fourth one is mostly so. Considered overall, the first syllables are mostly short, while the other three are mostly long.

In fine, it may be said that the general metrical pattern of the first half of the feet with negative particles happens to be u – – – .

HIGHER EDUCATION AND RESEARCH in PRĀKRITS & JAINOLOGY

in the Universities of India

DR. GOKUL CHANDRA JAIN

Introductory

Higher Studies and research in Prākrits and Jainology are attracting scholars and students gradually. The occurrence is a natural process, and is quite consistent to the changing trends in the development of human knowledge, civilization and culture. During about last two centuries studious efforts of a band of scholars, Western and Eastern both, have brought to light the hidden treasures of Prākrits and Jainology, the cultural heritage of immense importance.

Survey reports of ancient manuscripts, epigraphic records, archaeological excavations, philological researches of old, middle and new Indo-Aryan languages, compartive and cultural studies of religion, Philosophy and allied disciplines in humanities and social sciences, historical survey and many other efforts have brought to light abundant material, informations and plentiful literature written in various Prākrits viz Śauraseni, Māgadhī, Ardhamāgadhī, Mahārāṣṭrī, etc., and also in Sanskrit, Apabhraṃśa, Old Kannaḍa, Tamil, Gujarātī, Rājasthānī and so on. Pubicaltion of epigraphical records, archaeological reports, as also those on art, sculptures, architecture etc. have widened the scope. Scholars found a broad area of learning absolutely unexplored.

The first regular notice of Jainism to Western scholars appears to be the one published by Lieut. Wilfred in the Asiatic Researches in 1799, and the contemporary existence of monuments, literature and adherent of Jainism was first brought to light by Col. Colin Mackenzie and Dr. Buchanan Hamilton in 1807, followed by H. T. Colebrooke's 'Observation on the Jainas'.

A host of savants worked in the field, most notable among them are Albrecht Weber, Leumann, Rice, Fleet, Guerinot Wilson, Pischel, Jacobi,

Buhler, Hoernle, Hertel, Burgess, Jarl Charpentier, Vincent Smith, F. W. Thomas, Schubring, Zimmer etc.

When researches started in India many earnest scholars worked in different branches of Jainology, edited many ancient texts in various Prākrits, Sanskrit, Apabhraṃśa, Kannaḍa, Tamil, Gujarati, Rājasthānī etc.

The monumental work of Prof. Maurice Winternitz, *A History of Indian Literature* in two volumes, was published in the first quarter of present century. In the 2nd volume he writes, "The Jainas have extended their activities beyond the sphere of their own religious literature to a far greater extent than the Buddhists have done, and they have memorable achievements in the secular science to their credit, in philosophy, grammar, lexicography, poetics, mathematics, astronomy and astrology and even in the science of politics. In one way or the other there is always some connection even of these 'profane' works with religion. In southern India the Jainas have also rendered services in developing the Dravidian languages, Tamil and Telugu and specially the Kanarese literary languages. They have, besides, written a considerable amount in Gujarati, Hindi and Marwari. Thus we see that they occupy no mean position in the history of Indian literature and Indian thought." pp. 594-95).

This observation comes from one of the greatest historians of Indian literature, and has special significance.

A landmark in the History of Prakrit Grammar and study of Indian Literature as a whole 'Grammatic der Prakrit-Sprachen' by Dr. Richard Pischel appeared in 1900. Critical editions of a number of Prākrit texts, including Prākrit Grammar and other important Sanskrit and Apabhraṃśa works, had already been published by that time. Manuscripts became accessible to scholars.

Studies of Prākrits and Jainology in the universities of India were introduced with the establishment of Departments of Indology or the Departments of Classical languages which included the study of Sanskrit, Pāli, Prākrit and Apabhraṃśa. Even professors of Hindi became well-versed in these languages and introduced Apabhraṃśa in the Department of Hindi knowing its importance for the study of modern Indo-Aryan Languages. A good deal of work in Pāli, Prākrit and Apabhraṃśa had been done by the professors of Sanskrit. Unfortunately the spirit and

scholarship of studying classical languages as a whole decreased, and as a result the study of Pāli and Prākrit suffered a great setback.

Now when the scope of higher studies and research in many other areas of Indology has almost exhausted for free hand work, the attention of scholars and students is again diverted towards Prākrits and Jainological studies. They find a milch-cow in it. Even a little effort in any branch of these studies is found sufficient for a doctoral dissertation. A scholar working on any branch of Prākrits or Jainology earns a feather to his cap without taking much pain for intensive study.

Survey of Jainological Studies

The first survey of Jainological studies as an independent faculty appears to be the one by A. Guerinot 'Essai De Bibliography Jaina' (Paris 1906). C. L. Jain's 'Jaina Bibliography' was published in 1945 (first edition Calcutta, revised edition Delhi, 1982).

From the bibliographical point of Jainological Manuscripts 'Jina-ratna-kośa' by H. D. Velankar (Poona 1944) has proved to be of immense importance. A good number of catalogues have appeared in years following.

Information regarding published Jaina literature is not confined to the books on the History of Jaina Literature. In addition, many booklets, brochures and literary studies also provide important related materials.

With the increasing interest in the studies of Prākrits and Jainology, particularly for doctoral dissertations, the need of above bibliographies increased. Along with that a list of bibliographical informations of doctoral dissertations already approved and in progress was badly felt. My association with academicians on one side and with students on the other brought for me many such information. Finally when I found it difficult to attend to individual enquiry, I tried to make some survey for the purpose and gradually published the reports.

During last three 'Five-years Plans', I have made more than three surveys of Prākrit and Jainalogical studies, publications and some other aspects related to it. The reports have been published as per details given below,

1. *Jñānapīṭha Patrikā*

October 1968, special issue published on the occasion of All-India Oriental Conference, 24th session, Varanaseya Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi (Bhāratiya Jñānapīṭha, Varanasi).

2. *Jñānapīṭha Patrikā*

October 1969, special issue published on the occasion of the Silver Jubilee session of All-India Oriental Conference, Jadavpur University, Calcutta (Bhāratīya Jñānaiṭha, Varanasi).

3. *Bhagavān Mahāvīra & His Heritage*

December, 1973, on the occasion of the first All India Conference organised on the eve of 2500th Nirvāṇa Anniversary of Bhagavān Mahāvīra, Vigyan Bhavan, New Delhi (Jainological Research Society, Delhi).

4. *Jainological Researches*

(in the universities of India and abroad) published on the occasion of the 'Summer school for Jainological Research', University of Delhi, May-June 1974 (JRS Bulletin no.7).

5. *Gāṇḍīvam*

October 1981 (Sampurnanand Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi)' special issue published on the occasion of 5th International Sanskrit Conference held at Banaras Hindu University, Varanasi.

These reports proved to be of immense help to researchers and supervisers in the Universities. Some of the Journals reproduced them.

Along with the present report a classified Bibliography of 'Doctoral Dissertations to Jaina and Buddhist Studies' is being published by P V. Research nstitute, Varanasi (P. V. Series no. 30, Varanasi, 1983). Dr. Sagarmal Jain and Dr. Arun Pratap Singh have classified the entries in their own way under twenty-two heads. Both these reports supplement each other.

Association of Indian Universities, New Delhi, has published 'Bibliography of Doctoral Dissertations'. A Fortnightly Chronicle of Higher Education and Research 'University News' is published by the Association regularly. Some guidelines have also been published by the commission as well as by National Councils. These publications are very helpful for higher education and research in Prākrits and Jainology too.

Developments

With the increasing interest in higher education and research in Prākrits and Jainology many new developments have been made during later half of the present century. Some areas of higher studies and research have been clearly located. It has been realised that Prākrits and Jainology have vast scope for interdisciplinary studies in many branches of Humanities and Social Sciences. As already stated above, scholars have detected materials of high importance relating to natural sciences and life-sciences too. Works on Physics, Mathematics, Astronomy, Astrology have been done. A brief account of the development will be helpful for perspective planning, and to the researcher interested in this Faculty of learning.

The role of Seminars, Confernces, Summer-schools, Workshops etc in focussing the importance of Prākrits and Jainology proved to be of great signficance. Sessions of All-India Oriental Conference and introduction of an independent section of 'Prakrit and Jainism' in it, is of historical importance. Right down from the Kashmir valley session (1961) to the Gauhati session in Assam and the Silver Jubilee Session (1969) at Jadavpur, West Bengal, we can see the increase in the number of participants in the Section of Prākrit and Jainism. To my pleasure, I had the opportunity to attend all these sessions. Further increase could be seen in the latest session at Jaipur (1982).

U. G. C. Seminars organised at the Shivaji Univeresity, Kolhapur (1968), University of Poona (1969), Magadh University, Bodhgaya, University of Udaipur (1973), Gujarat University, Ahemdabad (1973) and Sampurnanand Sanskrit Vishwavidalaya, Varanasi (1981) proved to be of greater values. Seminars at Ujjain, Mysore and Patiala also deserve mention.

Among other academic organisations the role of Jainological Research Society deserves special mention. The first Summer School at Saugor (M. P.) in 1969 and the first National Conference at Vigyan Bhawan, New Delhi in 1973, were most significant. Sessions of Jaina Darshan Parishad and some other academic societies helped in bringing together scholars, ascetics and house-holders who could work for these studies.

The recommendations of the U. G. C. Seminars mentioned above drew attention of the commission, and the universities were asked if they

were interested in undertaking any of the programmes, research projects recommended by the Seminars. On the part of the universities, it was very unfortunate that very little could be achieved.

Endowment Chairs

Endowment chairs for Jainological Studies have been instituted in some of the Universities of India. The earliest chair, which I could detect, was instituted in the year 1930 at Banaras Hindu University. In the subsequent years following chairs, departments have been instituted :

1. Department of Jainology and Prākrits,
   Mysore University, Mysore.
2. Jaina Chair, Department of Philosophy,
   University of Poona.
3. Department of Jainology and Prākrits,
   University of Udaipur.
4. Centre of Jaina Studies,
   Rajasthan University, Jaipur.
5. Mahavira Chair,
   Punjabi University, Patiala.
6. Department of Jainology,
   Karnatak University, Dharwar.

Some more chairs are being instituted at Madras, Bangalore etc.

University Departments

Some of the Departments of classical languages established in the Universities of India and now mostly known as the Department of Sanskrit continue to be the centres for Prākrits and Jainological Studies. Out of these special mention may be made of Delhi University, Banaras Hindu University and Allahabad University.

Some of the Departments which have been developed into two departments, also continue to enrol research scholars for Doctoral research. Nagpur and Gujarat University may be mentioned.

In Bombay, Poona and Kolhapur Prākrit studies were introduced in the first quarter of the present century. Prof. P. L. Vaidya writes—"It came

to be prominently studied in Indian Universities since 1924-25 when Ardha-māgadhī was recognised as one of the classical languages for study, first at the University stage, and later at the matriculation stage." (Prākrit Seminar, Kolhapur, 1968). For many years Maharastra as a whole had been a most important centre for Prākrit and Jainological studies. But now it is declining. The same is the position of Calcutta, the renowned University of West Bengal.

Sampurnanand Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi stands at present at the top, as two independent Departments for Prākrit and Jainological studies have been started without the help of any endowment. The names of the Departments are as follows,

1. Department of Prākrit and Jaināgama, and
2. Department of Jaina Darshana,
   both in the Faculty of Śramaṇa-vidyā.

Two independent courses of studies from higher seeondary to Post-Graduate studies have been introduced. The University provides facilities for higher education and Doctoral & Post-Doctoral research. Other courses of studies are carried in the affiliated Vidyālayas and Mahāvidyālayas for which the University takes examinations. Introduction of these studies in a university of traditional learning, has widened the scope, and the neglected traditional Pāṭhaśālās and Vidyālayas, which build the back-bone of such studies, received due recognition. Still much is to be done in the field.

Among the endowment chairs and departmens, Mysore and Udaipur are well-planned and developing speedily. Others are yet to focus their image. The oldest endowment chair at Banaras Hindu University had suffered a very unfortunate setback during the gradation of Teachers in due course. It is now a Lecturer's post in the Faculty of Oriental Learning and Theology. A fifty-five years, old infant is being survived by spoon-feeding.

Research Institutes

Some Institutions affiliated to or recognised by the University as centre for Jainological studies, have been established during last few decades. Mention may be made to the following,

1. Research Institute of Prākrit, Jainology and Ahiṃsā, (Bihar), Vaishali, 1955.
2. P. V. Research Institute, Varanasi (U.P.).
3. L. D. Institute of Indology, Ahmedabad (Gujarat), 1957.
4. Jaina Vishwa Bharati, Ladnun (Rajasthan).
5. Shri Devkumar Jain Oriental Research Institute, Arrah (Bihar).
6. B. L. Institute of Indology, Patan (Gujarat).
7. Anekānta Śodhapīṭha, Bahubali (Kolhapur).

Among the institutes mentioned above the serial number itself denotes the priority.

Revival of Prākrit and Jainological studies at University level started with the establishment of the "Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahiṃsā" at Vaishali, by the Government of Bihar, in the year 1955. The founder Director Late Dr. Hiralal Jain laid down a solid foundation and introduced Post-Graduate studies in Prākrit and Jainology and Doctoral and Post-Doctoral research. The scholars engaged in the organisational work of Prākrit and Jainological studies and holding high positions in Bihar, Uttar Pradesh, Rajasthan, Gujarat and Madhya Pradesh, belong to his *vidyā-vaṃsa*. Almost all the Doctoral dissertations approved by the University of Bihar have been prepared under the auspices of this institute. Late Dr. Nemichandra Shastri's contribution for the extension of these studies in Bihar is of historical importance. Almost all the Doctoral Dissertations approved by Magadh University were prepared under his guidance and supervision. He made Arrah a centre of Prākrit and Jainological studies.

The credit of continuing the spirit of his predecessors goes to Dr. Rajaram Jain who is constantly working on the same line. At present the Jaina Siddhānta Bhawana is a recognised centre for Jainological research as 'Shri Devkumar Jain Oriental Research Institute', and P. G. teaching in Prākrit have been started in H. D. Jaina College, Arrah.

Pārśvanātha Vidyāśrama, now better known as P. V. Research Institute, deserves special credit for giving impetus to Prākrit and Jainological studies at Varanasi. The Institute provides maximum possible facilities to research scholars, perhaps more than any University may provide. Established in 1937 adjoing the campus of Banaras Hindu Univer-

sity, the Institute had been trying its level best to promote Jainological studies. First Research scholar who enjoyed full facilities including fellowship at the institute was awarded Ph. D. in 1952 by Banaras Hindu University. It continued its mission even when it was not recognised by the University as a centre. Almost all the researchers who have been awarded Doctoral Degrees by B. H. U. in any subject relating to Jainology have been benefitted by P. V. R. Institute directly or indirectly. At present, Varanasi is the most facilitating centre for Jainological research, and here too P. V. R. I. is the most. It is now recognised as a centre for Jainological research by Banaras Hindu University.

L. D. Institute of Indology, Ahmedabad is recognised by Gujarat University and has developed as an important centre for Indological research in general and Jainological research in particular in the state of Gujarat.

In Rajasthan mention of Udaipur University has been made above. Among institutes, Jaina Vishwa Bharati, Ladnun has been recognised by Rajasthan University.

Other institutions are gradually coming up. Even an independent university is proposed at Jalgaon (Maharashtra).

These institutes still need competent leadership for planning the research, a team of devoted scholars and assistants, and potential financial backup. If these institutes and the University Departments work in co-ordination, and in well-planned directions, the achievements will prove of extra-ordinary importance in the field of Advanced studies in the cultural heritage of India.

The role of some individual scholars—traditional as well as associated with the university, have been more than that of an institution. Their untiring efforts and devotion for the advancement of Jainological studies are of historical importance. Names of some European and Indian scholars have been mentioned above. In this connection contributions of late Pt. Nathuram Premi, Pt. Jugalkishore Mukhtar, Pt. Sukhlal Sanghvi, Pt. Mahendra Kumar Nyāyācārya, Pt. Bechardas Doshi, Muni Punya-Vijay, Muni Jinvijay, Dr. P. L. Vaidya and Dr. A. N. Upadhye deserve special mention.

The founders of various publication series and the traditional Pandits who brought to light many ancient texts have laid down the solid foundation of Jainological studies.

Observations

During later half of the present century manifold developments in the field of higher studies and research have taken place. Trends of research have changed. National Policy of higher education has been revised. New pattern of higher studies has been established. Methodology has quite developed. The University Grants Commission publishes regularly a 'Journal of Higher Education'. On the basis of my survey reports and close association with above developments, I have analysed the studies in Prākrits and Jainology and could detect some conclusions and observations. Following points may prove beneficial for perspective planning of higher studies and research in Prākrits and Jainology. Universitywise details of doctoral dessertations approved and in progress are appended for ready reference.

1. During last five decades more than five hundred Doctoral Dissertations on different aspects of Jainology and Prākrits have been approved by various universities. At present hundreds of research scholars are found registered.

2. A good number of Dissertations have been published and available for reference.

3. Close observations of the titles of Dissertations unpublished, disclose manifold significance helping to detect some important features. Individual title can be well utilised for undertaking further research work.

4. Researches in Jainology and Prākrits cover a wide range of subjects of Humanities and Social Sciences Some attempts have been made to explore natural and life sciences as well. These can be well classified subjectwise and broadly enumerated in the light of the recent trends and National Policy of Higher Education and research referred to above.

5. Most of the researches have been conducted on Interdisciplinary basis, and either comparative or descriptive if not analytical.

6. Mostly new areas of researches have been investigated.

7. It is surprising to note that these researches have been undertaken and conducted successfully even when no U.G.C. Professorship of Jainology and Prākrits was provided to any university of India, Central as well as States.

8. In none of the universities the U.G.C. has created a Department of Jainology and Prākrits.

9. Researches have been generally conducted under various Departments of the Universities, like,

(a) Department of Classical languages,

(b) Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology,

(c) Department of Philosophy,

(d) Department of History of Art and Architecture,

(e) Department of Hindi, and

(f) Department of Sociology.

Credit of the research works completed and in progress goes to individual teachers and the Departments with which they are associated.

10. Some of the universities which do not have any teaching Department and are the affiliating bodies, have awarded more Doctorate degrees than others.

11. Some of the universities which have been started recently have awarded the highest degree.

12. A close look in the researches so far conducted in Prākrits and Jainology give a clear idea of the areas covered and the fields explored. In the light of the recent trends and classified research priorities prepared by U.G.C. Panels and ICSSR, thc researches conducted in Prākrits and Jainology could be broadly classified as follows,

1. Language
   - i) Classical languages : Prākrits, Sanskrit, Apabhraṃśa.
   - ii) Regional languages : Tamil, Kannaḍa, Gujarātī, Rājasthānī, Maithili, Hindi etc.
2. Literature

   Āgama and Agamic literature, Purāṇas, narrative literature, Grammar, Drama, and Dramaturgy, poetics and literary criticism, evolution of literature, critical editing of ancient classical texts.
3. L nguistics.
4. Philosophy and Religious Studies.
5. Inscriptions, Epigraphy.
6. History, Art and Culture.

7. Sociology, Schools and Sects.
8 Political Science.
9. Education.
10. Economics and Commerce.
11. Psychology.
12. Geography.
13. Mathematics.
14. Astronomy, Astrology.

13. If one goes through the bibliographical details further closely, and one who has already seen the published dissertations, he can asses the intensity of earlier and later dissertations. It can obviously be concluded that earlier researches were comparative, intensive and of high standard. But there is a gradual fall in quality with the increasing quantity. Though this gradual fall of standard could be seen in almost all the subjects of Humanities and Social Sciences due to rush and hurry for degree, yet some other reasons should not be ignored.

14. There is no co-ordination in the research-work conducted or being carried out at present. Simultaneously the research work is being done on the same subject, same theme and on same lines. It clearly indicates that the researcher, the supervisor and the members of the Research committes are not aware of the works already done and being carried out. Even in many cases the works published are not noticed before registration. The bibliographies and Journals which must be seen before undertaking the research work, are not consulted.

15. Lack of proper facilities on the part of the university and lack of traditional back-ground, hurry for the Doctorate Degree and negligence of the responsibility undertaken on the part of researchers and sometimes of supervisors too are some of the important factors for the decline of the standard.

Role of University Grants Commission

1. It is on the part of the University Grants Commission to provide guidelines for Perspective Planning of Higher Education and Research in Jainology and Prākrits. More important it is, because Higher Education and Research in Jainology and Prākrits are yet to be properly introdued and organised in the universities.

2. As Jainology and Prākrits have most unexplored and wide scope, and fertility of the new areas for Interdisciplinary studies and research, it deserves special attention and incentive on the part of the University Grants Commission as well as the universites.

3. It is surprising, rather unfortunate that no full-fledged Department with adequate staff and proper facilities, has yet been created by the Commission for the study of Prākrits and Jainology in any University of India.

4. The unfortunate incidents of converting the junior teaching posts of Prākrit into other discipline, have been noticed since Fourth Five Years Plan and need not to be mentioned here. But it is the duty of the University concerned to avoid such malpractice. The commission al.o needs to see into the matter.

Recommendations

The discussions and deliberations of the seminars and conferences held during last three decades brought out with great clarity the main objectives of Higher Education and Research in Prākrits and Jainology. The ways, along which these studies ought to develop in our academic institutions, have been suggested. The importance and cultural value of the studies in their varied aspects have been clearly magnified. On the basis of the recommendations of the seminars some aspects of Perspective Planning could be suggested.

The Prākrit Languages form an essential link between the old Indo-Aryan and the ancient civilisation embodied in it and the New Indo-Aryan and the modern culture of the country. They form the very backbone of linguistic studies in our country, and contribute equally to the better understanding of both Sanskrit on the one side and Modern Aryan and Dravidian languages on the other. The necessity of cultivating more intensely the study of Apabhraṃśa for a praper historical appreciation of Modern Indian languages, and to grasp their essential unity, is beyond dispute.

Prākrits have also played their part in linking India with its neighbouring countries in its cultural expansion, and their studies are expected to renew these ties with the nations of South-East Asia and strengthen them.

Prākrit literature, unparalled in its vast extent and astonishingly of varied interest, forms an integral part of the Ancient and the Medieval heritage of the country and stands on equal footing with Sanskrit and Pali studies. Prākrit studies should be taken to include all the Middle Indo-Aryan Languages including Niya and the so called Gāndhāri Prākrits to give them a broader and deeper perspective.

It has been clearly located and identified by a band of scholars that the origins and growth of almost all the modern Indian languages are intimately connected with the Prākrits, and that the knowledge of Prākrits is quite essential for the proper understanding and efficient development of the different regional languages of both the Indo-Aryan and the Dravidian families, which are bound to play a far more central role in the academic life of the country in the days to come. In this connection scholars have pointedly drawn the attention to the importance and value of the Apabhraṃśa languages and literature which constitute their immediate precursors. Along with the other well-known aspects of the Prākrit languages as a whole, the Apabhraṃśa stands in urgent need of an intensive and careful study.

In view of the importance and value of Higher Education and Research in Prākrits and Jainology the objective should be formulated in the light of recent trends of research and National Policy.

Prākrits and Jainology cover a much wider sphere than they are sometimes understood and misrepresented by some scholars for their own reasons. The latest Policy Frame formulated by University Grants Commission most appropriately apply to these studies, because the basic object of Prākrits and Jainology is to promote human values and cultural heritage of the people.

Higher Education

Higher Education in Prākrits and Jainology has yet to be planed in the light of the linguistic and cultural values of these studies. They must be brought in closer relation to include all the middle Indo-Aryan dialects on one hand and regional languages on the other. Jainological studies in particular should be brought in closer relation to the other subjects of Humanities and Social Sciences like Philosophy, Religious Studies, Ancient Indian History, Culture and Archaeology, History of

Art, Sociology, Political Science, Education, Economics, Psychology and others.

1. *Post-Graduate Studies*

In view of the above disciplines the course of studies at Post-Graduate level should be planned very carefully to suit the subjects. Thus the course of studies should be of two types. To specify,

(a) A full course to cover all the semesters or Previous and Final Examinations, whatsoever may be. This course of studies should be of specialised nature leading to research in the field. Without such specialised study, the culturally useful aspects of the subject cannot be brought out. To bring in the uniformity the existing courses of Ardhamāgadhi, Prākrit and Jainology, as they are put in different universities like Bombay, Bihar, Magadh, Udaipur, Mysore, Karnataka, Varanasi etc. desearve to be throughly revised.

(b) Another course of studies should be a bit of general nature, and of Two and Four papers to be offered in final Examination. Two papers course should be introduced in the subjects where provision for writing a dissertation in lieu of papers exists. Four papers course may be introduced in the Departments of Classical languages, Modern Indian languages, Department of Linguistics and in the Department of Philosophy, Religious Studies, Ancient Indian History, Culture and Archaeology. Such course of studies should be introduced with the object to promote Inter-disciplinary studies which would remove barriers between Departments, and promote greater academic co-operation between them. These courses should essentially be conducted under the supervision and guidence of the Department of Prākrits and Jainology so as to achieve the desired results.

2. *Under-Graduate Studies*

The course of studies at Under-Graduate level needs to be introduced with a view to provide potential background for higher studies in the discipline. As such 'Prakrit and Jainology' should be introduced as an independent optional subject at Uuder-Graduate level, and the course of studies should be drawn accordingly. Keeping the importance of the subject, it should not be mixed up with any other subject of study, but at

the same time the course contents should be enriched, and should not be confined to a very limited scope.

Research and Research Projects

1. It is necessary that preference is given to new subjects for Doctoral dissertation and research programmes rather than repeating researches on topics which have been already worked out. Such an approach alone will contribute to an all round enrichment and step up the progress of Indian studies.

2. To prepare critical editions of ancient texts should be given top priorities for the above mentioned research works. In this connection it should be borne in mind that editing some works can be undertaken on individual initiative but some of the works can be undertaken by a team of earnest scholars and experts of the subjects, critical edition needs to be critical in real sense evaluating entire value of the text, and not merely a reproduction of manuscript.

3. The topics for Doctoral and Post-Doctoral dissertation should be specific and well-defined. The discipline and the area of the topic should be decided at its initial stage. An illustrative list of research priorities has been published by University Grants Commission and Indian Council of Social Science Research and other Councils.

4. As studies and researches in Prākrits and Jainology are at the stage of reorganisation, more specific and detailed illustrative list is an immediate need which can be met out only after a series of workshops for reorientation and perspective planning of Higher Education and Research in Prākrits and Jainology.

5. To prepare source material from ancient texts for Inter-disciplinary research is an urgent requirement essentially in the fitness of the recent trends in research in Humanities and Social Sciences as well as National Policy. For such a work of crucial importance for evaluating the real value and significant features of the cultural Heritage of India, an exhaustive list of topics has to be prepared. Then the works can be undertaken by an individual for Doctoral dissertation and by a team of research experts for research programme.

6. Topics for Doctoral dissertation in Jainology should be selected from the concepts, theories and ideals formulated by the great Prophats

and Ācāryas of Jaina Śramaṇa Tradition for human welfare and total development of personality, after constant experiments during last three thousand years or even more on life and matter in Socio-Cultural development. There is plentiful such material which is the heart of Jainology. Merely narrating the tales and putting the things from one vessel to another should be discouraged. Such research works merely lower the value and importance of Jainological researches.

Major Research Projects

Basides the research projects mentioned above some major research projects have been suggested in the Seminars as 'essential research projects', They can be enumerated as follows,

1. An intersive survey of Prākrit, Sanskrit and Apabhraṃśa manuscripts pertaining to the studies of Prākrits and Jainology, and their scientific cataloguing.
2. Historical and descriptive grammars of the different Prākrit dialects including the inscriptional Prākrits on an uniform plan.
3. A comprehensive History of Prākrit and Jainological literature.
4. A Middle Indo-Aryan Dictionary on historical principles based on all the available Prākrit and Apabhraṃśa works.
5. An authoritative Encyclopaedia of Prākrits and Jainology.
6. A comprehensive Bibliography of Prākrits and Jainological studies.
7. Monographs on important cultural aspects prominently represented in Prākrit and Jainological Literature, and can be potentially helpful for Inter-disciplinary studies.

Promotion of Prākrit and Jainological Studies

To achieve the above-mentioned aims and to promote the Higher Education and Research in Prākrits and Jainology at the university stage, the Seminars have made some suggestions and indicated the procedure which the universities and the University Grants Commission should adopt as the practical steps.

1. It is important to set up full-fledged Departments of Prākrits and Jainology in a couple of universities which may be found

suitable for the purpose, and setting up of at least an Institute or Centre of Advanced studies in Prākrits and Jainology to undertake and co-ordinate research work in the field.

2. Existing Department of Jainology and Prākrits may be strengthened and equipped with sufficient staff and other facilities required to fulfil the desired Inter-disciplinary teaching and research.

3. In view of the importance of the subject, and its initial stage, adequate specific Scholarships at Post-Graduate level and Fellowships for M. Phil and Doctoral research, and research Grants for minor and major research projects should be provided.

4. Seminars, symposia, workshops, summer schools, short term Institutes, Conferences should be regularly organised at regional and all India level at suitable universities.

Undesirable developments to be restricted

The seminars have painfully recorded some undesirable developments which would ultimatly result in National loss of Cultural Haritage, and therefore, need to be stopped at this very stage. It is well-known and an undisputable fact that classical languages of India have close tie and require to be studied in relation to each other. It is why earlier Professors of Sanskrit could contribute to a great extent to any classical language Sanskrit, Pāli, Prākrits or Apabhraṃśa.

It is a calculated fact that half, and sometimes more than half of a classical Drama now popularly known as Sanskrit Drama, is written in Prākrits. Drama like *Mṛcchakaṭikam* is written mostly in Prākrits.

All the works of Sanskrit Poetics have quoted a good deal of Prākrit and Apabhraṃśa verses.

It should be asserted that these works, whereever prescribed as text books, are taught in original.

The practice of teaching Prākrit portions not in original but through Sanskrit *Chāyā* has developed to such an extent that gradually the Prākrit portions of the dramas and works on poetics have become corrupt.

The *Saṭṭakas*, which are written hundred per cent in Prākrit, are being taught through *Chāyā*. Editions of *Saṭṭaka* like *Kappūramanjarī* are appearing with *Chāyā*, and the Sanskrit exposition and Hindi translation adopt the *Chāyā* only.

Even the Pāli and Prākrit inscriptions and Apabhraṃśa portions in the selections are presented with *Chāyā*.

These books are taught in the universities as text books at Post-Graduate level. As a result in the new generation the young scholar of Sanskrit is kept deprived of the rich cultural heritage of the classical languages. Their knowledge becomes very limited in a closed compartment. Ultimately a great deal of hatred to sister classical languages is generating. An earnest student, not even a scholar, can think why the great poet like Bhāsa, Kālidāsa, Śrīharṣa, Bhavabūti, Rājaśekhara and others did not compose their dramas entirely in Sanskrit? Why they composed so much portions in Prākrit? What for the great Ācārya Bharata Muni prescribes different *Deśabhāṣās* or Prākrits to be used in dramas? Why all the great writers of Poetics like Mammaṭa, Ānandavardhana, Daṇḍī, Kuntaka, Jagannātha, Vishvanātha and others have quoted so many Prākrit verses in their works? Could they not find apropriate examples in Sanskrit literature? And they may find a reply to themselves that none of the great writers was lacking in any classical language. They wanted to depict composite culture of our country, otherwise how the proverb could come out 'Literature is the mirror of the Society'. It is lack of the knowledge on the part of the teacher that he deprives his students from a good deal of knowledge of our cultural heritage. The student may specialise in any branch of classical languages, but if they are put in a watertight compartment from very beginning, they can never be in a position to understand the literary, linguistic and cultural value of the classical languages and the close tie which they have to one another.

Attention of every earnest scholar working in the field of any branch of classical languages should the drawn to this matter of great concern.

In *Ānandasundrī* Saṭṭaka the poet says,

पाखंडो ण महं तिदिक्खइ विडो सीलाइ विज्जं जडो।
जं जं जस्स सुदुल्लहं खिदिसु सो तं तं मुहा णिंदई॥

A heretic hates *pūjā*, a libertine hates character, and a fool hates knowledge. Man vainly goes on condemning things that are beyond him.

Conclusion

In the light of the above details, we may conclude that Higher Education and Research in Prākrits and Jainology should be planned with a secular outlook, and within the frame of National Policy of Higher Education and Research. The objectives should be well-defined, and should be consistant to the functions enumerated in the Policy Frame as follows,

—inculculate and promote basic human values and the capacity to choose between alternate value systems;

—preserve and foster our great cultural traditions and blend them with essential elements from other cultures and peoples;

—promote a rational outlook and scientific temper;

—enrich the Indian languages and promote their use as important means of communication, national development and unity;

—promote the development of the total personality of the students and inculcate in them a commitment to society;

—act as an objective critic of society and assist in the formulation of national objectives to the pursuit of excellence;

—promote commitment to the pursuit of excellence;

—contribute to the improvement of the entire educational system so as to subserve the community.

RESEARCHES IN PROGRESS

details of Doctoral Dissertations completed and in progress at Central and State universities.

Banaras Hindu University, Varanasi

1. The Story of Ram in the Hindu, the Buddhist and the Jaina Literature in Sanskrit, Prākrit and Apabhraṃśa
   V. M. Kulkarni, Ph. D., 1952, unpublished.
2. Jaina Epistimology
   I. C. Shastri, Ph. D. 1952, unpublished
3. Political History of Northern India from Jaina sources
   G. C. Chaudhari, Ph. D., 1954, published.
4. Psychological analysis of Jaina Karma philosophy
   M. L. Mehta, Ph. D., 1955, pubiished.
5. सिद्धिविनिश्चयटीका का समालोचनात्मक संपादन
   (A critical edition of Siddhiviniścaya Ṭīkā)
   Mahendra Kumar Jain, Ph. D. 1959, published.
6. A critical and comparative study of the Jaina conception of Mokṣa
   B. B. Raynade Ph. D., 1959, unpublished.
7. The Licchavis
   Hitnarayan Jha, Ph. D., 1964, unpublished.
8. सोमदेवकृत यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन
   (A cultural study of Yaśastilaka of Somadeva)
   Gokul Chandra Jain, Ph. D., 1965, published.
9. आदिपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
   (A cultural study of Ādipurāṇa)
   S. N. Jha, Ph. D., 1965, unpublished.
10. जैन और बौद्ध आगमों में नारी
    (Woman in Jaina and Buddhist Āgamas)
    K. C. Jain, Ph. D, 1967, published.

11. उत्तराध्ययन सूत्र का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Uttarādhyayana-sūtra)
S. L. Jain, Ph. D., 1968, published.

12. जैन धर्म में अहिंसा
(Ahiṃsā in Jainism)
B. N. Sinha, Ph. D. 1968, published.

13. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार
(Treatment of Inference in Jaina Logic)
D. L. Kothia, Ph. D., 1968, published.

14. A cultural study of the Niśitha Cūrni
Madhu Sen, Ph. D., 1969, published.

15. अपभ्रंश कथा-काव्यों के शिल्प का हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प पर प्रभाव
P. C. Jain, Ph. D. 1969, published.

16. आगम साहित्य में जैनाचार
(Jaina Ethics in Āgama Literature)
A. S. D. Sharma, Ph. D. 1969, unpublished.

17. धनपालकृत तिलकमंजरी का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of the Tilaka-Mañjarī of Dhanapala)
Jagannath Pathak, Ph. D., 1969, unpublished.

18. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Jaina Yoga)
Arhaddas Dige, Ph. D. 1970, published.

19. समराइच्चकहा का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Samaraiccakahā)
Zinku Yadav, Ph. D. 1973, published.

20. विशेषावश्यकभाष्य का दार्शनिक अध्ययन
(A philosophical study of Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya)
H. P. Sanghave Ph. D., 1973, unpuplished.

21. अभिधर्मकोश और तत्त्वार्थसूत्र का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Abhidharma-kośa and Tattvārtha-sūtra)
Ram Prasad Tripathi, Ph. D., 1974, unpublished.

22. Jaina Temples of Western India
Harihar Singh, Ph. D., 1976, published.

23. उत्तर भारत में जैन मूर्तिकला
(Jaina Iconography in Northern India)
Marutinandan Prasad Tiwari, Ph. D. 1977, published.

24. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन
(A critical study of Mūlācāra)
Phool Chand Jain, Ph. D., 1977, unpublished.

25. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित में महावीर चरित
Kum. Manjula Mehta, Ph. D., 1977, unpublished.

26. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान
Kamlesh Kumar Jain, Ph. D. 1977, unpublished.

27. जैन दर्शन में आत्मविचार : तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन
(Soul in Jaina Philosophy : A comparative and critical study)
Lal Chand Jain, Ph. D., 1979, unpublished.

28. Ancient Geography of India from Jaina sources 700 A. D. to 1200 A.D. with special reference to Jaina Purāṇas
Sankatha Prasad, Ph. D., 1979, unpublished.

29. मेघविजय गणी के सप्तसंधान महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Saptsandhana Māhākāvya of Meghavijaya Gani)
Shreyansh Kumar Jain, Ph. D., 1979.

30. पार्श्वनाथ चरित का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Pārśvanātha-carita)
Jay Kumar Jain, Ph. D. 1979, unpublished.

31. आचार्य समन्तभद्र के दार्शनिक विचारों का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study the Philosophical Thoughts of Ācārya Samantabhadra)
Narendra Kumar Jain, Ph. D. 1980, unpublished.

32. जैन श्रावकाचार का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Jaina Ethics of householder)
Sanat Kumar Jain, Ph. D. 1980, unpublished.

33. जैन-बौद्ध योग का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Jaina-Bauddha Yoga)
Mangala Duggad, Ph. D. 1982, published.

34. हिन्दी साहित्य को जैन कवियों का योगदान
Mangal Prakash Mehata, Ph. D. 1982, unpublished.

Registered

1. सिद्धसेन दिवाकर का जैन दर्शन में योगदान
Smt. Vidyamaya Ghosh

2. जैन प्रमाणमीमांसा का समालोचनात्मक अध्ययन
Devi Datta Mishra

3. तत्त्वार्थसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन
Kum. Pramila Pandeya

4. आचार्य हरिभद्र सूरि का भारतीय दर्शन में योगदान
Kum. Sushila Jain

5. प्राचीन भारत में शिक्षा : जैन स्रोतों के आधार पर
Dava mani Yagyika

6. तीर्थङ्कर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन
Ramesh Chandra Gupta

7. जैन दर्शन में जीव की अवधारणा : आधुनिक जीवविज्ञान के सन्दर्भ में
Usharani Singh

8. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण
Archana Pandeya

9. रजनीश के चिन्तन पर जैन दर्शन का प्रभाव
Kanhaiya Singh

10. १२ वीं शताब्दी तक उपलब्ध जैन साहित्य में विवेचित धार्मिक सम्प्रदाय
Ramhansa Chaturvedi

11. जैन साहित्य में कृष्णकथा
Rita Singh

12. जैन साहित्य में प्रतिपादित नारी जीवन
Gita Devi

13. जैन साहित्य में आर्थिक जीवन
Kamalprabha Jain

14. जैन कर्म सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास
Ravindra Nath Mishra

15. अरविन्द और जैन दर्शन की समीक्षात्मक और समन्वयात्मक विधि
Mamata Gupta

16. जैन आगम साहित्य में आयुर्वेद
Rita Guru

17. प्रबन्ध चिन्तामणि का साहित्यिक अध्ययन
Rina Singh

University of Delhi

1. अपभ्रंश साहित्य
(The Apabhraṃśa Literature)
Harivansh Kochar, Ph. D. 1952, published.

2. A study of Dvyāśraya Kāvya in Sanskrit Literature
Satya Pal Narang, Ph. D., 1968, unpublished.

3. A critical study of Candra-Vyākaraṇa-Vriti on the basis of a new manuscript
Harshanath Mishra, Ph. D., 1972, unpublished.

4. तिरुवल्लूर और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन
Ravindra Kumar Seth, Ph. D., 1972, unpublished.

5. शिलप्पदीकारम और पदमावत का तुलनात्मक अध्ययन
Vinita Bhalla, Ph. D., 1974, unpublished.

6. Jaina Ethics
D. N. Bhargava, Ph. D., published.

7. A comparative study of the major commentaries of the Tattvārtha-sūtra by Umasvati, Pujyapada, Haribhadra, Siddhasena, Bhatta Akalanka and Vidyananda
Smt. Amara Jain, Ph. D. 1974, unpublished.

8. A study of three Tarkabhāṣas
Promila Sharma

9. The social conditions as depicted in Jaina Sanskrit Mahākāvyas
Mohan Chand, Ph. D. 1977, unpublished.

10. Jaina Mythology as depicted in the Digambera Literature
Manju Jain, Ph. D. 1976, unpublished.

11. 'Rasa' in Jaina Sanskrit Mahākāvyas (from 8th to 15th century)
Puspa Davi Gupta, Ph. D., 1979, unpublished.

12. A study of Jaina Ethical ideas with special reference to Ācārāṅgasūtra
Veena Jain, Ph. D., 1977, unpublished.

13. आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रन्थों में दार्शनिक दृष्टि
(Philosophical Thoughts in the main work of Ācarya Kundakunda)
Sushama Ganga, Ph. D., 1978, published.

14. हेमचन्द्र और पाणिनि का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Hemcandra and Pāṇini)
Mahendrapal Shastri, Ph. D. 1982, unpublished.

15. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित : एक अध्ययन
(Triṣaṣṭhiśalākāpuruṣa carita : A study)
Kum. Manju Sharma, Ph. D., 1982, unpublished.

16. जैन संस्कृत साहित्य में रामकथा
(The story of Rama in Jaina Sanskrit Literature)
Smt. Veena Kumari, Ph. D. 1983, unpublished.

Registered

1. Contribution of Jainas to Sanskrit Grammar
Prabha Kumari

2. A study of Hemacandra with special reference to his contribution to Lexicography
Mahendra Kumar Gupta

3. वादिराज की कृतियों का साहित्यिक अध्ययन
(A literary study of the works of Vādirāja)
Kum. Sunita Isarani

4. हेमचन्द्रकृत अभिधान चिन्तामणि का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Abhidhāna-cintāmaṇi of Hemacandra)
Kum. Susama Jain

5. प्रबन्ध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन—(प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश, प्रभावकचरित के विशेष सन्दर्भ में)
Amla Thukral

Aligarh University, Aligarh

1. जैन साहित्य का प्राचीन हिन्दी साहित्य पर प्रभाव
(Influence of Jaina Literature on old Hindi Literature)
D. K. Jain, Ph. D. 1961, unpublished.

UTTAR PRADESH

Agra University, Agra

1. Jain Polity
S. S. Jain, Ph. D., 1955, unpublished.

2. Study in the Jaina sources of the History of Ancient India 100 B. C. to 300 A. D.)
J. P. Jain, Ph. D., 1956, published.

3. अपभ्रंश भाषा और साहित्य
(Apabhraṃśa Language and Literature)
D. K. Jain, Ph.D., 1957, published.

4. अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति
(The Apabhraṃśa Kāvya Tradition and Vidyapati)
Ambadatta Pant, Ph. D., 1958, unpublished.

5. महाकवि बनारसीदास : जीवनी और कृतित्व
(Mahākavi Banārasidas : Life and works)
R. K. Jain, Ph. D., 1959, published.

6. आचार्य पुष्पदन्त : एक अध्ययन
Ācāry Puṣpadanta : A study)
Raj Kumar Jain, Ph. D., 1959, unpublished.

7. हिन्दी के भक्ति काव्य में जैन साहित्यकारों का योगदान
(वि. सं. 1400 से 1800 तक)
(Contribution of Jaina writers to Hindi Bhakti Kāvya V. S. 1400 to 1800)
Premsagar Jain, Ph. D., 1959, published.

8. The structure and function of soul in Jainism
S. C. Jain, Ph. D., 1960, published.

9. जैन कवि स्वयम्भू कृत पउमचरिउ तथा तुलसी कृत रामायण
(The Paumcariu of Jaina poet Svayambhū and The Rāmāyaṇa of Tulsi)
Om Prakash Dixit, Ph. D., 1962, published.

10. हिन्दी बारहमासा साहित्य
(Hindi Bārahamāsā Literature)
M. S. Prachandia, Ph. D., 1962, unpublished.

11. अपभ्रंश और हिन्दी के रहस्यवादी साहित्य का अध्ययन (18 वीं शती तक)
(A study of Jaina mystic literature of Apabhraṃśa and Hindi upto 18th century A. D.)
Basudeo Singh, Ph. D., 1962, unpublished.

12. महाकवि पुष्पदन्त : दशमी शताब्दी के एक अपभ्रंश कवि
(Mahākavi Puṣpadanta : An Apabhraṃśa poet of 10th century)
Raj Narayana Pandeya, Ph. D., 1963, published.

13. Mataphysical synthesis, its nature and value as suggested by a study of the Philosophy of Kundakunda
P. K. Jain, Ph. D., 1963, unpublished.

14. सोमदेव एक राजनीतिक विचारक
(Somadeva : A Political Thinker)
P. M. Jain, Ph. D., 1964, unpublished.

15. भविसयत्तकहा और अपभ्रंश कथाकाव्य
(The Bhavisyatta-kahā and Apabhraṃśa Kathākāvya)
D. K. Shastri, Ph. D., 1964, published.

16. महाकवि स्वयम्भू
(Mahākavi Svayambhū)
Sankatha Prasad Upadhyaya, Ph. D., 1965., unpublished.

17. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार
(Ācārya Kundakunda and his Samayasāra)
Lal Bahadur Shastri, Ph. D. 1965, published.

18. रविषेणकृत पद्मपुराण तथा तुलसीकृत रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Padma-purāṇa of Raviṣena and Rāmacarita-mānasa of Tulsidas)
Ramakant Sukla, Ph. D., 1967, published.

19. Kumārapāla Cālukya
Satya Prakash, Ph. D., 1967, unpublished.

20. गाथा सप्तशती और बिहारी सतसई : सतसई परम्परा के परिवेश में एक तुलनात्मक अध्ययन
(Gāthā-Saptaśati and Bihari Satasai : A comparative study in the background of Satasai tradition)
Shashi Prabha Jain Ph. D. 1968, unpublished.

21. A comparative study of the Yogaśāstra works in Jainism and the Patañjali Yoga Darśana
Sarla, Ph. D., 1969, unpublished.

22. धनञ्जयकृत द्विसन्धान महाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Dvisandhana Mahākāvya of Dhananjaya)
Shivadatta Gupta, Ph D., 1970, unpublished.

23. महाकवि भूधरदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
(Mahakavi Bhoodhar Das : Life and workes)
Brajendra Pal Singh Chauhan, Ph. D., 1972, unpublished.

24. अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी साहित्य और उसका कबीर पर प्रभाव
(Jaina mystic literature of Apabhraṃśa and its influence on Kabira)
Surajmukhi Devi Jain, Ph. D., 1972, unpublished.

25. गणित और ज्योतिष के विकास में जैन आचार्यों का योगदान
(Contribution of Jaina Ācaryas in the development of Mathematics and Astrology)
Mukutbehari Lal Agrawala, Ph. D., 197?, unpublished.

26. Women in Jaina literature and art (500 B. C. to 1200 A. D.)
Kamlesh Kumari Saxena, Ph. D., 1973, unpublished.

27. Political Philosophy of Ācarya Hemacandra
Chaman Lal Jain, Ph. D., 1973, unpublished.

28. अष्टछाप के कवियों की विम्ब योजना
(Chandravir Jain, Ph. D., 1974, unpublished.

29. सांख्य तथा जैन तत्वज्ञान एवं आचार का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of metaphysics and ethics of Sāṁkhya and Jaina Philosophy)
Ram Kishor Sharma, Ph. D., 1974, unpublished.

30. हेमचन्द्र के द्वयाश्रय महाकाव्य (कुमारपाल चरित) का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक अध्ययन
(A cultural and literary study of Dvyāsraya Mahākāvya (Kumārapāla carita) of Hemcandra
Harsha Kumari Jain, Ph. D., 1974, unpublished.

31. हिन्दी जैन काव्य में व्यवहृत शब्दावली और उसकी अर्थव्यञ्जना
Arun Lata Jain, Ph. D., 1978, unpublished.

32, जैनदर्शन में कर्मवाद : एक तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन
(Concept of Karma in Jaina Philosophy ; A critical and comparative study)
Mahipal Jain, Ph. D., 1978, unpublished.

33. जैन साहित्य में निर्दिष्ट राजनैतिक सिद्धान्त (7 वीं से 10 वीं शती तक)
(The Political ideas as described in Jaina Literature from 7th cent. A. D. to 10th cent. A. D.)
Vijayalakshmi Jain, Ph. D., 1978, unpublished.

Registered

1. हिन्दी गद्य साहित्य को जैन कवियों की देन
(Contribution of Jaina poets to Hindi prose Literature)
Chandrapal Sharma

2. जैन गणित
(Jaina Mathematics)
Harish Chandra Garga

3. पं० आशाधर : व्यक्तित्व और कृतित्व
(Pt. Asadhara : Life and works)
Kapoor Chandra Jain

4. पद्मपुराण तथा रविषेणाचार्यकृत पद्मचरित का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Padmapurana and Padmacarita of Ravisena)
Shikhar Chandra Jain

5. हिन्दी जैन कथा साहित्य
(Hindi Jaina Kathā Literature)
Phool Chandra Jain

6. संस्कृत स्तोत्र साहित्य में आचार्य समन्तभद्र का योगदान
(Contribution of Ācārya Samantabhadra to Sanskrit Stotra Literature)
Ganeshi Lal Jain

7. हिन्दी का जैन पूजा साहित्य
(Jaina Pujā Literature in Hindi)
Kum. Krishna Varshneya

8. हिन्दी का शतक साहित्य : उसका इतिहास तथा अध्ययन
(Hindi śataka-sāhitya; its History & study)
Jagavir Kishore Jain

9. हिन्दी में राम विषयक जैन साहित्य
(Jaina Literature in Hindi relating to the story of Rama)
Kalyan Chandra Jain

10. हिन्दी जैन साहित्य में कृष्ण वार्ता
(The story of Krishna in Hindi Jain Literature)
M. P. Kotia

11. अपभ्रंश जैन प्रेमाख्यानक काव्य १००० से १२०० ईस्वी तक
(Apabhraṃśa Jaina premākhyānaka Kāvya, 10C0 to 1200 A. D.)
Parasmal Jain

12. संस्कृत गद्य साहित्य में गद्यचिन्तामणि का स्थान और समीक्षात्मक अध्ययन
(Place of Gadyacintāmaṇi in Sanskrit prose Literature and its critical study)
Bhagavat Sharan Sharma

13. हिन्दी जैन पद साहित्य १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से आधुनिक काल पर्यन्त
(Hindi Jaina Pada Literature from 10th century to present time)
Gokul Prasad Jain

14. आहार क्षेत्र की मूर्तियों और शिलालेखों का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of the icones and inscriptions of Āhāra)
Shanti Jaina

15. जैन चम्पू काव्य : एक साहित्यिक तथा आलोचनात्मक अध्ययन
(Jaina Champu Literature : A Literary and critical study)
Jayanti Prasad Jain

16. रीतिकालीन जैन कवियों के हिन्दी प्रबन्ध काव्य
(Hindi Prabandha Kāvyas of Jaina poets of Rītikāla)
Lal Chandra Jnin

17. चन्द्रप्रभचरित : एक अध्ययन
(Candraprabhacarita : A study)
Jaydevi Jain

18. जैन कवियों की दार्शनिक शब्दावली : अर्थ और विकास
(Philosophical terminology of Jaina poets : Meaning and development)
Kum. Arunalata Jain

University of Allahabad

1. Study of Prakrit Mahākāvyas in relation to cognate Sanskrit literature
Ramji Upadhyaya, D. Phil, 1945, unpublished.
2. प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी पर उसका प्रभाव
(Prakrit and Apabhraṃśa Literature and its influence on Hindi)
Ram Singh Tomar, D. Phil, 1951, published.
3. आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य
Hari Shankar Sharma, D. Phil, 1959, unpublished.
4. The conception of Ahiṃsā in Indian thought according to Sanskrit sources : Vedic, Jaina and Buddhist.
Koshalya Vali, D. Phil., 1960, unpublished.
5. The story of King Udayana as gleaned from Sanskrit, Pali and Prakrit sources.
Niti Adaval, D. Phil, 1962, unpublished.
6. धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य का तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन
(A comparative and critical study of Dharmaśarmābhyudaya)
Svapna Banerjee, D. Phil., 1968, unpublished.
7. अपभ्रंश कथा साहित्य का हिन्दी कथा साहित्य पर प्रभाव (17 वीं शती तक)
(The influence of narrative literature of Apabhraṃśa on Hindi narrative till 17th century A. D.)
Siddha Nath Pandey, D. Phil, 1969, unpublished.
8. हेमचन्द्र की देशीनाममाला का आलोचनात्मक एवं ध्वन्यात्मक अध्ययन
(A critical and Phonetic study of Deśīnāmamālā of Hemcandra)
Sheomurti Sharma, D. Phil, 1973, unpublished.
9. जैन न्याय तथा आधुनिक बहुपक्षीय तर्कशास्त्र
(A comparative study of Jaina Logic and modern many-valued logic)
Asha Jain, D. Phil. 1979, unpublished.
10. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Jaina Purāṇas)
Devi Prasad Mishra, D. Phil, 1980, unpublished.
11. मेरुतुङ्गाचार्य कृत प्रबन्धचिन्तामणि का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Prabandha-cintāmaṇi of Merutuṅgācārya)
Yadunath Prasad Dube, D. Phil, 1983, unpublished.

Registered

1. राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोश का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Prabandha-kośa of Rājaśekhara sūri)
Ashok Kumar Singh

2. जैन आदिपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Jaina Ādipurāṇa)
Girish Chandra Pandeya

3. पद्मपुराण का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन
(Socio-cultural study of the Padmapurāṇa)
Parash Nath Misra

4. जैन कथाओं का सामाजिक अध्ययन
(Social study of the Jaina Kathās)
Veena Khandelkar

University of Gorakhpur

1. A study of Dvyāśraya Mahākāvya of Hemacandra
Krishnadhar Sharma, Ph. D. 1979, unpublished.

Gurukul Kangari University

1. पउमचरिउ और रामचरित मानस के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of the women characters in Paum-cariu and Rāmcarita Mānasa)
Yogendra Nath Sharma. Ph. D., 1973 published.

Kashi Vidyapith, Varanasi

1. बौद्ध तथा जैन साहित्य में वर्णित राजतन्त्र का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of monarchism as depicted in Buddhist and Jaina Literature)
F. Singh, Ph. D., 1974, unpublished.

Kanpur University

Registered

1. जैन श्रावकाचार परम्परा में स्वामी समन्तभद्राचार्य का योगदान
(Contribution of Svāmī Samantabhadra-ācārya to the tradition of Jaina Ethics of householders)
Kum. Raka Jain

Kumayun University, Garwal

1. श्री ज्ञानसागर मुनि का जीवन एवं उनके संस्कृत के कार्यों का साहित्यिक मूल्यांकन
(The life of Muni Sri Jñānasāgar and the literary appraisal of his Sanskrit works)
Kiran Tandon, Ph. D. 1978, unpublished.

2. नयचन्द्रसूरी के हम्मीर महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Hammīra Mahākāvya of Nayacandra Sūri)
Ramesh Chandra, Ph. D., 1981, unpublished.

University of Lucknow

1. India as described in early texts of Buddhism and Jainism
B. C. Law, D. Litt, 1941.
2. Nature of Polity in Jaina Literature
S. S. Jain, Ph. D., 1954, unpublished.
3. अपभ्रंश साहित्य में शृंगार
(Śṛṅgāra in Apabhraṃśa Sāhitya)
Indrapal Singh, D. Litt, 1967, unpublished.
4. पुष्पदंत की भाषा
(The language of Puṣpadant)
Kailash Nath Tandon, Ph. D., 1969, unpublished.
5. Post-Abhinavagupt dramatic technique with special reference to the Nātya Darpaṇa of Rāma Candra and Guna Candra
Manju Lata Khare, Ph. D., 1977, unpublished.
6. A critical and Scholastic study of Vararuci's Prakrit Prakasa
N. L. Rastogi, Ph. D., 1978, unpublished.

7. आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्य
Kum. Indu Rai Jain, Ph. D. 1982, unpublished.

Registered

1. राज्य संग्रहालय लखनऊ में बौद्ध तथा जैन मूर्तियों का प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन
संघमित्रा शंकर

Meerut University, Meerut

1. हिन्दी रामकाव्यों के प्रमुख पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of main characters of Hindi Rāma Kāvyas)
Madan Gulati, Ph. D., 1973, unpublished.

2. गुणभद्र के उत्तरपुराण और तुलसी के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Uttarapurāṇa of Gunabhadra and Rāmacaritamānasa of Tulsi)
Vijay Garg, Ph. D., 1973, unpublished.

3. जैनदर्शन में नयवाद
(Nayavāda in Jaina Philosophy)
Sukhnandan Jain, Ph. D., 1977, unpublished.

4. यशोधरचरित्र की सचित्र पाण्डुलिपियों का अध्ययन
(A study of the painted manuscripts of Yasodharacarita)
Kamala Jain, Ph. D., 1977, unpublished.

5. A comparative study of the story of Rama as presented in Jaina Sanskrit, Prākrit and Apabhraṃśa literature
Usha Agrawal, Ph. D., 1978, unpublished.

6. प्राकृत पउमचरियं और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Prakrit Paumacariyaṃ and Rāmacaritamānasa)
Sharmbir Singhal, Ph. D., 1981, unpublished.

7. मध्ययुगीन जैन हिन्दी महाकाव्य
Chandraprabh Lavania, Ph. D., 1982, unpublished.

8. जैन साहित्य में आर्थिक विचारधारा
(Economic thoughts in Jain literature)
Suparsva Kumar Jain, Ph. D., 1982, unpublished.

9. पार्श्वाभ्युदय का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Pārśvābhyudaya)
Suparshva Kumar, Ph. D. 1982, unpublished.

10. अपभ्रंश जैन साहित्य एवं मानव मूल्य
(Apabhraṃśa Jain Literature and Human Values)
Sadhvi Sadhana, Ph. D. 1982, unpublished.

11. कालिदास कृत मेघदूत तथा मेरुतुंगाचार्य कृत जैन मेघदूत का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of the Meghadūta of Kalidas and Jain Meghadūta of Merutungācārya).
Uma Jain, Ph. D. 1983, unpublished.

Registered

1. जैनाचार्य जिनसेन कृत हरिवंशपुराण (सस्कृत) एवं सूरदास कृत सूरसागर (हिन्दी) का तुलनात्मक अध्ययन
Vishnukant Shukla

2. स्वयंभू के पउमचरिउ से उपाख्यानों का रामायण एवं रामचरित मानस के साथ तुलनात्मक अध्ययन
Surendra Kumar

3. अपभ्रंश में लिखित जैन तथा अन्य दोहा साहित्य
(Jain and other *dohā* Literature in Apabhraṃśa)
Dhan Prakash Mishra

Sampurnanand Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi

1. जैन-दर्शने आत्मद्रव्यविवेचनम्
(Soul in Jaina Philosophy)
Mukta Prasad Pateria, Vidyāvāridhi, 1970, published.

2. आचार्यविद्यानन्दस्य दार्शनिकमन्तव्यानां समालोचनात्मकमध्ययनम्
(A critical study of the Philosophical Thoughts of Ācārya Vidyānanda)
Shital Chandra Jain, Vidyāvāridhi, 1980, unpublished.

3. आराधनायाः विश्लेषणात्मकमध्ययनम् (भगवत्याराधनायाः विशेषसंदर्भे)
Gulab Chandra Jain, Vidyāvāridhi 1983, unpublished.

Registered

1. गोम्मटसारजीवकाण्डस्य पारिभाषिकशब्दानां विवेचनात्मकमनुशीलनम्
Gyan Chandra Jain

2. वसुनन्दिकृत-उवासयाज्झयणस्य तुलनात्मकं समीक्षात्मकं चानुशीलनम्
Amar Chand Jain

3. कालिदासस्य नाटकेषु प्रयुक्तस्य प्राकृतस्यानुशीलनम्
Vishvanath Bhatt

4. संस्कृतसाहित्यशास्त्रे प्रयुक्तानां प्राकृतपद्यानामनुशीलनम्
Satyendradhar Tripathi

MADHYA PRADESH

Sir Harisingh Gaur University Saugor

1. जैन आगम शास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास
(Personality development according to Jaina Āgamas)
H. D. Jain, Ph. D., 1957, published.

2. आचार्य जिनसेन कृत महापुराण के आधार पर ऋषभ तथा भरत के जीवन चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of the biographies of Ṛṣabha and Bharata based on Mahāpurāṇa of Jinasena)
Narendrakumar Jain, Ph. D., 1966, unpubished.

3. आचारांग सूत्र का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Ācārāṅga Sūtra)
P. D. Jain, Ph. D., 1968, unpublished.

4. देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of the Jaina Art of Devagarh)
Bhag Chandra Jain, Ph. D., 1969, published.

5. महाकवि हरिचन्द : एक अनुशीलन
(Mahākavi Haricand : A study)
Pannalal Jain, 1973, published.

6. दक्षिणी बुंदेलखण्ड की जैन कला का समीक्षात्मक अध्ययन
(A critical study of the Jaina Art of South Bundelakhanda)
P. C. Singhai, Ph. D., 1980, unpublished.

7. जैन हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Jaina Harivaṃśa Purāṇa)
Laxmi Jain, Ph. D., 1978, unpublished.

Rani Durgavati University Jabalpur

1. Doctrine of Matter in Jainism
J. C. Sikdar, D. Litt, 1968, unpublished.

2. वीरकृत जंबूसामिचरिउ के आधार पर जम्बूस्वामी के जीवनचरित का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of the Life of Jambū Svāmi on the basis of Jambūsāmi Cariu of Vira)
Vimal Prakash Jain. Ph. D., 1968, published.

3. जैन और मीमांसा दर्शनों के कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Karma Theory of Jainism and Mīmānsā)
K. L. Paliwal, Ph. D. 1972, unpublished.

4. जैन सृष्टिविद्या एवं पौराणिक सृष्टिविद्या का विकास : वेद के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन
Prakash chandra Jain, Ph. D. 1971, published.

6. रीतिकालीन हिन्दी जैन काव्य
Kiran Jain, Ph. D., 1973, unpublished.

Vikram University Ujjain

1. तिलकमंजरी का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Tilakamañjarī)
Virendra Kumar Jain, Ph. D., 1969, unpublished.

2. जैन स्तोत्र साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Jaina Stotra literature)
K. B. Lokhande, Ph. D., 1969, unpublished.

3. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित भारतीय संस्कृति
(Padmacarita and Indian Culture)
Ramesh Chandra Jain, Ph. D., 1972, unpublished.

4. प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म
(Jainism in ancient and medieval Malava)
Tej Singh Gaur, Ph. D., 1973, unpublished.

5. संस्कृत-प्राकृत जैन-साहित्य में महावीर कथा
(The stroy of Mahavira in Prakrit and Sanskrit Literature)
Shobhanath Pathak, Ph. D. 1975, published.

6. शंकर तथा कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन
(A Comparative Study of Philosophical Thoughts of Śaṅkara and Kundakunda)
Syam Nandan Jha, Ph. D. 1976, unpublished.

7. मालवा में जैन साहित्य का निर्माण तथा जैन साहित्यकारों का योगदान
(Writing of Jaina literature in Malava and the contribution of Jaina authors)
Smt. Sushila Jain, Ph. D., 1977, unpublished.

Registered

1. हस्तिमल्ल के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of the Dramas of Hastimall)
Smt. Pratibha Jain

2. तत्त्वार्थसूत्र का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Tattvārthasūtra)
Vidyabhushan Sharma

3. वादीभसिंह और उनका काव्य
(Vadibha Singh and his poetry)
Sheel Chandra Jain

Holkar University, Indore

1. पं० टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
(Pt. Todarmal : Life and Works)
Hukum Chandra Bharill, Ph. D., 1972, published.

2. लीलाबई कहा के विशेष सन्दर्भ में प्राकृत कथाकाव्यों का अध्ययन
(A study of Prakrit Kathākāvyas with special reference to Lilābai Kahā)
Kusum Lata Jain, Ph. D., 1973, unpublished.

3. हिन्दी के जैन विलास काव्यों का उद्भव और विकास
P. C. Jain, Ph. D., 1972, unpublished.

4. जैन साहित्य में विदुषी साध्वियों एवं महिलाओं का इतिहास
(The History of learned nuns and women in Jaina literature)
Hirabai Bordia, Ph. D., 1976, published.

5. जैनदर्शन में परमाणुवाद
(Atomism in Indian Philosophy with special reference to Jaina Philosaphy)
Sadhvi Lalit Kumari, Ph. D., 1977, unpublished.

6. आदिपुराण में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा
(The Metaphysics of Ādipurāṇa)
Udai Chand Jain, Ph. D., 1978, unpublished.

7. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Haribaṃśapurāṇa)
Vriddhi Chandra Shastri, Ph. D., 1982, unpublished.

Registered

1. जंबूसामिचरिउ : वस्तु और शिल्प
Smt. Sarojini Dapharia

2. करकण्डचरिउ : सन्दर्भ, शिल्प और भाषा
Dhannalal Jain

3. पुष्पदन्त का कृष्ण और राम काव्य
Mahashi Kapoor

4. अपभ्रंशचरित काव्यों में शृंगार भावना
Snehlata Kashliwala

5. जैन सिद्ध और नाथों की मुक्तक काव्यधारा का तुलनात्मक अध्ययन
Svarnalata Srivastava

6. जैन साहित्य में रामकथा
(Jain Sahitya men Rāmakathā)
Aksaya Kumar Jain

Jiwaji University, Gwalior

1. Contribution of Hemacandra to Sanskrit literature : Critical and comparative study of Sanskrit works of Hemacandra.

   Vishnu Bhaskar Musalgaonkar, Ph. D. 1970, unpublished.

2. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शन का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन
   (A critical and comparative study of Jaina ethics with reference to Buddhism and Gita)

   Sagarmal Jain, Ph. D., 1971, published.

3. आचार्य उमास्वाति का भारतीय दर्शन को योगदान
   (Ācārya Umāsvāti's contribution to Indian Philosophy)
   Indrajit Jain, Ph. D., 1974, unpublished.

University of Bhopal

1. जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय
   (Niścaya and Vyavahāra standpoints in Jaina Philosophy).
   Ratan Chandra Jain, Ph. D., 1980, unpublished.

Ravishankar University, Raipur

1. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
   (A cultural study of Harivaṃśa Purāṇa)
   Rukmini Jain, Ph. D. 1973, unpublished.

Registered

1. रूपक काव्य परम्परा तथा अपभ्रंश के रूपक काव्य
   (Tradition of Rūpaka Kāvyas and Apabhraṃśa Rūpaka Kāvyas)
   Smt. Sarojini Jain

2. जोइन्दु तथा कबीर की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन
   (A comparative study of the works of Joindu and Kabira)
   Deo Kumar Jain

BIHAR

Patna University, Patna

1. Early History of Vaishali
Jogendra Mishra, Ph. D. 1958, published.

2. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन
(Studies in Apabhraṃśa Language)
Virendra Srivastava, D. Litt., 1963, published.

3. A linguistic study of Prākrit with special reference to Hindi
Vidhata Mishra, Ph. D. 1964, unpublished.

4. The contribution of the Brahmanical Pauranic Tradition to the Jaina Pauranic Traditian
Shaktidhar Jha, Ph. D. 1970, unpublished.

5. Jainism in early medieval Karnataka
Ram Bhushan Prasad Singh, Ph. D. 1972, unpublished.

6. जैन वाङ्मय में शिक्षा तत्त्व
(Elements of Education in Jaina Literature)
Nishanand Sharma, Ph. D. 1979, unpublished.

7. भारतीय दर्शन में नास्तिकता—चार्वाक, बौद्ध, जैन तथा मीमांसा दर्शन के विशेष संदर्भ में
(Atheism in Indian Philosophy with special reference to Cārvāka, Buddhist, Jaina and Mimāṁsā Philosophy)
Lalita Devi Yadav, Ph. D. 1979, unpublished.

8. Critical and linguistic study of the Prākṛita-Prākaśa
Rampati Singh, Ph. D. 1979, unpublished.

9. १६ वीं तथा १७ वीं शती में उत्तर प्रदेश में जैन
(Jainas in Uttar Pradesh in Sixteenth and Seventeenth centuries)
Umanath Srivastava

Bihar University, Muzaffarpur

1. Studies in Bhagavatī Sūtra
J. C. Sikdar, Ph. D., 1960, published.

2. A critical study of Paumacariyaṃ of Vimal Suri
K. R. Chandra, Ph. D., 1962, published.

3. प्राचीन हिन्दी काव्य में अहिंसा के तत्त्व
(Elements of Ahiṃsā in old Hindi Literature)
Vidyanath Mishra, Ph. D., 1963, unpublished.

4. पउमचरिउ और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Paumacariu and Rāmacaritamānasa)
D. N. Sharma, Ph. D., 1963, published.

5. महाकवि रइधू के साहित्य का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of the works of Mahākavi Raidhu)
Raja Ram Jain, Ph.D., 1965, published.

6. हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि और उनका भाषावैज्ञानिक अध्ययन
(The Apabhraṃśa Sūtras of Hemchandra : their back-ground and philological study)
Param Mitra Shastri. Ph. D., 1965, unpublished.

7. A comparative study of Buddhist Vinaya and Jaina Ācāra
Nand Kishore Prasad, Ph. D., 1965, published.

8. Influence of Jainism on Sarvodaya Philosophy
Jagdish Narayan Mallik, Ph. D., 1966, unpublished.

9. A comparative and critical study of the ethics of Buddhism, Jainism and Bhagavat Gita.
Seva Kumari Sharma, Ph. D., 1967, unpublished.

10. बौद्ध पूर्व बिहार के धार्मिक चिंतन और चिन्तक
(The religious thinking and thinkers of Pre-Buddhistic Bihar)
Jaidev, Ph. D., 1967, unpublished.

11. जिनसेन के हरिवंशपुराण का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Harivaṃśapurāṇa of Jinasena)
Suryadeo Pande, Ph. D., 1967, unpublished.

12. अपभ्रंश के स्फुट साहित्यिक मुक्तक
N. P. Varma, Ph. D., 1966, unpublished.

13. The back-ground of Gandhian non-violence and its impact on India's national struggle
Ram Kripal Sinha, Ph. D., 1967, unpublished.

14. आचार्य भिक्षु और जैन दर्शन को उनकी देन
(Ācārya Bhiksu and his contribution to Jainism)
Chhaganlal Shastri, Ph. D., 1968, unpublished.

15. Jaina Yoga
Rai Ashwini Kumar, Ph. D., 1971, unpublished.

16. निर्युक्ति, चूर्णि और टीका के आधार पर आचारांग का परिशीलनात्मक अध्ययन
(A critical study of Ācārāṅga based on Niryukti, Cūrṇi and Tīkā)
Jagadish Narayan Sharma, Ph. D., 1974, unpublished.

17. An aesthetic analysis of Karpūramañjarī
Ram Prakash Poddar, Ph. D., 1978, published.

18. An analytical study of Nethippakkaraṇa
Atul Nath Sinha, Ph. D., 1966 unpublished.

19. An appraisal of Jainism in modern perspective with special reference to the Philosophy of Lord Mahavira
H. P. Varma, Ph. D., 1978 unpublished.

20. जैनदर्शन का नयवाद : एक मीमांसा
(Nayavāda in Jaina Philosophy : A critical study)
Indradeva Pathak, Ph. D., 1981, unpublished.

21. A study of the concept of Sex in Indian thaught and Jainism with special reference to the Madana-parājayacariu
Laxiswar Prasad Singh, Ph. D., 1982, unpublished.

22. वसुदेवहिंडी का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Vasudeva-hiṇḍi)
Ranjan Suridev, Ph. D., 1982, unpublished.

23. महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण : एक अध्ययन
(Mahākavi Puṣpadanta and his Mahāpurāna : a study)
Sudarshan Mishra, Ph. D., 1982, unpublished.

24. संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भक्तिकाव्य परम्परा में जैन कवियों का हिन्दी पद साहित्य : एक समालोचनात्मक अध्ययन
(Hindi Pada Literature of Jaina poets in the Traditional background of Bhakti in Sanskrit, Prakrit and Apabhraṃśa Literature)
Sunita Jain, Ph. D, 1983, unpublished.

25. कुन्दकुन्द कृत नाटकत्रय : एक अध्ययन
(Nātaka-traya of Kundakunda)
Vishvanath Chaudhari, Ph. D., 1983, unpublished.

Registered

1. सूत्रकृतांग का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Sūtra-kṛtāṅga)
Shrikant Tyagi

2. Philosophy of Ācārya Kundakuunda
Hem Narayan Sharma

Magadh University

1. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान
(Contribution of Jaina poets in the development of Sanskrit poetic Literature)
N. C. Shastri, D. Litt., 1965, published.

2 A study of religion and its different expressions with special reference to Brahmanical, Buddhist and Jaina religious movements
Om Prakash Sharma, Ph. D., 1967, published.

3. मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य (वि० सं० १६०० से १८०० तक)
(Medieval Hindi Jaina Literature)
Gadadhar Singh, Ph. D., 1969, unpublished.

4. प्राकृत शिलालेखों का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Prakrit inscriptions)
Chandradeo Ray, Ph. D., 1970, unpublished.

5. संस्कृत नाटकों में जैन नाटककारों का योगदान
(Contribution of Jaina Dramatists to Sanskrit Dramas)
Ram Nath Pathak, Ph. D., 1970, unpublished.

6. रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण का काव्यात्मक तथा सांस्कृतिक अध्ययन
(A literary and cultural study of Padmapurāṇa of Revisena)
Mahendra Kumar Jain, Ph. D., 1972, unpublished.

7. रूपककार हस्तिमल्ल और उनका नाट्य साहित्य
(Hastimalla; the Dramatist and his dramatic literature)
K. L. Jain, Ph. D., 1972, published.

8. जैनदर्शन के सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र के आचार सिद्धान्त का समीक्षात्मक अध्ययन
(A critical study of ethical Principles of Ācārya Samantabhadra with reference to Jaina Philosaphy)
Brijkishore Pandeya, Ph. D., 1977, unpublished.

9. Economic life in ancient India as depicted in Jaina canonical literature.
D. C. Jain, Ph. D., 1978, published.

10. संस्कृत वरांगचरित का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन
(A literary and cultural study of Sanskrit Varāṅgacarita)
Smt. Kamal Kumari, Ph. D., 1978, unpublished.

11. महाकवि सिंह और उनका पज्जुण्णचरिउ
(Mahākavi Singha and his Pajjuṇṇacariu)
Smt. Vidyavati Jain, Ph. D., 1981, unpublished.

12. सेतुबन्ध का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Setubandha)
Ramji Rai, Ph. D., 1982, unpublished.

13. जीवन्धरचम्पू काव्य का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन
(A literary and cultural study of Jīvandhara-campu Kāvya)
B. L. Jain, Ph. D., 1983, unpublished.

Registered

1. आचार्य समन्तभद्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
(Ācārya Samantabhadra : Life and works)
Nemi Chand Jain

2. जैन और बौद्ध दर्शन में निर्वाण-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of the theory of Nirvāṇa in Jainism and Buddhism)
Ramdatta Singh

3. संस्कृत महाकाव्य परम्परा में असग का स्थान निर्धारण और कृतियों का परिशीलन
(Place of Asaga in Sanskrit Mahākāvyas and a study of his works)
Madhav Ram Shastri

4. हिन्दी सन्तकाव्य पर अपभ्रंश का प्रभाव
(Influence of Apabhraṃśa on Hindi Santakāvya)
Kum. Jaya Jain

5. अपभ्रंश दोहा साहित्य : आलोचनात्मक अध्ययन
(Apabhraṃśa Dohā Literature : A critical study)
Shivapujan Singh

6. महाकवि स्वयम्भू एवं उनके पउमचरिउ का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन
(A literary and cultural study of Mahākavi Svayambhū and his Paumacariu)
Rai Hanuman Prasad

7. अपभ्रंश की कथानकरूढ़ियों का समीक्षात्मक अध्ययन
(A critical study of motifs in Apabhraṃśa)
Smt. Shanti Shahu

8. अभिमानमेरु पुष्पदन्त और उनके साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Abhimāna-meru Puspadanta and his works)
Ram Krishna Tiwari

9. महाराष्ट्री प्राकृत कथा साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन
(A culturel study of the Mahārāstri Prakrit Kathā Literature).
Surendra Kumar

10. महाकवि बनारसीदास व्यक्तित्व एवं कृतित्व
(Mahakavi Banaridasa : life and works)
B. P. Singh

11. ज्ञाताधर्मकथांग एवं उपासकदशांग साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Jñātādharmakathāṅga and Upāsakadasāṅga)
D. P. Srivastava

12. मुगलकालीन कुछ हिन्दी जैन काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन
(A critical study of some Hindi Jaina kāvyas of Mughal period)
Smt. Pramila Srivastava

Bhagalpur University, Bhagalpur

1. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Prakrit Kathā Literature of Haribhadra)
N. C Shastri, Ph. D., 1961, published.

2. Concept of Omniscience
Ramjee Singh, Ph. D., 1966, published.

3. आचार्य भिक्षु (भीखण जी) व्यक्तित्व और कृतित्व
Sumermal Vaid, Ph. D., 1981.

University of Ranchi

हिन्दू और जैन नैतिक आदर्शों का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of moral ideals of Hinduism and Jainism).
Pratibha Jain, Ph. D., 1981, unpublished.

MAHARASTRA

University of Bombay

1. (i) An essay on Kundakunda; His date Pravacanasāra and other works with English translation of Pravacansāra,
   (ii) Sri Yogindudev's Parmātmaprakāśa and Yogasāra,
   (iii) Paṁcasuttam and (iv) Varāṅgacarita
   Adinath Neminath Upadhye, D. Litt. 1939, published.
2. Historical grammar of inscriptional Prakrits
   Madhukar Anant Maheudale Ph. D. 1943, published.
3. Life in ancient India as depicted in Jaina Canons.
   Jagdish Chandra Jain, Ph. D., 1944, published.
4. Historical grammar of Apabhraṃśa
   Ganesh Vasudeo Tagore, Ph. D , 1946, published.
5. Jaina Iconography mainly in Śvetāmbara
   Shantilal Chhaganlal Upadhyaya, Ph. D., 1949.
6. Jaina community : A social survey
   Vilas Adinath Sangave, Ph. D. 1950, published.
7. The story of Ram in Jaina Literature as presented by Śvetāmbara and Digambera poets in the Prakrit,Sanskrit and Apabhraṃśa Languages
   K. V. Abhynakar, Ph. D. 1952 unpublished.
8. Criticism of Buddhism and Jainism in Brahmasūtra
   K. V. Apte, Ph. D., unpublished.
9. The Paum Cariu of Svayambhū Deo (Vidyādhara kāṇḍa)
   H. C. Bhayani, Ph. D. published.
10. History of Jaina Monachism from inscriptions and literature
    S. B. Deo, Ph. D., 1952 published.

11. The story of Rāma in Jain literature as presented by Śvetāmbara and Digambara in the Prakrit, Sanskrit and Apabhraṃśa languages
Vaman Mahadeo Kulkarni, Ph. D. 1952.

12. The influence of Sanskrit directly or through Prakrit on Kannaḍa.
Varadraja Ramacharya Umarji, Ph. D. 1952.

13. Elements of Jaina Iconography
Umakant Premananda Shah, Ph. D., 1953, published.

14. Avidyā and the cognate concepts in Vedic, Buddhist and Jaina Darśanas
Esther Abraham Solomon, Ph. D., 1954.

15. Siddhasena Divakar: A study with special reference to his Snmati-tarka
P. N. Deo Ph. D., 1963, unpublished.

16. A critical survey of the contribution of the Jaina writers to Nyāya-Vaiśeṣika literature with a critical edition of Nyāyakandalī of Sridhara-Ācāraya.
J. S. Jetli, Ph. D. 1953, unpublished.

17. सांख्य और जैन परिणामवाद का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of the pariṇāmavāda of Sāṃkhya and Jainas)
Indukala Jhaveri, Ph. D., 1953, unpublished.

18. A critical study of Mahāpurana of Puspadanta
(i. e. critical study of all the deshya and rare words from Puspadanta's Mahāpurāṇa and his other works)
Smt. Ratna Sriyan, Ph. D., published.

19. पउमचरिउ एवं रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Paum Cariu and Rāmacarita Mānasa)
G. N. Sathe, Ph. D., 1966, unpublished.

20. Criticism of Buddhism and Jainism in Brahmasūtra
Keshav Vaman Apte, Ph. D., 1964.

21. Śrīmad Rājacandra : A study
Saryu Bhogilal Sheth, Ph. D., 1966, unpublished.

22. जैन दोहा काव्य : एक अध्ययन
Jaina Daha Kāvya : A study
Bhagwati Prasad Mishra, Ph. D., 1970, unpublished.

23. Illustrated Jaina manuscripts from Digambara Bhandaras
Saryu B. Doshi, Ph. D., 1971.

24. A critical study of the Paumcariyam of Vimalasuri
Prabhakar Mahadev Upadhye, Ph. D., 1982, unpublished.

25. Theory of Karma in Jaina Āgamas
Suman Pravina Chandra Shah, Ph. D., unpublished.

University of Nagpur

1. भारतीय आर्य भाषा परिवार की मध्यवर्तिनी देश भाषाओं की धाराएँ
(Bhāratīya Āryabhāsā parivāra kī madhyavartinī deśbhāsāon kī dhārāen)
Bhalchandra Rao Telang, Ph. D., 1957, unpublished.

2. भट्टारक सम्प्रदाय
(History of the Bhattarak Tradition)
Vidyadhar Joharapurkar, Ph. D., 1959, published.

3. A Critical study of the Monastic and Ascetic Life in Jainism together with social and political life based upon Nāyādhamma-kahāo
B. V. Moharil, Ph. D., 1972, unpublished.

4. मध्यप्रदेश के प्राचीन संस्कृत-प्राकृत जैन शिलालेखों का सांस्कृतिक और समालोचनात्मक अध्ययन
(A cultural and critical study of the ancient Sanskrit-Prakrit Jaina inscriptions of Madhya Pradesh)
Kastoor Chand Jain, Ph. D., 1973, unpublished.

5. मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यवाद
Pushpalata Jain, Ph. D., 1975, unpublished.

6. Jainism in Andhra as depicted in inscriptions
Jawahar Lal Bhanta, Ph. D., 1979, unpublished.

7. श्रमण साहित्य, दर्शन और संस्कृति का इतिहास
(History of Śramaṇa Literature, Philosophy and Culture)
Bhag chandra Jain, D. Litt. 1982.

Registered

1. प्राकृत-संस्कृत जैन साहित्य में वर्णित वैदिक संस्कृति का स्वरूप
(Vedic culture as described in Prakrit-Sanskrit Jaina Literature)
Keshav Jain

Poona University

1. प्राचीन माराठीतिल जैन साहित्य भंडार
Rayappa Tippanna Akkole, Ph. D., 1964, unpublished.

2. Critical study of Prākrit Language in Sanskrit Dramas.
Gargi Devi Uniyal, Ph. D., 1965, unpublished.

3. A Critical Study of the Prākrit Language in Sanskrit dramas.
Thakurta Garji Guha, 1965.

4. Cultural history from the Vasudevahindi
Aravind Prabhakar Jamkhedkar, Ph. D., 1969, unpublished.

5. जैन परम्परा में रामकथा साहित्य का अध्ययन
(A study of the Rām-Kathā literature in Jaina Tradition)
S. K. Shah, Ph. D., 1971, unpublished.

6. जैन तीर्थंकर नेमिनाथ विषयक हिन्दी काव्य
U. B. Kothari, Ph. D., 1974, unpublished.

7. संस्कृत जैन साहित्य में उल्लिखित जैन नवतत्त्व (मराठी)
The nine catagoris of Jaina Philosophy as depicted in Sanskrit Jaina works)
Sadhvi Darshansheela Jain, Ph. D., 1978, unpublished.

8. मध्यकालोपरान्त हिन्दी जैन साहित्य का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन
(सं. 1901 से 2030 तक)
M. V. Kandarkar

Shivaji University, Kolhapur

1. Puspadant and his works in Apabhraṃśa
D. B. Pathan, Ph. D., 1981, unpublished.

GUJARAT

Gujarat University, Ahmedabad

1. Study of Hemachandra's Śabdānuśāsana
Mudrika Jani, Ph. D.

2. सत्तरमी सदीनुं गुजराती साहित्य
(Gujarati literature of 17th century)
V. J. Chokashi, Ph. D.

3. Literary circle of Mahāmātya Vāstupāla and its contribution to sanskrit literature.
B. J. Sandesara, Ph. D., published.

4. Development of Jaina Rāma story
V. M. Kulkarani, Ph. D.

5. Editing of Vilāsavaikahā
R. M. Shah, Ph. D.

6. The Sāṁkhya-yoga and the Jaina Theories of Pariṇāma
Indukala H. Jhaveri, Ph. D., 1953.

7. The Nāṭyadarpaṇa of Rāma-candra and Guṇacandra : A critical study
K. H. Trivedi, Ph. D., 1961.

8. Dharmakirti and Aklanka : A study of former by the later
Naginadas J. Shah, Ph. D., 1965, published.

9. The development of later Apabhraṃśa literature in Western India (Gujarati)
Vidhatri Avinash Vora, Ph. D., 1967.

10. The Jaina Gujarati poets of 17th and 18th Century
H. G. Shukla, Ph. D., 1969.

11. A study of Jaina 'rāsa' literature till 15th Century A. D.
Sanatkumar Chunnilal Rangatia, Ph. D., 1970.

12. A critical study of Sanskrit Rūpaka Kathās and contribution of Mahopadhyaya Yasovijay Gani
P. G. Patel, Ph. D., 1979.

13. Critical study of early Jaina Theory of knowledge as found in Com. on Nandi by Malayagiri
Harnarayana Pandya, Ph. D. 1979.

14. वादीभसिंह सूरि की गद्यचिन्तामणि का आलोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Gadyacintāmaṇi of Vadibha Singh Sūri)
J. S. Patel, Ph. D., 1980, unpublished.

15. A study of Tattvārtha-Sūtra with Bhāṣya
Suzuku Ohira, Ph. D.

Registered

1. The critical study of Jayavantasūri's Śṛṅgāramañjarī
Kanu Bhai Seth.

2. Society as depicted in the Pali Jatakas and Prakrit Agamas
Sudhaben Rakhe.

3. The Anuogadvārasūtra : A study
Kanji Bhai Patel.

4. A Subtle Body in Indian Tradition
Sumati Ben Trivedi.

5. Rishabhacarita by Vinayacandra
Virendra Dev Dixit.

6. Pārśvacarita by Padmsundara
Ksama Ben Munshi.

7. Critical study of early Jaina theory of knowledge as found in com. on Nandi by Malaygiri
Harnarayan Pandya.

8. The Research work on the Telugu and Jaina Ramayana
Malaya Vasini Ben.

Baroda University

1. Philosophy of Śrimad Rājacandra
Shantilal Maganlal Shah, Ph. D., 1966, unpublished.

RAJASTHAN

Rajasthan University, Jaipur

1. Jainism in Rajasthan
K. C. Jain, Ph. D., 1956, published.

2. Terāpanthī Sect of Jainas belonging to Śvetāmbnra School
I. C. Sharma, Ph. D., 1959, unpublished.

3. प्राकृत पैंगलम्
(Prakrit Pengalam : A Text on Prakrit and Apabhraṃśa metres)
Bhola Shankar Vyas, D. Litt, 1959, published.

4. १३ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक के जैन संस्कृत महाकाव्य
(Jaina Sanskrit Mahākāvyas of 13th to 14th Century)
Shyam Shankar Dixit, Ph. D., 1963, unpublished.

5. Ethical doctrine in Jainism
K. C. Sogani, Ph. D., 1961, published.

6. Ancient Cities in Rajasthan
K. C. Jain, D. Litt., 1964, published.

7. राजस्थानी बेली साहित्य
(Rājasthānī Belī Literature)
Narendra Bhanavat, Ph. D., 1965, published.

8. Jaina Grantha Bhandāras in Rajasthan
K. C Kashliwala, Ph. D., 1969, published.

9. जैन कवियों के ब्रजभाषा प्रबन्ध-काव्यों का अध्ययन
(A study of Brajabhāṣā Prabandha Kāvyas of Jaina Poets)
Lal Chandra Jain, Ph. D., 1969, unpublished.

10. महाकवि जिनहर्ष : एक अनुशीलन
(Mahākavi Jinaharṣa : A study)
I. C. Sharma, Ph. D. 1969, unpublished.

11. सधारू कृत प्रद्युम्नचरित के विशेष सन्दर्भ में प्रद्युम्नचरित काव्य का तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक अध्ययन
(A comparative and critical study of Prayumna-Carita with special reference to Pradyumna-carita of Sadhāru)
Madan Gopal Sharma, Ph. D. 1969, unpublished.

12. राजस्थानी गद्य शैली का विकास
(Development of Rajasthani Prose Style)
Ram Kumar Garva, Ph. D. 1970, unpublished.

13. तेरापंथी जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय का राजस्थानी और हिन्दी साहित्य
(Rajasthani and Hindi literature of Terapanthi Jaina Svetambara Sect)
B. N. Purohit, Ph. D. 1970, unpublished.

14. महाकवि समयसुन्दर और उनकी राजस्थानी रचनाएँ
(Mahakavi Samaya Sundara and his Rajasthani works)
S. A. Swami, Ph. D. 1971, unpublished.

15. जैन संस्कृत महाकाव्य
(Jaina Sanskrit Mahākāvyas)
Satyavrat, Ph. D., 1972, unpublished.

16. जैन रामकथा परम्परा
(Jaina tradition of the story of Rama)
Sitaram Sharma, Ph. D., 1976, unpublished.

17. जैन हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Jaina Harivaṁśapurāṇa)
Prem chand Jain, Ph. D., 1977, unpublished.

18. तीर्थङ्कर आदिनाथ और उनका मानवीय संस्कृति के उन्नयन में योगदान
(Tīrthaṅkara Ādinātha and His contribution to the development of human culture)
Kokila Jain, Ph. D. 1981, unpublished.

19. आदिकालीन हिन्दी रास साहित्य : एक अध्ययन
(Hindi Rāsa literature of Ādikāla : A study)
M. L. Gangawat

20. हिन्दी के मध्ययुगीन जैन प्रेमाख्यानक काव्य
(Medieval Jaina Premākhyānaka kāvyas of Hindi)
Kum. Snehlata Baj

21. राजस्थानी फाग साहित्य और उसका सांस्कृतिक महत्त्व
(Rajsthani Fāga literature and its cultural study)
Smt. Ramesh Kumari Parik

22. ब्रह्म जिनदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
(Brahma Jindas : Life and works)
Premchand Ranvaka

23. कुशललाभ और उनका साहित्य
(Kushal Labha and his literature)
M. M. Svarup Mathur

24. कुशललाभकृत कथा साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन
(Lokatāttvika study of the Kathā literature of Kushalalabha)
Smt. Rukmani Vaishya

B. I. T. S. University, Pilani

1. विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का राजस्थानी जैन साहित्य
(Rajasthani Jaina literature of 18th Century V. S.)
Basantlal Sharma. Ph. D. 1968, unpublished.

University of Jodhpur

1. धनपालकृत तिलकमञ्जरी का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Tilakamañjari of Dhanapāla)
Pushpa Gupta, Ph. D. 1978, unpublished.

2. The concept of substance in Jaina Thought
Vijaylaxmi, Ph. D., 1979, unpublished.

3. जैनदर्शन में स्याद्वाद : एक समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Syādvāda in Jaina Philosophy)
Kanchan Lodha, Ph. D., 1979, unpublished.

Mohanlal Sukhadia University, Udaipur

1. Economic ideas in Jainism
Shyamlal Mandawat, Ph. D. 1972, unpublished.

2. कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन
(A cultural study of Kuvalayamālā)
Prem Suman Jain, Ph. D., 1973, published.

3. Jain Mysticism
Shanti Jain, Ph. D., unpublished.

4. भट्टारक सकलकीर्ति : एक अध्ययन
(Bhattaraka Sakalakirti : a study)
Bihari Lal Jain, Ph. D., unpublished.

5. रयणचूडरायचरियं का आलोचनात्मक सम्पादन एवं अध्ययन
(A critical edition and study of Rayaṇacūdārāyacariyaṁ)
Hukam Chand Jain, Ph. D., 1983, unpublished.

HARAYANA

University of Kurukshetra

1. गाथा सप्तशती तथा रीतिकालीन श्रृंगारिक सतसई काव्य का तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of Gāthā Saptaśati and amorous Śataśai literature of Rītī age)
Pushp Lata, Ph. D., 1969, unpublished.

2. कालिदास के नाटकों की प्राकृत भाषा का अध्ययन
(The study of Prākrit language in the dramas of Kālidāsa)
Santosh Kumari, Ph. D., 1970, unpublished.

3. Origin and development of Jaina Sects and Schools
Muni Uttam Kamal, Ph. D. 1972, published.

4. पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि का समालोचनात्मक अध्ययन
(A critical study of Sarvārthasiddhi of Pūjyapāda)
Sanmat Kumar Jain, Ph. D., 1981, unpublished.

5. A critical study of Tilaka Mañjarī of Dhanapala
S. K. Sharma, Ph. D., unpublished.

6. A critical study of Candraprabhacarita of Viranandi
Laxmi Narain, Ph. D., 1982, unpublished.

Registered

1. A critical and Comparative study of Jaina Kumarasambhava
Surendra Sharma.

2. पद्मपुराण कालीन समाज
Lallu Prasad

Maharshi Dayanand University, Rohatak

1. पउमचरिउ और उसका उत्तरकालीन हिन्दी चरित काव्य पर प्रभाव
(A study of Paumacariu and its impact on later Hindi Carita-Kāvyas)
Ram Nivas Gupta, Ph. D. 1979, unpublished.

PUNJAB

Punjab University

1. हिन्दी रामकथा साहित्य के मुख्य पात्रों का संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश रामकथा साहित्य के पात्रों के साथ तुलनात्मक अध्ययन
(A comparative study of main personage of Hindi Rāmakathā literature with that of Sanskrit, Prākrit and Apabhraṃśa Rāmkathā literature,
Madanlal, Ph. D., 1975, unpublished.

2. पंजाब के हिन्दी जैन काव्यों का सर्वाङ्गीण अध्ययन और मूल्यांकन
Mulakh Raj, Ph. D., 1981, unpublished.

Punjabi University, Patiala

1. The Doctrine of Liberation in Indian Religions with special reference to Jainism
Muni Shiv Kumar Jain, Ph. D., 1978, unpublished.

BENGAL

Calcutta University

1. A study of Karpuramañjari
Manmohan Ghosh, Ph. D., 1938, published.

2. Reals in the Jaina Metaphysics
Harisatya Bhattacharya, Ph. D., 1947, published.

3. Some fundamental problems of Jaina Philosophy
Nathmal Tatia, D. Litt., 1951, published.

4. The Eastern School of Prakrit grammarians
Satyaranjon, Banerjee, Ph. D., 1964, unpublished.

5. The Jaina Theory of Perception
Puspa Bothra, Ph. D., 1970, published.

6. Introduction and development of Jainism in South India
K. Mishra, Ph. D., 1973, unpublished.

Jadavpur University

1. History of Apabhraṃśa language and literatere
Murari Mohan Sengupta, Ph. D., 1968, unpublished.

KARNATAK

Karnata University, Dharwad

1. Jainism in South India and some Jaina epigraphs
P. B. Desai, D. Litt. 1954, published.
2. Some prablems of Jaina Psychology
Javanu Gunduppa Kalghatgi, Ph. D., 1959, published.
3. Sravanavelagola and its monuments
S. Settar, Ph. D., unpublished.
4. Aihole , Its History and monuments
S. Rajashekhar, Ph. D., unpublished.
5. Kannada Literature in the neighbourhood of Kavirajamarga
M. M Kalburgi, Ph. D., 1970, unpublished.
6. Jaina Ramayan of Abhinava Pampa
Sangamanath, Ph. D., unpublished.
7 Nagachandra and his works
S. C. Handi, Ph. D., unpublished.
8. Nayasena and His works
S. S. Bonad, Ph. D., unpublished.
9. Ponna and His Santipurana
Miss Uma Devi, Ph. D., unpublished.
10. The nature of self in Jaina Philosophy : A comparative study
N. Vasupal, Ph. D. 1981, unpublished.

KERALA

Kerala University

1. Prakrit loan words in Malayalam
P. M. Joseph, Ph. D., 1981, unpublished.

Calicut University

1. A critical study of Nakkirar and his works
M. P. R. M. Ramaswamy, Ph. D., 1982, unpublished.

ṬAMILNAḌU, ANDHRA

University of Annamalai

1. Buddhism as expounded in Maṇimekhalai
   S. N. Khandaswami, Ph. D., 1971.
2. Epic tradition in Śilappatikāram and Maṇimekhalai
   K. Lakshmanaswami, Ph. D., 1976.
3. Prosody in Śilappatikāram
   N. V Jayaraman, Ph. D., 1976.

University of Madras

1. The Language of Sangam Literature and Tolakkāppiyam
   T. Natarajan, Ph. D., 1976.
2. Evolution and evaluation of Epic Literature in Tamil with special reference to Śilappatikāram
   R. Kasirajan, Ph. D, 1977, unpublished.
3. A critical study of the differences in the commentaries of Tolakkāppiyam with special reference to Akatthinai Iyal and Puratthinai Iyal
   K. P. Arunachalam, Ph. D. 1977, unpublished.
4. Tiruvalluvar and Humanism
   G. Ramchandran, Ph. D. 1978, unpublished.
5. Tolakkāppiyam Tirukkuralum or Oppayvu : A comparative study of Tolakkāppiyam and Tirukkural literary criticism
   T. Manian, Ph. D, 1980, unpublished.
6. Imagination in the three great epics—Śilappu, Maṇimekhalai and Cintamaṇi
   T. K. Tharani, Ph. D. 1980.
7. Tamil Culture as revealed in Tirukuural
   E. S. Mathuswami, Ph. D. 1981.

8. A study of warfare up to the period of Śilappatikāram
T. Kandaswamy, Ph. D. 1981.

9. Subandhu's Vasavdatta and Nemicandra's Śilavati : a comparative study
K. Mahalinga Bhatta. Ph. D., 1982, unpublished.

Kamraj University, Madurai

1. Critical studies in Tevaram of Appar
A. M. Parimanam, Ph. D., 1974.

2. Cultural and Social history as revealed in Śilappatikāram
P. Alagukrishnan, Ph. D. 1977.

3. The Grammer of Tolakkāppiyam and the language Pathinenkilk-kankku : A comparative study
A. Athithan, Ph. D., 1979. unpublished.

Osmania University, Hyedarabad

1. Every day life in Ancient India as depicted in Prakrit literature
K. Kamala, Ph. D., 1978.

ORISSA

Utkal University, Bhuvanesvara

1. A critical edition of Markandey's Prakrit Sarvasva
Krishna Chandra Acharya, Ph. D., 1968. unpublished,

JAINOLOGICAL RESEARCHES ABROAD

1. The traditional chronology of the Jaina and an outline of the political development of India from Ajatasatru to Kaniska

   Shantilal Shah, (Teildr.) Wurzburg 1934. 55 S–Vollst. als : Bonner Orientalist. Studien, 9.–Bonn, Phil, Diss. 1934.

2. The Jñātā Stories in the 6th Aṅga of the canons of the Jaina

   Huttemann, Wilhelm Fredinand, Strasburg 1907. 51 S.—Auch im Buchh.

3. Malli-Jñātā : the 8th Section of the 6th Aṅga Nāyādhammakahāo of the Svetambara-Jaina Canon

   Roth, Gustav, (Mschr.) 1952. Getr. Pag. Munchen, Phil Diss. 1952.

4. Specimen of the Nāyādhammakahāo

   Steinthal, P, Berlin 1881, 84 S. Leipzig, Phil. Diss. 1882.

5. A Critical Introduction to the Panhvāgaraṇaṃ, the tenth Aṅga of the Jaina Canon

   Sen, Amulyachandra, Wurzburg 1936. 67 S.—Hamburg, Phil. Diss. 1935 (1937).

6. The Aupapātika Sūtra : The first Upāṅga of Jaina with Introduction, text and glossary

   Leumann, Ernest, Leipzig 1812.—Leipzig. Phil. Diss. 1882.

7. Upon the last fasting in the old Painna in the Jaina Canon
   Kamptz, Kurt Von.

8. The Sūryaprajñapti and history of the text of Jambūdvīpaprajñapti by specimen

   Kohl, Josef Friedich, Bonn 1937. XLII, 18 S.—Vollst. als : Bonner Orientalist Studien. 20.—Bonn, 1937. Phil. Diss. 1937.

9. The Kalpasūtra : The old Jaina ascetic text, translation, glossary etc.

   Schubring, Walther, Leipzig 1905. 71 S.—Indica, 2-Strasburg, Phil. Diss. 1904.

10. Giyatthavihāra—6th section of the Mahānisihasutta, text, translation, glossary, etc.

Hamm, Frank Richard, (Mschr.) 1946. 80 Bl.—Hamburg, Phil. Diss. 194?.

11. The Jaina version of the Sagara story

Fick, Richard, Kiel 1888. XXIII, 29, I. S., I Bl. Kiel, Phil. Diss. 188.

12. Harivaṃśapurāṇa : A portion of the the Mahāpurāṇa of Puspadanta and Introduction of the study of Apabhraṁśa text, etc.

Alsdorf, Ludwing, Hamburg 1936. XII, 515 S.—Alt. u. neuindische Studien. 5. —Berlin, Phil Diss. Hab. Schr. 1935.

13. Silanka's Caupannamahapurisacariya : An Introduction to our knowledge of the Jaina Universal History.

Bruhn, Klaus, Hamburg 1954. IX. 153 S. —Alt. u. neuindische Studien. 8. —Hamburg, Phil. Diss. 1955.

14. The Kumarapalapratibodha : An Introduction to our knowledge, Apabhraṃśa and the story literature of the Jainas

Alsdorf, Ludwing, Hamburg 1928. XII, 227 S. Alt. u. neuindische 2. —Hamburg, Phil Diss. 1928 (1930).

15. Upamitibhavaprapañca : A specimen

Jacobi, Hermann (Georg), Bonn 1891. 24 S.—In : Programm zur Grundungsfeir d. Univ. Bonn 1891.

16. The Dharmaparīkṣa : A study in the literature and history of religions Mirnow, Nicolaus Leipzig 1903. 56 S. Strasburg, Phil. Diss. 1903.

17. Digambara Text, their Language, etc.

Denecke, Walter, (Mschr.) 1923. 95 S—Auszug : Mschr. 4 Bl.—Hamburg. Phil Diss. 1923. (1925).

18. On the Vajjālaggaṃ

Laber, Julius, (the Prakrit Anthology). Leipzig 1913. 45 S.—Bonn, Phil. Diss. 1913.

19. The Grammar of Śākatāyana. Adhyaya 1 pada 1 with Yaksavarman's Commentary (Chintāmani)

Sukthankar, Vishnu Sitaram, Leipzig 1921, 90 S.—Berlin, Phil. Diss. 1921.

20. Prolegomena to Trivikarama's Prakrit Grammar

Laddu, Tukaram, Halle a. S. –Halle, Phil, Diss, 1912.

21. Hemacandra's Liṅgānuśāsana with the commentary

Franke, R. Otto, Gottingen 1886. XVII. 23, 74 S., 1 Bl.—Gottingen, Phil. Diss. 1886.

22. Upon the Stand of Indian Philosophy of Mahavira and Buddha

Schrader, Friendrien Otto, Leipzig 1902. X, 68 S. —Strasburg, Phil. Diss. 1902.

23. The Doctrine of Karma according to Karma-granthas
Glasenapp, Helmuth Von, Leipzig 1915. 115. S.—Bonn. Phil. Diss. 1915.

(The above information is based on—Verzeichnis—indienkundlicher Hochschschulschriften. Deustschland—Osterreich—Schweiz von Klaus Ludwig Jenert, 1961, Otto Harrassowitz. Wiesbaden)

1. Studien zum Mahānisīha, Kapitel 1-5
(Together with Jozef Deleu). Alt—und Neuindische Stuien Vol. 10, Hamburg 1963.

2. Drei Chedasūtras des Jaina-Kanons : Ayaradasao, Vavahara, Nisiha, Mit einem Beitrag von Collette Caillat. 11, Hamburg 1966.
Prof. Schubring

As a kind of supplement to No. 1 may be regarded Schubring's contribution to the Melanges d' Indianisme a la memoire de Louis Renou (Paris 1968) : Zwei Reyen Mahaviras (Translation from the Mahānisīha).

Dr. L. Alsdorf delivered in 1964, Lectures on Jaina Studies : present conditions and future task, at the College de France in Paris. They have been published in French : "Les studien Jaina, etat 'present' et taches futures, Paris 1965.

He also published a number of articles dealing with the Uttaradhyayana.

His article "Itthiparinnā" A chapter of Jaina monastic poetry, edited as a contribution to Indian prosody, appeared in 1958 in vol. II of the Indo-Iranian Journal. It has been translated into Gujarati by Dr. A. N. Jani and was published in the Golden Jubilee Vol. by Shri Mahavir Jaina Vidyalaya, Bombay.

Dr. (Mrs.) A. Merle prepared a critical translation and study of the Pinda section of the Oghanijjutti.

Two students prepared their Doctorate theses. One dealing with the Pinda chapter of the Mūlācāra as compared with the correspanding Svetambar texts : the other with another Digambar text, the Bhagvati Mūlārādhanā.

This will give an idea of the work done in Hamburg.

Oxford

Jaina theory of Reality and Knowledge
Y. J. Padmarajiah, Ph. D., 1955,

[The enteries in the above bibliography are subjeet to corrections and additions.]

SAṄKĀYA PATRIKĀ ŚRAMAṆA-VIDYĀ [Vol. 1]

BOARD OF EDITORS AND CONTRIBUTORS

Dr. KOMAL CHANDRA JAIN

Lecturer in the Department of Pali and Buddhist Studies,
Banaras Hindu University, Varanasi-221005 India.

Prof. DEVA PRASAD GUHA

Previously associated with the University of Rangoon, Burma, University of Delhi and Superanuated from Banaras Hindu University.

Present addresses

234, Fern Road, Calcutta—700019 India

c/o Dr. A. Das Gupta

S-17/3314 Maldahya, Varanasi—221002 India.

SAMPURNANANDA SANSKRIT UNIVERSITY

PUBLICATIONS ON ŚRAMAṆA-VIDYĀ

1. ABHIDHAMMATTHASAṂGAHO अभिधम्मत्थसंगहो

of Aniruddhācārya. Edited with Hindi translation by Bhadant Revata Dhamma and Rāmaśaṅkara Tripāthī. Pāli Granthamālā Vol. I. Royal size, First edition 1967.

Part I pp. 526 — Price Rs. 15.00

Part II pp. 700 — Price Rs. 20.00

2. VISUDDHIMAGGO विसुद्धिमग्गो

of Buddhaghoṣācārya. Edited by Bhadanta Revata Dhamma and Rāmaśaṅkara Tripāthi. Pāli Granthamālā Vol. 3. First edition 1969. Royal size,

Part I pp. 644 : Price Rs. 36.00

Part II pp. 548 — Price Rs. 32.00

Part III pp. 519 — Price Rs. 27.00

3. PĀLITIPIṬAKASADDĀNUKKAMAṆIKĀ पालितिपिटकसद्दानुक्कमणिका

Word Index of Pali Tripilaka. Prepared and edited by the Department of Pali and Theravada. An Encyclopedic work and guide to the study of Pali Tripitaka. Pāli Granthamālā Vol. 4. Royal Size pp. 952, First edition 1978. Price Rs. 100.00

4. BAUDDHADARŚANABINDUḤ बौद्धदर्शनबिन्दुः

by Dr. Sātakadi Mukhopādhyāya. A collection of three lectures on Buddhist Philosophy, delivered by the learned scholar at the 3rd convocation of the University. Ganganātha Pravacanamālā, Vol. 2, Royal Size, pp. 54. Price Re. 1.00

5. VIṂŚATIKĀVIÑAPTIMĀTRATĀSIDDHI विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

of Ācārya Vasubandhu. A Sanskrit Text dealing with the Buddhist Philosophy. Edited by T. Śāstri and Śri Rāmaśaṅkara Tripāthi. Gangānātha Jhā Granthamālā Vol. V, First edition 1972. Royal Size pp. 655. Price Rs. 25.25

6. PRĀKṚTAPRAKĀŚAḤ प्राकृतप्रकाशः

of Vararuci. A Sanskrit text on Prākṛta Grammer with four important Sanskrit commentaries viz. Sañjīvani, Subodhini, Manorama and Prākṛta Mañjarī. Edited by Pt. Baldeo Upadhyaya. Sarasvati Bhavana Granthmālā Vol. 102. Royal size pp. 429, First edition, 1972.

Price Rs. 37.75

7. PARAMĀGAMASĀRO परमागमसारो

of Śrutamuni. An ancient Prākṛta Text dealing with Jaina Philosophical concepts, Edited for the first time by Dr. Gokul Chandra Jain, Prākṛta Jaina-vidyā Granthamālā Vol. 1, First Edition 1981.

Price Rs. 4.50

8. TACCAVIYĀRO तच्चवियारो

of Vasunandi. An ancient Prākṛta Text dealing with Religio-Philosophical concepts of Jaina Agamic Tradition. Edited for the first time by Dr. Gokul Chandra Jain, Published in Saṃkāya Patrikā—1 and also Prākṛta Jaina-vidyā Granthamālā Vol. 2, First edition 1983.

Price Rs. 8.00

Publications under print

1. AṬṬHASĀLINĪ, DHAMMASAṂGAṆI-AṬṬHAKATHĀ

of Ācārya Buddhaghoṣa with *Atthayojanā* of Ācarya Bhadanta Ñāṇakritī Thera

अट्ठसालिनी, धम्मसगणी-अट्ठकथा आचार्यबुद्धघोषकृता,
आचरियभदन्त ञाणकित्ति थेर-कृता अत्थयोजनासहिता

Pali Texts dealing with Buddhist Abhidamma Philosophy. Edited by Pt. Śrī Rāmasaṅkara Tripāthī.

2. ABHIDHAMMAMŪLATĪKĀ

of Ācārya Bhadanta Ānanda *Sthavira with Anuṭīkā* of Bhadanta Dhamma Pāla Thera.

अभिधम्ममूलटीका आचार्य भदन्त आनन्द स्थविरविरचिता, भदन्तधम्मपालथेरकृता 'अनुटीका' सहिता ।

Pāli Text with commentries, dealing with Buddhist Abhidhamma Philosophy. Edited by Pt. Śrī Rāmasaṅkara Tripāthī.

3. JĀTAKTṬHAKATHĀ जातकट्ठकथा

of Ācārya Buddhaghoṣa Pāli. Text on Jātaka literature. Edited by Pt. Śrī Lakṣmīnārāyana Tivārī.

MAṆISĀRAMAÑJŪSĀ मणिसारमञ्जूसा

Vibhāvanitīkā of Abhidhammattha Saṃgaho Pāli Text dealing with Buddhist Abhidhamma Philosophy. Edited by Pt. Śrī Lakṣmīnārāyaṇa Tivārī, to be published in two parts.

4. BUDDHASTOTRASAṂGRAHA बुद्धस्तोत्रसंग्रह

A collection of Stotras in-prayers to Tathāgata Buddha. Edited by Dr. Brahmadeonārāyaṇa Śarmā, to be published in two parts.

5. KARUṆĀPUṆḌARĪKAM करुणापुण्डरीकम्

A Mahāyāna Buddhist Text, edited by Pt. Śrī Rādheśyāmadhara Dvivedī.

Available at

Sales Department

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA

VARANASI–221002 (INDIA)

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA

A NEW PUBLICATION SERIES

PARISAṂVĀDA

Parisaṃvāda forms a series of Research Journals published with the particular aim for bringing to light the important research papers presented and delibrations made in Seminars, Symposia, Conferences etc. organised at the University and attended by eminent scholars and experts of different branches of ancient learning for exploring and analysing the main theme in relevance to recent researches in Humanities and Social Sciences. The contributions include—Sanskrit, Pali, Prakrit, Hindi and English papers. The Journal is edited by the Director of the Seminar or one of the Faculty members under a Board of Editors.

Vol. 1 बौद्ध एवं अन्य भारतीय योग-साधना

Bauddha evaṃ anya Bhāratīya Yoga-Sādhanā,

The volume consists of research papers read at a U. G. C. Seminar. They deal with the *Yoga* traditions of India in general and Buddhist *Yoga* in particular. Beginning from the *Sādhanā* of Gautama the Buddha, the papers cover a wide area of *Mahāyāna*, *Vajrayāna* and other schools of Buddhist *Yoga* developed in India and abroad, and also various *Yoga* systems of Indian traditions including Psychology and Physical Sciences. Edited by Ramshankar Tripathi, First edition 1981, Royal size pp. 376. Price Rs. 32.00

Vol. 2-3 भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन सम्भावनाए

Bhāratīya Cintana kī Paramparā meṃ Navīna saṃbhāvanāen.

Parisaṃvāda 2 and 3 entitled as above are devided into two parts. Part I consists of research papers presented at a U. G. C. Seminar on 'Individual, Society and their relations' and also papers of a local Seminar on 'Social equality in Indian Thoughts'.

Part II consists of papers presented at and delibrations of three local Seminars viz. 1) Philosophy of Gandhi, 2) New divisions of Indian Philosophies, and 3) Possibilities of new Philosophies in Indian Thoughts. Edited by Radheshyamdhar Dvivedi.

Part I, First edition 1981, pp. 360. Price Rs. 23.00

Part II, First edition 1983, pp. 339. Price Rs. 46.00

Available at

SALES DEPARTMENT

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA

VARANASI 221002